स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

B.Com-12
व्यावसायिक पर्यावरण

प्रथम खण्ड : व्यावसायिक पर्यावरण का परिचय

द्वितीय खण्ड : व्यवसाय और सरकार

तृतीय खण्ड : आर्थिक नीति और ढांचा

चतुर्थ खण्ड : वाह्य क्षेत्र और आर्थिक सुधार

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

B.COM.-12
व्यावसायिक पर्यावरण

खंड
1

व्यावसायिक पर्यावरण का परिचय

इकाई 1

व्यावसायिक पर्यावरण के स्वरूप और आयाम 5

इकाई 2

आर्थिक पर्यावरण - विहंगावलोकन 18

इकाई 3

सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण 33

खंड 1 व्यावसायिक पर्यावरण का परिचय

एक व्यावसायिक उद्यम को सफ़लतापूर्वक चलाने के लिए आर्थिक तथा सामाजिक पर्यावरण को भली-भाँति समझना अत्यन्त ही आवश्यक है। कोई भी व्यावसायिक उद्यम चाहे वह बड़ा है या छोटा, सार्वजनिक है या निजि उस पर्यावरण से प्रभावित होता है जिसके अन्तर्गत वह कार्य करता है। इस खंड का उद्देश्य व्यवसाय के पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं से आपको अवगत कराना है। इस खंड में तीन इकाईयाँ हैं।

इकाई 1, व्यावसायिक पर्यावरण के स्वरूप और आयाम व्यावसायिक पर्यावरण के स्वरूप और अर्थ का वर्णन करती है। इसके बाद यह व्यवसाय के प्रबंध के सम्बन्ध में व्यावसायिक पर्यावरण के महत्व की व्याख्या करती है। व्यावसायिक पर्यावरण के मुख्य घटकों को संक्षिप्त रूप में संचालन के आपसी संबंध की भी व्याख्या की गई है।

इकाई 2, आर्थिक पर्यावरण – विहंगावलोकन, भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषताओं को प्रस्तुत करता है। यह भारत में आर्थिक आयोजन के ढांचे की रूपरेखा को प्रस्तुत करता है। विभिन्न योजनाओं में अपनाई गई विकास की युक्तियों का परीक्षण किया गया है तथा समकालिन आर्थिक सुधार जो आर्थिक नीति हुए परिवर्तनों को उजागर किया गया है।

इकाई 3, सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण से सम्बंधित है। यह जिन सामाजिक संस्थाओं का विकास हो रहा है उनके स्वरूप की व्याख्या करती है। उन सांस्कृतिक कारकों की पहचान की गई है जिनका सामाजिक पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता है। यह समाज पर प्रौद्योगिक परिवर्तन के प्रभाव का वर्णन भी करती है और बदलते मूल्यों के कारणों और प्रभावों की व्याख्या करती है। व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्वों की चर्चा भी की गई है।

इकाई 1 व्यावसायिक पर्यावरण के स्वरूप और आयाम (Nature and Dimensions of Business Environment)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 व्यावसायिक पर्यावरण का अर्थ और महत्व
1.3 व्यावसायिक पर्यावरण के घटक
  1.3.1 व्यवसाय का आर्थिक पर्यावरण
  1.3.2 व्यवसाय का अर्थिकेतर पर्यावरण
  1.3.3 अर्थिक और अर्थिकेतरण पर्यावरण के बीच पारस्परिक प्रभाव
1.4 विभिन्न स्तरों पर व्यावसायिक पर्यावरण
  1.4.1 क्षेत्रीय स्तर
  1.4.2 राष्ट्रीय स्तर
  1.4.3 अंतर्राष्ट्रीय स्तर
1.5 व्यवसाय और पर्यावरण के बीच की स्थिति
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 स्वपरख प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- व्यावसायिक पर्यावरण के स्वरूप और अर्थ का वर्णन कर सकें
- व्यवसाय के प्रबंध के क्षेत्र में व्यावसायिक पर्यावरण के महत्व को स्पष्ट कर सकें
- व्यावसायिक पर्यावरण के आर्थिक, राजनीतिक और विविध जैसे विभिन्न घटकों के संबंध में ज्ञान प्राप्त कर सकें
- विभिन्न भौगोलिक स्तरों पर व्यावसायिक पर्यावरण के अर्थ और प्रभाव का विश्लेषण कर सकें
- यह बता सकें कि व्यवसाय का प्रबंधकीय आयाम पर्यावरण से किस प्रकार प्रभावित होता है।

1.1 प्रस्तावना

ऐसा कोई भी कार्य जिसका उद्देश्य लाभ कमाना होता है, व्यवसाय कहा जाता है। ऐसे कार्यों को आर्थिक कार्यकलाप कहा जाता है। ये कार्य उपभोग, उत्पादन, वितरण और विनिमय के रूप में हो सकते हैं। व्यवसाय का मुख्य कार्य आर्थिक क्रियाओं के परिणामों को अधिकतम करना होता है। समाष्टि स्तर (macro level) पर यही अवधारणा होती है जब हम इसे व्यष्टि दृष्टिकोण (macro view point) से देखते हैं कि व्यावसायिक फर्म एक आर्थिक इकाई होती है। इसका मुख्य उद्देश्य आगतों (inputs) में एक समूह को निर्गतों (outputs) में बदलना होता है जिसमें अंतर्गत वस्तुएं एवं सेवाएं दोनों ही आ जाती हैं। व्यवसाय कार्य में लगी हुई किसी फर्म का उद्देश्य भी वही होता है अर्थात् लाभ कमाना। अत: संसाधनों के आबंटन के संबंध में किसी फर्म को बड़ी सावधानी से योजना बनानी होती है जिससे वह अधिकतम फल की प्राप्ति कर सके। इस प्रकार व्यावसायिक कार्यकलाप के अंतर्गत समस्त उत्पादन कार्य, संसाधनों को जुटाना तथा अतिरेक का उपयोग करना आ जाता है।

इन आर्थिक कार्यकलापों को करने के दौरान अनेक प्रकार के निर्णय भी लेने होते हैं। इस निर्णय की प्रक्रिया के अंतर्गत आता है विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम का चयन करना। चयन विभिन्न चरों के

द्वारा किया जाता है। कुछ चरों पर नियंत्रण किया जा सकता है और कुछ चरों पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। नियंत्रणीय चर वे हैं जो व्यक्तिगत व्यावसायिक फर्मों के नियंत्रण में होते हैं। अनियंत्रणीय चर वे हैं जो व्यावसायिक फर्मों के नियंत्रण के बाहर होते हैं। ऐसे अनियंत्रणीय कारकों को पर्यायवरणी कारक (environmental factor) कहा जाता है क्योंकि ये पर्यावरण के अंग होते हैं। पर्यावरण आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और विधिक हो सकता है। इनका प्रत्येक घटक देशीय या अंतर्राष्ट्रीय हो सकता है। इस प्रकार व्यावसायिक नीति एवं व्यावसायिक युक्ति तथा उनका कार्यान्वयन भी पर्यावरणी चरों (environmental variables) पर निर्भर करते हैं।

1.2 व्यावसायिक पर्यावरण का अर्थ और महत्व (Meaning and Significance of Business Environment)

व्यावसायिक पर्यावरण ऐसा समष्टि-आर्थिक संदर्भ (macro-economic context) प्रदान करता है जिसके अंतगर्त वह व्यवसाय कार्य करता है जो व्यष्टि आर्थिक इकाई होता है। पर्यावरण शब्द से आशय बाह्य कारकों और शक्तियों के समूह से होता है जो फर्म के नियंत्रण के बाहर होते हैं। कोई फर्म व्यक्तिगत रूप से बाह्य पर्यावरण को प्रभावित नहीं कर सकती। अत: इसे अपने आंतरिक कार्यकलापों को इस प्रकार समायोजित करना होता है कि वे बाह्य पर्यावरण के अनुरूप हो सकें। क्योंकि ऐसे समायोजन में अत्यंत लचीलेपन की आवश्यकता होती है अत: व्यावसायिक फर्म को ग्रहणशील (adoptable) होने के साथ ही साथ अनुकूलनशील (adaptable) भी होना होता है। ग्रहणशीलता से आशय यह होता है कि फर्म बाह्य घटनाओं के तत्वों को अपना सकें तथा अनुकूलनशीलता से आशय होता है कि वह बाह्य घटनाओं के अनुरूप अपने आंतरिक कारकों को बना सकें।

बाह्य कारकों (external variables) का वर्गीकरण करना कठिन है क्योंकि सभी चर एक दूसरे पर निर्भर होते हैं तथा वे एक दूसरे से अलग होते हैं। इन आर्थिक और आर्थिकेतर कारकों की प्रासंगिकता के आधार पर हम व्यवसाय के आर्थिक और आर्थिकेतर पर्यावरण का निर्धारण कर सकते हैं। आर्थिक चरों का स्वरूप आर्थिक होता है तथा उनका प्रत्यक्ष संबंध आय, वित्त नीति, राजकोषीय उपायों आदि विभिन्न आर्थिक विषयों के साथ होता है। आर्थिकेतर पर्यावरण का संबंध उन कारकों के साथ होता है जिनका स्वरूप तो आर्थिकेतर (non-economic) होता है परंतु वे व्यवसाय की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं। संस्कृति, परंपरा एवं इतिहास तथा राजनीतिक, समाजशास्त्रीय एवं अन्य आयाम आर्थिकेतर कारकों के उदाहरण हैं। क्योंकि आर्थिक और आर्थिकेतर कारकों का प्रभाव मिला-जुला होता है अत: कभी-कभी इन कारकों को एक साथ मिला दिया जाता है। उदाहरणार्थ जब अर्थव्यवस्था पर सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव तथा समाज पर आर्थिक कारकों के प्रभाव का विश्लेषण किया जाता है तब सामाजिक आर्थिक कारक कहा जाता है। उसी प्रकार जब हम राजनैतिक आर्थिक पर्यावरण की बात करते हैं तब हम राजनीतिक स्थिति तथा आर्थिक मुद्दे इन दोनों का ही परीक्षण करते हैं जिससे कि यह स्पष्ट किया जा सके कि राजनैतिक परिस्थितियां आर्थिक घटनाओं को किस प्रकार प्रभावित करती हैं तथा आर्थिक परिवर्तन राजनीतिक क्रांति कैसे लाते हैं। उदाहरणार्थ व्यवसाय का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना तथा उसे अधिकतम करना होता है। सामाजिक और आर्थिक क्रांति लाभ अधिकतमीकरण (profit maximisation) को सामाजिक पाप मानती है और जिन व्यवसायियों का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है उन्हें मुनाफाखोर (profiteer) कहा जाता है। लेकिन लाभ कमाना तो व्यवसाय का मुख्य अंग है। ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि व्यवसायी वर्ग सामाजिक कारकों की आवश्यकताओं पर भी ध्यान दें। अत: वह लाभ का अधिकतमीकरण न कह कर संतुष्टि कर इष्टतमीकरण (optimisation of satisfaction) कहता है। यहां इष्टतमीकरण से अभिप्राय किसी वस्तु का अधिकतमीकरण नहीं बल्कि दो पक्षों अर्थात् व्यवसाय और समाज के बीच संतुलन लाना होता है। व्यवसायी को लाभ कमाकर संतुष्टि प्राप्त करता है तथा व्यवसाय के विभिन्न कार्यकलापों द्वारा सामाजिक मापदंड की पूर्ति से समाज को संतुष्टि प्राप्त होती है। इन दोनों में संतुलन स्थापित होने से इष्टतम स्तर तक पहुंचा जाता है। इस प्रकार अपने कार्यकलापों की योजना बनाते समय व्यवसायी के लिए आवश्यक होता है वह सामाजिक पर्यावरण पर भी ध्यान दे तथा समाज के मापदंड के अंदर रहते हुए कार्य करे। व्यावसायिक पर्यावरण की प्रासंगिकता और उसके महत्व का यही अर्थ होता है।

व्यावसायिक पर्यावरण अत्यंत गत्यात्मक होता है और उसके अनेक आयाम होते हैं। इसका वर्गीकरण विभिन्न

कसौटियों के आधार पर किया जा सकता हैं। ये हैं: समय, स्थान, शक्तियां और कारक। समय के आधार पर हम भूत, वर्तमान और भविष्य पर्यावरण की बात करते हैं। स्थान के आधार पर व्यावसायिक पर्यावरण स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय होता है। उसी प्रकार शक्तियों के आधार पर पर्यावरण बाजार शक्तियों, राजनीतिक घटनाओं और सामाजिक उलट-फेर पर निर्भर करता है। इन शक्तियों के कारण वर्तमान या भविष्य पर्यावरण की पहचान करना, उनका वर्णन करना तथा उनकी व्याख्या करना कठिन हो जाता है। इनके संबंध में अनिश्चितता इतनी अधिक है कि पर्यायवरणी चरों के संबंध में पहले से सही रूप से बताना या उनके संबंध में अंदाजा लगाना अत्यंत कठिन होता है। लेकिन निकट भविष्य में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में व्यवसाय को और विशेषत: प्रबंधकों को जब तक पहले से अनुमान नहीं होता तब तक वे इन परिवर्तनों का सामना करने के योग्य अपने को नहीं बना सकते। इस प्रकार पूर्वानुमान के साथ अनिश्चितता का खतरा बना रहता है। इसीलिए पर्यावरणी कारकों का परीक्षण किया जाता है और मुख्य रूप से प्रमुख कारकों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। अंतत: 'कारकों' के आधार पर व्यवसाय के आर्थिक और आर्थिकेतर पर्यावरण का निर्धारण किया जा सकता है। आर्थिक और आर्थिकेतर चर एक दूसरे से अलग दिखाई नहीं पड़ते। आपस में उनका घनिष्ट संबंध होता है वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा उनकी पहचान करना अत्यन्त जटिल कार्य हो जाता है। इन कारणों से पर्यावरणी कारणों का सही रूप से पहचान करना व्यवसाय के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है।

बोध प्रश्न क

1) व्यावसायिक पर्यावरण क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) राजनीतिक-आर्थिक पर्यावरण की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

1.3 व्यावसायिक पर्यावरण के घटक (Components of Business Environment)

मोटे तौर पर व्यावसायिक पर्यावरण के दो भाग होते हैं : आंतरिक पर्यावरण और बाह्य पर्यावरण जब हम आंतरिक पर्यावरण की बात करते हैं तब हमारा अभिप्राय उन कारकों से होता है जो किसी फर्म के नियंत्रण में होते हैं तथा ऐसे कारकों का संबंध फर्म के संसाधनों, नीतियों और उद्देश्यों के साथ होता है। लेकिन जब हम व्यावसायिक पर्यावरण की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय: बाह्य पर्यावरण से होता है; अर्थात् वे चर जो फर्म से स्वतंत्र होते हैं अत: उन पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। बाह्य पर्यावरण के घटकों को निम्नलिखित प्रकार से दिखाया जा सकता है:

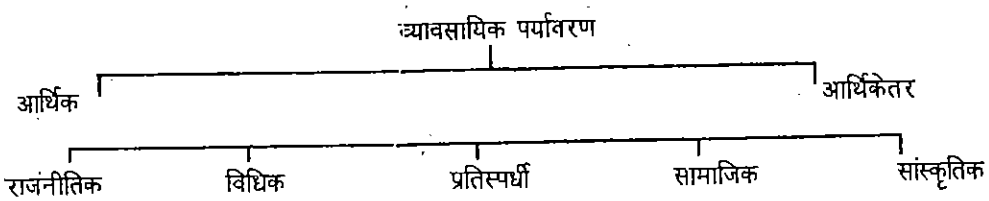

1.3.1 व्यवसाय का आर्थिक पर्यावरण (Economic Environment of Business)

आर्थिक पर्यावरण के तीन भाग होते हैं : 1) आर्थिक परिस्थितियां, 2) आर्थिक नीति, और 3) आर्थिक प्रणाली। आर्थिक परिस्थितियों से अभिप्राय होता है अर्थव्यवस्था का स्वरूप, आर्थिक संसाधन, आय का स्तर, आय और धन का वितरण तथा अर्थव्यवस्था के विकास की अवस्थाएं। कोई व्यावसायिक फर्म जिन युक्तियों को अपनाती है उनके साथ इन कारकों का प्रत्यक्ष संबंध होता है। अर्थव्यवस्था के स्वरूप के अंतर्गत आ जाती है निर्बाध बाजार अर्थव्यवस्था (free market economy) या पूंजीवादी अर्थव्यवस्था जिनमें अर्थव्यवस्था निजी क्षेत्र के हाथ में होती है। इसके विपरीत होती है केन्द्रीय आयोजित अर्थव्यवस्था (centrally planned economy) जिसे साम्यवादी अर्थव्यवस्था भी कहते हैं। ऐसी अवस्था में समस्त अर्थव्यवस्था राज्य के हाथ में होती है। इन दोनों के बीच मिश्रित अर्थव्यवस्था (mixed economy) होती है जिसमें निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही साथ-साथ कार्य करते हैं। लेकिन मिश्रित अर्थव्यवस्था कई प्रकार की होती है। इनमें से कुछ स्थितियों में निजी क्षेत्र का बड़ा हाथ होता है जबकि कुछ अन्य स्थितियों में सार्वजनिक क्षेत्र की प्रधानता होती है।

निर्बाध बाजार अर्थव्यवस्था में निजी उद्यमों को अधिकतम स्वतंत्रता होती है। ऐसी अर्थव्यवस्था में (i) उत्पादन के कारक (भूमि, श्रम और पूंजी) निजी उद्यम के स्वामित्व में होते हैं तथा उत्पादन के लिए पहल निजी व्यवसायी करते हैं, (ii) अर्थव्यवस्था का मार्गनिर्देशन लाभ को ध्यान में रखकर किया जाता है तथा आय की प्राप्ति खुले बाजार में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन तथा उनके विक्रय से किया जाता है, जिनके संबंध में समाज या सरकार की ओर से कोई प्रतिबंध या विनियमन नहीं होता, (iii) उत्पादन, उपभोग, बचत, निवेश तथा यहां तक कि पेशा के संबंध में भी चयन की पूर्ण स्वतंत्रता होती है, तथा (iv) सरकार द्वारा किसी प्रकार का हस्तक्षेप, विनियमन या नियंत्रण नहीं होता। परंतु वास्तविकता तो यह है कि इस प्रकार की अर्थव्यवस्था होती ही नहीं। यू० एस० ऐ० और ग्रेट ब्रिटेन जैसे तथाकथित मुक्त अर्थव्यवस्था वाले देशों में भी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं होती। यहां पर भी अर्थव्यवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए सरकारी विनियमन होते हैं।

अर्थव्यस्था के साम्यवादी रूप में उत्पादन और वितरण के सभी कारकों पर सरकार का स्वामित्व और नियंत्रण होता है। इसमें निजी उद्यम का स्थान नहीं के बराबर होता है। यहां तक कि उपभोग के स्वरूप का निर्धारण और कार्यान्वयन भी सरकार द्वारा होता है। ऐसी अर्थव्यवस्था के उदाहरण सोवियत संघ, चीन, हंगरी, और पोलैंड हैं। इसे केन्द्रीय आयोजित अर्थव्यवस्था भी कहा जाता है।

इन दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के बीच में मिश्रित अर्थव्यवस्था होती है। ऐसी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र साथ-साथ चलते हैं। परंतु अलग-अलग देशों में इनका मिश्रण अलग-अलग प्रकार का होता है। फिर भी इस संबंध में मुख्य बात यह है कि अर्थव्यवस्था को संपूर्ण ढांचे का विनियमन सरकार करती है। सरकारी नियंत्रण और विनियमन के अंतर्गत रहते हुए निजी उद्यम को कार्य करने की स्वतंत्रता रहती है। भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था का उदाहरण है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सरकार के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया गया। परंतु धीरे-धीरे निजी क्षेत्रक के हाथ में अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्र आने लगे। 1991 में घोषित नई आर्थिक नीति (New Economic Policy) के आने के बाद निजीकरण और उदारीकरण की संकल्पना को और अधिक भूमिका प्रदान की गई है।

किसी देश में किस प्रकार की आर्थिक प्रणाली होगी, इसका निर्धारण उस देश की जनता और सरकार करती है। इस संबंध में किसी फर्म का नियंत्रण नहीं होता। परंतु फर्म की नीतियां और उसकी कार्यप्रणालियां इस बात पर निर्भर करती हैं कि वहां पर किस प्रकार की अर्थव्यवस्था है। इस प्रकार आर्थिक पर्यावरण ऐसा अत्यंत महत्वपूर्ण बाह्य कारक है जिस पर किसी व्यावसायिक फर्म का कारोबार निर्भर करता है। बाजार-उन्मुख या गैर बाजार-उन्मुख (non-market oriented) प्रकार के पर्यावरण की उपेक्षा प्रबंध नहीं कर सकता। प्रबंध को इस बात का भी ध्यान रखना होता है कि राष्ट्रीय योजना के लक्ष्य क्या हैं या सरकार की आर्थिक नीतियां क्या हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है अपने कारोबार की योजना बनाते समय किसी फर्म के लिए आवश्यक होता है कि वह आर्थिक रूपरेखा के स्वरूप, ढांचे तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों की दर को भी ध्यान में रखे।

1.3.2 व्यवसाय का आर्थिकेतर पर्यावरण (Non-Economic Environment of Business)

किसी देश के इतिहास, संस्कृति, समाजशास्त्र, राजनैतिक प्रणाली और विधिक ढांचा आर्थिकेतर पर्यावरण के घटक होते हैं। आर्थिकेतर पर्यावरण चरों का अत्यंत महत्वपूर्ण आर्थिक आशय भी होता है और ये विभिन्न दिशाओं में व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ सत्तारूढ़ सरकार की विचारधारा कर संबंधी कानूनों, वितरण तंत्र, बड़ी-बड़ी कंपनियों की उपस्थिति एवं उनके विकास आदि को प्रभावित करती है। वास्तविकता तो यह है कि आर्थिकेतर कारक तथा आर्थिक कारक एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। कभी-कभी इन कारकों को एक साथ मिला लिया जाता है और इन्हें सामाजिक-आर्थिक या राजनीतिक-आर्थिक कारक कहा जाता है। अब हम विभिन्न आर्थिकेतर कारकों के संबंध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

सामाजिक कारक (Sociological Factors)

सामाजिक कारक आर्थिकेतर चरों के महत्वपूर्ण भाग होते हैं। इससे आशय होता है प्रबंधकों, अधिकारियों, दायित्व, प्रत्यायोजन, श्रमिकों की सहभागिता, उपलब्धियों, संपत्ति, आय, स्थिति और व्यय के प्रति समाज का विचार। समाज के रीति-रिवाज नम्य हैं या अनम्य हैं?

वैज्ञानिक कार्यविधि एवं धर्म के प्रति विचार भी महत्वपूर्ण होता है। वर्ग ढांचा, श्रम की गतिशीलता और जाति व्यवस्था भी महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं। शिक्षा, ज्ञान की प्राप्ति, पेशेवर और तकनीकी प्रशिक्षण एवं इस प्रकार के अन्य कारकों का भी व्यावसायिक कार्यकलाप पर अत्यधिक प्रभाव होता है। इस प्रकार समाजिक चर सामाजिक-सांस्कृतिक हो सकते हैं या सामाजिक-शैक्षिक हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त लोगों की क्रय और उपभोग संबंधी आदतें उनकी खर्च करने की आदतें तथा उनके विश्वास और मूल्य भी व्यवसाय की योजना के संबंध में महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

कोई व्यवसाय प्रभावशाली और सफल हो इसके लिए आवश्यक होता है कि युक्ति सामाजिक-शैक्षिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरणी चरों के अनुरूप हो। विपणन मिश्रण भी ऐसा होना चाहिए कि वह बाजार के पर्यावरणी विशेषताओं के उपयुक्त हो तथा ये विशेषताएं सामाजिक कारकों पर निर्भर करती हैं। सामाजिक जड़ता (social inertia) कभी-कभी कुछ उत्पादों के संवर्धन में बाधक सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, परिवार नियोजन के उपकरणों के विक्रय या भोजन बनाने में गोबर गैस के प्रयोग के संबंध में सामाजिक लांछन (social stigmas) बाधक सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में विक्रय-कर्मचारियों को दोहरी नीति अपनानी होगी। एक ओर तो उन्हें ऐसी युक्तियों का प्रयोग करना होगा जो सामाजिक लांछनों के उपयुक्त हो तथा दीर्घकाल में उन्हें ऐसे कदम उठाने होंगे जिससे मूल्य व्यवस्था (value system) तक को बदला जा सके।

उपभोक्तावाद भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलन (social movement) है। व्यवसाय के सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण को यह बहुत अधिक प्रभावित करता है। इसका लक्ष्य होता है विक्रेताओं के संदर्भ में उपभोक्ताओं के अधिकारों और शक्तियों को बढ़ाना। उपभोक्ताओं का आंदोलन जिस स्थिति में होता है उसी के अनुरूप फर्म की विपणन नीतियां होती हैं। उपभोक्ता के कल्याण की संकल्पना उत्पाद और विपणन योजना में सामाजिक और पारिस्थितिक चिंतनों पर बल देगी। व्यवसाय की सामाजिक जिम्मेदारी सामाजिक पर्यावरण का एक और आयाम हो जाती है। समाज जितना ही अधिक शिक्षित होता जाता है व्यवसाय की जिम्मेदारी उतनी अधिक होती जाती है।

राजनीतिक और विधिक पर्यावरण

राजनीतिक और विधिक कारकों में परस्पर घनिष्ट संबंध होता है। अधिनियमों का बनना राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। ये परिस्थितियां हैं : (i) देश का शासन करने वाले राजनीतिक संगठन की विचारधारा, (ii) नौकरशाही की भूमिका और उसका मत, (iii) राजनीतिक स्थिरता या अस्थिरता, (iv) विधिक नियम और अधिनियम, (v) संविधान में संशोधन के सम्बंध में नम्यता, (vi) विदेशी नीति तथा विदेशी संबंध, (vii) देश की छवि, (viii) विधि-तंत्र का मत, आदि

भारत में व्यवसाय के विभिन्न पक्षों पर अधिकतर सांविधिक नियंत्रणों का बहुत व्यापक प्रभाव होता है। व्यवसाय के विभिन्न पक्ष होते हैं अवस्थिति, लाइसेंस प्रणाली, कीमत-निर्धारण, प्रसार, वितरण तथा श्रम-संबंध। अत: व्यवसाय के मुख्य कार्यपालक तथा प्रबंध कर्मचारियों के लिए आवश्यक होता है कि विभिन्न प्रकार के विधिक विनियमों के पालन पर ध्यान दें।

प्रतिस्पर्धी वातावरण (Competitive Environment)

प्रतिस्पर्धा एक अन्य बाह्य चर है जो किसी फर्म की व्यवसाय युक्ति को प्रभावित करता है। परन्तु प्रतिस्पर्धा के तीन प्रकार होते हैं - पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकारी प्रतिस्पर्धा और अल्पाधिकार। इनमें से प्रत्येक की अपनी अलग-अलग विशेषताएं होती हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अनेक फर्में होती हैं अत: किसी एक फर्म की बाजार शक्ति नहीं के बराबर होती है। इसके विपरीत एकाधिकार में प्रतिस्पर्धा नहीं होती अत: किसी फर्म के पास बहुत बड़ी शक्ति होती है। अल्पाधिकारी बाजार में फर्मों की संख्या सीमित होती है अत: इस बात की संभावना रहती है कि कीमत, उत्पादन आदि के संबंध में फर्में संयुक्त निर्णय लें। इससे उनकी शक्ति एकाधिकारी हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी फर्म के पास कितनी शक्ति होगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि बाजार में किस प्रकार की प्रतिस्पर्धा है। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि अनेक देशों में प्रतिस्पर्धा के विनियम करने के लिए कानून होते हैं। ऐसे विनियमन का उद्देश्य होता है: प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करना और एकाधिकारी शक्ति को घटाना। भारत में एकाधिकारी तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम (MRTP Act) है जिसका उद्देश्य एकाधिकारी उद्यमों का नियंत्रण करना तथा कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रित होने से रोकना है। सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए प्रतिस्पर्धा के विनियमन के लिए बनाये गए कानूनों का प्रतिस्पर्धी पर्यावरण पर अत्यंत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

जनांकिकीय पर्यावरण (Demographic Environment)

जनांकिकीय पर्यावरण से आशय होता है जनसंख्या का आकार और उसकी वृद्धि दर। इसके अंतर्गत स्त्री-पुरुष भेद, संरचना, परिवार का आकार, धर्म आदि भी आ जाते हैं। मांग पर इन सभी कारकों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। जब जनसंख्या बढ़ रही होती है तब इससे श्रम पूर्ति में वृद्धि होती है। इससे मांग में भी लगातार वृद्धि होती जाती है। जनसंख्या में वृद्धि के फलस्वरूप जब श्रम-पूर्ति में वृद्धि होती है तब उत्पादन की श्रम प्रधान तकनीकों को प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत श्रमिकों में कमी होने के फलस्वरूप श्रम बचत तकनीकों को काम में लाया जाता है। जनांकिकीय पर्यावरण के एक अन्य अभिप्राय की व्याख्या विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय कंपनियों में हो रही वृद्धि के रूप में की जा सकती है। इन देशों में श्रम सस्ता होने तथा बाजार में बड़ी तेजी से वृद्धि होने के कारण बहुराष्ट्रीय कंपनियां यहां अधिक से अधिक पूंजी लगाती जा रही है।

भौतिक तथा प्रौद्योगिकीय पर्यावरण (Physical and Technological Environment)

आर्थिकेतर पर्यावरण के संबंध में भौतिक, भौगोलिक और प्रौद्योगिकीय कारकों की भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भौतिक कारकों (भौगोलिक कारकों) के कारण कभी-कभी आवश्यक हो जाता है कि उत्पाद-मिश्रण में परिवर्तन किया जाए जिससे यह मिश्रण पर्यावरण के अनुकूल हो सके। भौतिक सुविधाओं की उपलब्धता व्यवसाय की संभावना को भी प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ घरों में प्रयोग किए जाने बिजली से उपकरणों की मांग इस बात पर निर्भर करेगी कि बिजली की पूर्ति कितनी मात्रा में तथा कितने क्षेत्रों में की जा रही है। इसी एल पी जी की पूर्ति की मात्रा पर स्टोव की मांग निर्भर करेगी।

प्रौद्योगिकीय कारक तेजी से आर्थिक संवृद्धि लाते हैं लेकिन कभी-कभी इसके लिए सामाजिक लागत देनी होती है। विभिन्न प्रकार के प्रौद्योगिकीय पर्यावरण का उत्पादों की डिजाइन पर असर पड़ता है। उदाहरणार्थ अमेरिका तथा अन्य कई देशों में बिजली के सामानों और उपकरणों को 110 वॉल्ट के लिए बनाया जाता है, लेकिन जब उन्हें भारत में बेचा जाता है तब उन्हें 220 वॉल्ट का बनाया जाता है। उसी प्रकार प्रौद्योगिकीय विकासों के चलते कई नये प्रकार के उत्पादों के लिए मांग होने लगती है। उदाहरणार्थ

भारत में बहुत अधिक और बार-बार वोल्टेज का उतार-चढ़ाव होता है। इसलिये स्टैबिलाइजरों के लिए बाजार बहुत अधिक होता है। लेकिन अन्य देशों में ऐसी स्थिति नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रौद्योगिकीय विकास बड़ी तेजी से आर्थिक विकास तो करता है लेकिन प्रदूषण तथा अन्य रूप में इसके लिए बहुत अधिक सामाजिक लागत भी देनी होती हैं। इसीलिए जीवविज्ञानी, परिस्थितिविज्ञानी एंव समाजशास्त्री समाज लागत के संबंध में बहुत अधिक चिंतित रहते हैं। व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के संबंध में बहुत कुछ कहा जा रहा है। व्यवसाय के लिए आवश्यक है कि वह सामाजिक लागत-लाभ विश्लेषण के संबंध में जागरुकता का विकास करे जिससे बड़ी तेजी से परिवर्तित हो रहे प्रौद्योगिकीय पर्यावरण से निपटा जा सके।

1.3.3 आर्थिक और आर्थिकेतर पर्यावरण के बीच पारस्परिक प्रभाव (Interaction Between Economic and Non-Economic Environment)

अब तक हमने आर्थिक और आर्थिकेतर पर्यावरण कारकों के संबंध में विचार किया है जिनका व्यावसायिक कार्यकलापों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अब हम देखेंगे कि आर्थिक और आर्थिकेतर पर्यावरण एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। आर्थिक और आर्थिकेतर पर्यावरण को न तो एक दूसरे से अलग किया जा सकता है और न ही उन्हें एक दूसरे से अलग पहचाना जा सकता है। ऐसा इसलिए कि अलग-अलग करके उनके संबंध में विचार करना न तो संभव है और न ही ऐसा करने का कोई विशेष अर्थ है। आर्थिक पर्यावरण बहिर्जात (exogenous) तथा अंतर्जात (endogenous) दोनों ही होता है। यह आर्थिकेतर पर्यावरण का निर्धारण करता है तथा साथ ही साथ आर्थिकेतर पर्यावरण से निर्धारित भी होता है। आर्थिक स्थितियां सामाजिक कारकों से प्रभावित होती है तथा उसी प्रकार सामाजिक मापदंड और मूल्य लोगों की आय से निर्धारित होते हैं। अत: आर्थिक पर्यावरण का प्रत्येक महत्वपूर्ण तत्व आर्थिकेतर पर्यावरण के प्रत्येक महत्वपूर्ण तत्व से प्रभावित होता है।

क्योंकि व्यावसायिक पर्यावरण गत्यात्पक और अनियंत्रणीय होता है अत: व्यवसाय की नीतियों और युक्तियों को भी गत्यात्मक होना होता है और समय-समय पर उनकी समीक्षा करनी होती है। किसी व्यवसाय की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह व्यवसाय आर्थिक तथा आर्थिकेतर पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों के स्वरूप, मात्रा और दिशा के संबंध में पहले से कितना जान पाता है। इसके अतिरिक्त कोई व्यवसाय होने वाले परिवर्तनों के संबंध में अपनी युक्तियों में परिवर्तन करके अपने को उनके अनुरूप जितना ही अधिक बना पाएगा उनमें सफलता की संभावना भी उतनी ही अधिक होगी।

1.4 विभिन्न स्तरों पर व्यावसायिक पर्यावरण (Business Environment at Various Levels)

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया गया है कि व्यावसायिक पर्यावरण बाह्य कारकों और शक्तियों के उस समूह को कहा जाता है जो किसी फर्म के नियंत्रण के बाहर होती है। हमने व्यावसायिक पर्यावरण के विभिन्न घटकों, अर्थात राजनीतिक, विधिक, प्रतिस्पर्धी, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पर्यावरणों की भी व्याख्या की है। ये विभिन्न घटक परिवर्तित होते रहते हैं तथा वे अलग-अलग स्थानों और अलग-अलग समय पर अलग-अलग होते हैं। यह स्पष्ट है कि भूत काल का पर्यावरण आज के पर्यावरण से भिन्न हुआ होगा तथा भविष्य का पर्यावरण वर्तमान के पर्यावरण से भिन्न होगा। समाज और देश की आर्थिक स्थितियों में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार आर्थिक परिस्थितियों, आर्थिक नीतियों और प्रणालियों में परिवर्तन होता रहता है। उसी प्रकार समय गुजरने के साथ-साथ राजनीतिक, विधिक, प्रतिस्पर्धी, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण में भी परिवर्तन होता रहता है।

समय में होने वाला परिवर्तन स्पष्ट है अत: यह भी स्पष्ट है कि कोई फर्म आज जिन परिस्थितियों में कार्य कर रही है वे परिस्थितियां किसी अन्य समय में भिन्न प्रकार की होंगी।

विभिन्न स्थानों के व्यावसायिक पर्यावरण में होने वाले परिवर्तन भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। कोई व्यावसायिक फर्म अपनी समस्त शक्ति एक ही स्थान पर नहीं लगा सकती। उदाहरणार्थ तामिलनाडु या आंध्रप्रदेश में कार्यरत कोई फर्म केवल चेन्नई या हैदराबाद में उपलब्ध व्यावसायिक स्थितियों के विश्लेषण पर ही अपनी सारी शक्ति केन्द्रित नहीं कर सकती। उसी प्रकार फर्म के लिए यह भी आवश्यक है कि वह किसी प्रदेश में या देश के विभिन्न भागों में ही नहीं बल्कि विभिन्न देशों में घटने वाली घटनाओं पर भी ध्यान रखे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कोई व्यावसायिक अन्य स्थानों पर होने वाली घटनाओं के संबंध में अपनी आँख बंद नहीं कर लेती। कोई व्यावसायिक फर्म जिन स्थानों तक अपना कार्य करती है उन्हें तीन वर्गों में बांटा जा सकता है ये हैं -1) क्षेत्रीय, 2) राष्ट्रीय और 3) अंतर्राष्ट्रीय।

1.4.1 क्षेत्रीय स्तर

क्षेत्रीय स्तर पर पर्यावरणी विश्लेषण के लिए उन विभिन्न स्थितियों का विश्लेषण करना आवश्यक होगा जो किसी व्यावसायिक फर्म के क्षेत्र में होती हैं। यदि कोई व्यावसायिक फर्म किसी नए क्षेत्र में अपने कार्य का विस्तार करने को सोच रही है तथा उस संबंध में योजना बना रही है तो उसे उस क्षेत्र के पर्यावरणी परिस्थितियों का भी परीक्षण करना होगा।

इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय स्तर पर पर्यावरणी विश्लेषण व्यावसायिक पर्यावरण के उन विभिन्न घटकों पर निर्भर होगा जिन्हें परिच्छेद 3.1 में स्पष्ट किया गया है। परन्तु इस संबंध में महत्वपूर्ण यह है कि यह विश्लेषण किसी विशेष क्षेत्र के संबंध में होगा। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यावसायिक फर्म की रुचि का क्षेत्र केवल उत्तरी भारत तक ही सीमित है तो उसे उत्तरी भारत के लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक आदतें, उनकी जीवन शैली, उनकी खर्च करने की आदतों, उनके त्यौहारों और रीति-रिवाजों, उनके आय स्तर, राजनीतिक कार्यकलापों, स्थानीय कानूनों आदि संबंधी आवश्यक सूचनाएं एकत्रित करनी होंगी। उत्तरी भारत का यह वातावरण पूर्वी, पश्चिमी या दक्षिण भारत के वातावरण से बिल्कुल ही भिन्न हो सकता है। किसी एक क्षेत्र के कारोबार के लिए उपयुक्त प्रथा अन्य क्षेत्रों के लिए उपयुक्त नहीं भी हो सकती है। कोई सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक वातावरण किसी विशेष क्षेत्र के लिए ही उपयुक्त होता है, अत: उसका विश्लेषण उसी रूप में होना चाहिए।

1.4.2 राष्ट्रीय स्तर

कोई राष्ट्र किसी क्षेत्र से बड़ा होता है। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्र विभिन्न क्षेत्रों का योग होता है। राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरणी विश्लेषण में विभिन्न क्षेत्रों में असमानता को देखा जाता है और फिर सभी क्षेत्रों के लिए एक संयुक्त दृष्टिकोण बनाया जाता है। अलग-अलग वृक्षों का कोई विशेष महत्व नहीं होता, विश्लेषण और परीक्षण तो पूरे जंगल का किया जाता है। जब हम राष्ट्रीय पर्यावरण का परीक्षण कर रहे होते हैं तो विश्लेषण के लिए व्यापक रूप से घटक वही होंगे जिनकी चर्चा ऊपर की गई है। परन्तु स्पष्ट कारणों से यहां पर हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाएगा तथा यह अधिक व्यापक हो जाएगा। हमारी रुचि स्थानीय स्तर के राजनैतिक परिवर्तनों या आय स्तर और खर्च करने की आदतों में स्थानीय स्तर के विभेदों में नहीं होगी। अब हमारा दृष्टिकोण समस्त राष्ट्र को एक इकाई के रूप में देखने का हो जाएगा।

1.4.3 अंतर्राष्ट्रीय स्तर

कोई व्यवसाय राष्ट्रीय स्तर पर घटने वाली घटनाओं या परिस्थितियों से उतना ही प्रभावित होता है जितना कि शेष विश्व की घटनाओं और परिस्थितियों से होता है। सूचना-प्रौद्योगिकी क्रांति के आने और समस्त का धीरे-धीरे सिमट कर एक विश्व ग्राम हो जाने के फलस्वरूप कोई छोटी से छोटी भी घटना समस्त विश्व पर अपना प्रभाव छोड़ जाती है। उदाहरणार्थ दिल्ली शेयर बाजार पर देश की कंपनियों के असंतोषजनक कार्यों का उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना कि टोक्यों या न्यूयार्क में होने वाले उतार-चढ़ावों का। समस्त विश्व में होने वाली किसी भी घटना से कोई भी व्यवसाय अछूता नहीं रह सकता।

किसी चुनौती का सामना करने या किसी अवसर का लाभ उठाने के लिए किसी व्यावसायिक फर्म के लिए आवश्यक होता है कि वह अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणी विश्लेषण करे। अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणी विश्लेषण भी उन्हीं आर्थिक और आर्थिकेतर घटकों पर निर्भर करता है। इन घटकों को किसी क्षेत्रीय या राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में नहीं बल्कि विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य में देखना होता है। जिस प्रकार राष्ट्रीय विश्लेषण क्षेत्रीय विश्लेषण से भिन्न होता है उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरणी परीक्षण में राष्ट्रीय विश्लेषण की तुलना में अधिक व्यापक दृष्टिकोण रखना होता है।

बोध प्रश्न ख

) आर्थिक पर्यावरण के महत्वपूर्ण तत्व क्या हैं?

.....

.....

.....

) आर्थिकेतर पर्यावरण के विभिन्न कारकों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

) आर्थिक और आर्थिकेतर पर्यावरण के बीच पारस्परिक प्रभाव से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.5 व्यवसाय और पर्यावरण के बीच की स्थिति (Business and Environment Interface)

ावसायिक पर्यावरण व्यवसाय को प्रभावित करता है और व्यवसाय के तत्व व्यावसायिक पर्यावरण को ावित करते हैं। जब व्यापारिक मंदी होती है तब उत्पादन कम कर दिया जाता है। जब प्रत्यक्ष रूप से स्थानापन्न वस्तुओं के द्वारा बाजार में प्रतियोगिता होती है तब आक्रामक विज्ञापन और संवर्धन का श्रय लिया जा सकता है। जब वित्तीय संस्थाओं की ओर से उधार अधिसंकुचन (credit squeeze) या ाज दर की वृद्धि के रूप में हस्तक्षेप होने लगता है तब व्यवसाय को ऋण पूंजी के बजाए अपने तरिक निधि पर निर्भर रहना होगा। जब न्यूनतम मजदूरी कानून बनाए जाते हैं या सरकार स्थायी चारियों के लिए सामाजिक सुरक्षा उपायों की व्यवस्था करती है तब व्यवसाय के लिए आकस्मिक ादूरों को रखना लाभप्रद हो सकता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सरकार की ओर से जब कोई ात होता है तब व्यवसाय उसके सहन के लिए व्यवस्था करता है। वास्तविकता तो यह है कि वरण प्रोत्साहक या प्रतिबंध का कार्य करता है। जब पर्यावरण व्यवसाय के विस्तार और संमृद्धि के लिए ुकूल होता है तो व्यवसाय को उसके लिए अपनी युक्तियां बनानी होती है। उदाहरणार्थ छोटे व्यवसायों लिए जब आर्थिक सहायता की घोषणा की जाती है तो उन्हें प्रोत्साहन मिलता है। उसी प्रकार कंपनी के ा पर जब कर की दर बढ़ जाती है तब भी छोटे व्यवसायों को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार हम ते हैं कि व्यावसायिक पर्यावरण में परिवर्तन किसी एक वर्ग के लिए प्रोत्साहक हो सकता है जब कि ी दूसरे वर्ग के लिए यह प्रतिबंध का कार्य कर सकता है। एक दूसरे पर अप्रत्यक्ष रूप से भी प्रभाव सकता है। कभी-कभी व्यवसाय को ऐसे कदम उठाने पड़ते हैं जिससे केवल उसी के हित की रक्षा न बल्कि अन्य पक्षों के हितों की भी रक्षा हो। व्यवसाय और व्यावसायिक पर्यावरण का परस्पर प्रभाव दो ों पर होता है। एक तो व्यावसायिक पर्यावरणी हित के [illegible] दूसरा इन दोनों के बीच।

इस परस्पर प्रभाव के संबंध में चर्चा करने के संदर्भ में हम पाते हैं कि व्यावसायिक पर्यावरण के दो व्यापक वर्ग हैं - आर्थिक और आर्थिकेतर। आर्थिक पर्यावरण आर्थिकेतर पर्यावरण को प्रभावित करता है तथा आर्थिकेतर पर्यावरण आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, व्यवसाय के राजनीतिक-विधिक पर्यावरण और आर्थिक पर्यावरण एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। जब राजनीतिक स्थिरता होती है तब व्यवसाय की संवृद्धि होती है क्योंकि व्यवसायी को अधिक जोखिम भरा कदम उठा सकता है। लेकिन राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में व्यवसाय के क्षेत्र में अनिश्चितता आ जाती है और व्यवसायी वर्ग जोखिम उठाने को तैयार नहीं होता। उसी प्रकार शासक दल और व्यवसाय की विचारधाराएं भी एक दूसरे से जुड़ी होती हैं। जब राष्ट्रीयकरण पर जोर देने वाली समाजवादी विचारधारा की प्रधानता होती है तब निजी व्यवसाय हतोत्साहित हो जाता है। इसके विपरीत कभी-कभी वर्तमान पर्यावरण का सामना करने के लिए विभिन्न प्रकार के कानून बनाए जाते हैं। उदाहरणार्थ औद्योगिक मंदी की स्थिति में या उस समय जब निजी व्यवसाय अपने सामाजिक दायित्व की उपेक्षा कर देता है, व्यवसाय के कार्यों के संबंध सरकार कानून बनाती है। भारत में ऐसा उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, एकाधिकारी तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम आदि कानूनों को बनाकर किया गया है।

व्यवसाय के शैक्षिक-सांस्कृतिक पर्यावरण और आर्थिक पर्यावरण भी परस्पर संबंधित होते हैं। आर्थिक विकास की अवस्था शिक्षा प्रणाली को प्रभावित करती है। जब अर्थव्यवस्था विकसित होती है तब महंगी उच्च शिक्षा उपलब्ध होती है। उसी प्रकार व्यावसायिक प्रशिक्षण और वृत्ति पाठ्यक्रम के न होने से बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होगी और अर्थव्यवस्था पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

समाजशास्त्रीय पर्यावरण व्यवसाय के आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करता है तथा उससे प्रभावित भी होता है। व्यवसाय के प्रति सामाजिक अभिवृत्ति बहुत कुछ यह तय करेगी कि लोग निजी व्यवसाय के प्रति आकर्षित हो पाते हैं या नहीं। यदि समाज में व्यवसाय को प्रतिष्ठा प्राप्त है तो लोग उस व्यवसाय को बढ़ाना चाहेंगे। इसके विपरीत व्यवसाय के प्रति यदि समाज की निषेधात्मक अभिवृत्ति होती है, जैसा कि श्रमिकों का हो सकता है, तो आर्थिक अव्यवस्था को रोकने के लिए दमनकारी प्रणाली की आवश्यकता पड़ सकती है।

किसी देश में भौतिक पर्यावरण और आर्थिक पर्यावरण के बीच पारस्परिक प्रभाव भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। प्राकृतिक संसाधनों और भौतिक संसाधनों के संरक्षण के लिए सरकार कानून बनाकर व्यवसाय की संवृद्धि और विकास पर प्रतिबंध लगाती है। इसके विपरीत उत्पादन का आकार, प्लांटों का आकार और उसकी अवस्थिति तथा उनका संगठनात्मक ढांचा कभी-कभी पर्यावरण में सुधार ला सकता है या उसे खराब कर सकता है। यही कारण है कि व्यवसाय के लिए आवश्यक होता है कि वह सामाजिक दायित्व के द्वारा प्रौद्योगिकीय प्रगति के पर्यावरणी प्रभाव पर नज़र रखे।

व्यवसाय और पर्यावरण के बीच की स्थिति का एक दूसरा आयाम स्थिरता है। व्यवसाय के महत्वपूर्ण तत्व हैं - आयोजन, निदेशन, संगठन, नियंत्रण और समायोजन। उसी प्रकार उत्पादन, वित्त, विपणन और क्रय इसके मुख्य कार्य हैं। ये सभी व्यावसायिक पर्यावरण से प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ मंदी के समय प्रबंध उत्पादन कम करने, संवर्धन प्रयासों को घटाने और वित्त संबंधी कार्यों को निम्न स्तर पर रखने का निर्णय ले सकता है। उसी प्रकार जब व्यावसायिक पर्यावरण में परिवर्तन होता है और सरकार व्यवसाय पर नियंत्रण को उदार बनाती है तब व्यावसायिक कार्यकलापों को प्रोत्साहन मिलता है। उदाहरणार्थ 1991 में नई औद्योगिक नीति के अंतर्गत उदारीकरण, निजीकरण और विश्वव्यापीकरण की घोषणा के बाद देश में निजी क्षेत्र के कार्यकलापों में वृद्धि होने लगी है तथा व्यवसाय का अंतर्राष्ट्रीय आयाम भी बढ़ने लगा है।

अत: व्यावसायिक पर्यावरण (जिसके अंतर्गत आर्थिक और आर्थिकेतर दोनों ही पर्यावरण आ जाते हैं) और व्यावसायिक कार्य (प्रबंध) एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। पर्यावरणी कारक व्यवसाय, कंपनी स्तर की योजना तथा व्यवसाय की युक्तियों और विधियों के निर्माण को प्रभावित करते हैं। कार्य के स्तर पर व्यवसाय

की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि विभिन्न पर्यावरणी कारकों के साथ समायोजित करने के संबंध में व्यवसाय की कितनी क्षमता है। जब संगठनात्मक संस्कृति में परिवर्तन होता है तब व्यवसाय के आचार और उसकी रीतियों में भी परिवर्तन होता है और व्यवसाय के दर्शन के मापदंड का पुनर्निर्माण होता है। सरकार, श्रम एवं समाज इसे नई दृष्टि से देखने लगता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया अब रैखिक नहीं रह जाती। यह वृत्तीय आकार ले लेती है। व्यवसाय पर्यावरण को प्रभावित करता है और पर्यावरण व्यवसाय में परिवर्तन ला देता है। इसकी कोई श्रृंखला उसी प्रकार नहीं होती जैसे किसी वृत्त में न तो कोई प्रारंभिक बिन्दु होता हैं और न ही अंतिम बिन्दु होता है। उसी प्रकार व्यवसाय और पर्यावरण के बीच की स्थिति में यह बताना कठिन होता है कि परस्पर प्रभाव की शुरुआत कहां से हुई है और इसका अंत कहां हुआ है। यह प्रक्रिया अविराम चलती रहती है।

समष्टि आर्थिक प्रबंध की चुनौती यह है कि बदलते हुए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक पर्यावरण को देखते हुए स्थापित नीतियों का समायोजन किस प्रकार किया जाए। इस प्रकार निम्नलिखित मार्गदर्शी सिद्धांतों का अनुसरण करके इस चुनौती के साथ सफलतापूर्वक निपटा जा सकता है:

- बदलते हुए पर्यावरण के अनुसार नीति निर्धारण में लचीलापन।
- स्थिरीकरण का प्रयास जिसके अंतर्गत समायोजन करने और कार्यकुशलता को बढ़ाने की सुविधा हो।
- पर्यावरण में सहायक विधियों का प्रबंध।
- प्रतिपुष्टियों की प्राप्ति के लिए सरकार और जनता के साथ सतत परामर्श।
- विभिन्न घटनाओं की अच्छी तरह से जानकारी के लिए सूचना प्रणाली में सुधार लाना।

बोध प्रश्न ग

1) एक उदाहरण देकर दिखाइए कि पर्यावरण व्यवसाय के लिए किस प्रकार से प्रोत्साहक का काम करता है।

.....

.....

.....

2) स्पष्ट कीजिए कि व्यवसाय के कार्यकलापों के लिए भौतिक पर्यावरण किस प्रकार महत्वपूर्ण होता है।

.....

.....

.....

3) समष्टि आर्थिक पर्यावरण की चुनौतियों का सामना करने के लिए व्यवसाय के प्रबंध को जिन मार्गदर्शी सिद्धांतों का अनुसरण करना होता है उनकी सूची बनाइए।

.....

.....

.....

1.6 सारांश

व्यावसायिक पर्यावरण उस समष्टि-आर्थिक संदर्भ की व्यवस्था करता है जिसके अंतर्गत कोई व्यावसायिक फर्म अपना कारोबार करती है। व्यवसाय वह क्रिया है जो लाभ अर्जित करने की दृष्टि से की जाती है।

पर्यावरण उन विभिन्न अनियंत्रणीय कारकों से बनता है जिनके अंतर्गत किसी व्यवसाय का कार्य होता है। पर्यावरण आर्थिक हो सकता है या आर्थिकेतर। आर्थिक पर्यावरण के अंतर्गत सरकार की मुद्रा संबंधी, राजकोषीय और आर्थिक नीतियां आती हैं। आर्थिकेतर पर्यावरण के अंतर्गत विधिक, राजनैतिक, सामाजिक, भौतिक और सांस्कृतिक चर आते हैं, पर्यावरण का प्रत्येक तत्व निरपेक्ष नहीं होता लेकिन प्रत्येक चर एक दूसरे को प्रभावित करता है।

व्यावसायिक नीतियों और युक्तियों को समष्टि और व्यष्टि दोनों ही स्तरों पर गत्यात्मक होना होता है। इस गतिकता का अर्थ होता है विभिन्न स्तरों पर बदलते हुए पर्यावरण के अनुरूप बनाना। व्यवसाय की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि पर्यावरणी परिवर्तनों का अनुमान लगाने और उनके अनुसार अपनी व्यावसायिक नीतियों और युक्तियों में संशोधन करने की व्यवसाय में कितनी क्षमता है। इसकी सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह पर्यावरण को व्यावसायिक परिवर्तनों के अनुरूप कहां तक बना पाता है।

1.7 शब्दावली

उपभोक्तावाद (Consumerism) : अपने अधिकारों की रक्षा करने और उन्हें प्राप्त करने के संबंध में उपभोक्ताओं का आन्दोजन।

उपभोग (Consumption) : संतुष्टि प्राप्त करने के लिए उपभोक्ताओं द्वारा की गई वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग की प्रक्रिया।

निर्णय कार्य (Decision-Making) : किसी विशिष्ट समस्या के समाधान के लिए विभिन्न विकल्पों में से किसी कार्यक्रम को पहचानने और उसका चयन करने की प्रक्रिया।

प्रत्यायोजन (Delegation) : किसी विशिष्ट कार्य को सम्पन्न करने के लिए किसी अधीनस्थ को औपचारिक अधिकार और दायित्व सौंपने की क्रिया।

आर्थिक चर (Economic Variables) : किसी संगठन के कार्यकलापों को प्रभावित करने वाले सामान्य आर्थिक कारक और प्रवृत्तियां।

आगतें (Inputs) : किसी संगठन की प्रणाली में प्रवेश करने वाले पर्यावरणी संसाधन।

प्रबंध (Management) : किसी संगठन के कार्यों की योजना बनाने, व्यवस्था करने, नेतृत्व करने और उन पर नियंत्रण करने की प्रक्रिया।

मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) : वह अर्थव्यवस्था जिसमें निजी क्षेत्रक और सार्वजनिक क्षेत्रक साथ-साथ चलते हैं।

नीति (Policy) : वह स्थायी विवरण जिसमें निर्णय कार्य करने वालों के लिए सामान्य मार्गदर्शी सिद्धांत दिए हुए होते हैं।

आयोजन (Planning) : किसी कार्य को करने से पहले उद्देश्यों और उपयुक्त कार्यक्रमों को निश्चित करने की प्रक्रिया।

निजी क्षेत्रक (Private Sector) : अर्थव्यवस्था का वह क्षेत्रक जिसमें उत्पादन के साधनों पर निजी क्षेत्र का स्वामित्व होता हैं और उत्पादन लाभ-अभिप्रेरण से किया जाता है।

लाभ अभिप्रेरण (Profit Motive) : लाभ अर्जन का उद्देश्य जो उत्पादक को व्यवसाय कार्य करते रहने को अभिप्रेरित करता है।

समाजवाद (Socialism) : वह अर्थव्यवस्था जिसमें उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है।

युक्ति (Strategy) : किसी संगठन के उद्देश्यों को स्पष्ट करने और उन्हें प्राप्त करने के लिए विस्तृत कार्यक्रम।

प्रौद्योगिकीय चर (Technological Variables) : उत्पादों या प्रक्रियाओं तथा विज्ञान में होने वाली नई गतिविधियां जो संगठन के कार्यकलापों को प्रभावित कर सकती हैं।

1.8 स्व-परख प्रश्न

1) व्यावसायिक पर्यावरण के स्वरूप तथा उसके महत्व का विवेचन कीजिए।

2) व्यावसायिक पर्यावरण के तीन घटक कौन से होते हैं? उनका विवेचन कीजिए।

3) स्पष्ट कीजिए कि व्यवसाय को पर्यावरण किस प्रकार से प्रभावित करता है और व्यवसाय से पर्यावरण किस प्रकार प्रभावित होता है?

4) उपयुक्त उदाहरण देकर व्यावसायिक पर्यावरण के विभिन्न स्तरों की व्याख्या कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 2 आर्थिक पर्यावरण - विहंगावलोकन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था
2.3 आर्थिक आयोजना
2.4 1956-90 अवधि में अपनाई गई युक्तियों के मूल तत्व (विकास की नेहरू-महलनबिस युक्ति)
2.5 समकालीन आर्थिक सुधार
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 स्व-परख प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन कर सकें,
- भारत में आर्थिक आयोजना के ढांचे पर प्रकाश डाल सकें,
- विभिन्न योजनाओं में अपनाई गई विकास की युक्तियों का परीक्षण कर सकें,
- सरकार द्वारा शुरू किए गए समकालीन आर्थिक सुधारों का विश्लेषण कर सकें।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आप व्यावसायिक पर्यावरण के विभिन्न घटकों के संबंध में पढ़ चुके हैं। इस इकाई में हम प्रमुख रूप से व्यवसाय के आर्थिक पर्यावरण के संबंध में पढ़ेंगे। आप जानते हैं कि केवल किसी देश के विभिन्न स्थानों में ही अलग-अलग पर्यावरण नहीं होते बल्कि समय के आधार पर भी पर्यावरणों में भेद होता है। इसके अतिरिक्त पर्यावरण भूतकाल के और वर्तमान काल के पर्यावरणों का परिणाम होता है। आगे आने वाली भारत की अर्थव्यवस्था पिछले कल की अर्थव्यवस्था की स्थिति तथा वर्तमान अर्थव्यवस्था की स्थिति से प्रभावित होगी।

आर्थिक पर्यावरण से अभिप्राय होता है आर्थिक प्रणाली की वे व्यापक विशेषताएं जिसमें किसी व्यवसाय के कार्य होते हैं। इस इकाई में आप आर्थिक आयोजना के संदर्भ में आर्थिक पर्यावरण के संबंध में पढ़ेंगे। यह माना जाता है कि आर्थिक आयोजना आर्थिक पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों का मार्ग दर्शन करती हैं।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान इस देश के नेताओं ने वचन दिया था कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद देश की प्रगति के लिए योजनाबद्ध विकास का कार्यक्रम चलाया जाएगा। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1938 ई० में एक राष्ट्रीय योजना समिति नियुक्त किया। इस समिति में भारत के विकास की योजना का मसौदा जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनाया जाना था। समिति ने योजना के सभी पहलुओं के संबंध में विचार किया तथा समिति के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रथम प्रधान मंत्री बने। भारत के योजनाबद्ध विकास के संबंध में राष्ट्रीय योजना ही अनुकूल थे। इस समिति ने एक ओर तो उत्पादन के साधनों पर राज सरकार के स्वामित्व के सोवियत मॉडल अस्वीकार कर दिया और दूसरी ओर मुक्त पूंजीवादी उद्यम के मॉडल को भी ना-मंजूर कर दिया। इसने भारत के आर्थिक पर्यावरण के अनुकूल मिश्रित अर्थव्यवस्था को मॉडल को अपनाया।

इस समिति का विचार था कि

क) सभी मूल उद्योगों और सेवाओं, खनिज संसाधनों, रेलवे, जल मार्ग, जहाजरानी एवं अन्य जनोपयोगी सेवाओं पर राज्य का स्वामित्व या उसका नियंत्रण होना चाहिए। उसी प्रकार उन सभी बड़े पैमाने के उद्योगों पर भी राज्य का स्वामित्व या उसका नियंत्रण होना चाहिए जिनका स्वरूप एकाधिकारी (monopolistic) हो सकता है। अन्य शब्दों में उन उद्योगों का निश्चित रूप से उल्लेख किया गया जिन पर सार्वजनिक क्षेत्रक का स्वामित्व या नियंत्रण होना था।

ख) शेष उद्योग निजी क्षेत्रक के व्यवसायियों की एकाधिकारी गतिविधियां राष्ट्र के हित के विरोध में है तो उसे अधिकार है कि ऐसे उद्योगों को वह अपने हाथा में ले ले।

ग) समिति का दृढ़ मत था कि कृषि को प्राथमिक स्थान दिए बिना कोई राष्ट्रीय योजना नहीं बनाई जा सकती।

घ) समिति का लक्ष्य था कि 10 वर्षों की अवधि में लोगों के जीवन स्तर को बढ़ा कर दो गुना कर दिया जाए।

2.2 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy in India)

आजादी मिलने के बाद लोगों के बीच इस मसले पर काफी मतभेद था कि अर्थव्यवस्था का विकास किस दिशा में हो। मजदूरों के नेता समाजवाद को अपनाना चाहते थे जबकि कांग्रेस पार्टी के पूंजीवादी नेता अर्थव्यवस्था का विकास पूंजीवादी वातावरण में करना चाहते थे। ऐसी स्थिति में सरकार के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक था कि वह किस प्रकार की अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देना चाहती है।

ऐसी स्थिति में सरकार के दो विकल्पों में से एक को चुनना था। एक ओर समाजवाद था जिसमें उत्पादन के सभी साधनों (भूमि, फैक्टरियाँ, बैंक, रेलवे, परिवहन और संचार, अस्पताल, शिक्षा संस्थाओं, आदि) पर सरकार का स्वामित्व हो। इसे आमतौर पर सोवियत मॉडल कहा जाता है। इसके लिए सभी प्रकार के आर्थिक और सामाजिक कार्यकलापों का राष्ट्रीयकरण करना आवश्यक था। दूसरा विकल्प पूंजीवादी मॉडल को अपनाना था जिसे आमतौर पर पूंजीवाद कहा जाता है और जिसके अतंर्गत उत्पादन के साधन जमींदारों और पूंजीपतियों के स्वामित्व में होते हैं।

जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में देश ने सोवियत मॉडल को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि यह सर्वाधिकारी राज्य को लाता है जिसमें नागरिकों को लोकतंत्रीय स्वतंत्रता नहीं दी जाती। भारत का समाज लोकतंत्रीय सरकार के पक्ष में था जिसमें विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं के बने रहने का अवसर होता है। इस प्रकार इस देश में किसी एक व्यक्ति या किसी एक दल या वर्ग को तानाशाह बनने का अवसर नहीं मिल सका। इसके स्थान पर यहां लोकतंत्रीय समाजवाद को अपनाया गया जिसमें मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे पर भी जोर दिया गया था।

परंतु इसके साथ ही भारत के नेता उत्पादन के पूंजीवादी मॉडल के भी विरोध में थे। ऐसा इसलिए कि इसके अंतर्गत जमींदारों द्वारा किसानों और भूमिहीन मजदूरों का शोषण होता है तथा पूंजीपति वर्ग उद्योगों में एवं स्थान पर कार्य करने वाले मजदूरों का शोषण करते हैं। अधिकतम लाभ कमाना ही समाज का अंतिम लक्ष्य नहीं माना जा सकता।

इसीलिए सरकार ने भारतीय संविधान के निदेशक सिद्धांतो (Directive Principles) द्वारा निर्धारित सीमाओं में रहते हुए मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया। इन निदेशक सिद्धांतों में कहा गया है कि

"सरकार विशेषत: ऐसी नीति बनाएगी कि

क) देश के नागरिकों, स्त्री-पुरुषों, को अपनी जीविका अर्जित करने के पर्याप्त साधनों को प्राप्त करने का अधिकार हो।

ख) समाज के संसाधनों पर स्वामित्व और नियंत्रण का वितरण इस प्रकार हो कि सामान्य हित का प्राप्ति हो सके।

ग) आर्थिक प्रणाली इस प्रकार चलाई जाए कि संपत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रण कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में न हो सके।

इसीलिए भारत सरकार ने दोनों ही प्रकार के अतिवादी मॉडलों को अस्वीकृत कर दिया, अर्थात् सोवियत प्रणाली का अनुसरण करने वाले अर्थव्यवस्था के समाजवादी मॉडल को तथा यू. एस. ए. का अनुसरण करने वाले विकास के पूंजीवादी मॉडल को उसने मध्य मार्ग को अपनाया जिसे मिश्रित अर्थव्यवस्था का ढांचा कहा जाता है। इस व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्रक एवं निजी क्षेत्रक दोनों ही साथ-साथ कार्य करते रहेंगे। इस संबंध में यह आलोचना की जाती है कि सभी प्रकार की अर्थव्यवथाओं में, चाहे वह पूंजीवादी अर्थव्यवस्था हो या समाजवादी अर्थव्यवस्था, सार्वजनिक क्षेत्रक एवं निजी क्षेत्रक साथ-साथ कार्य करते हैं। परंतु यह तो सार्वजनिक क्षेत्र में सह अस्तित्व की अत्यंत संकीर्ण परिभाषा है। भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि इसने जानबूझ कर सार्वजनिक क्षेत्रक को बढ़ा कर इसमें देश की रक्षा भारी एवं बुनियादी उद्योगों, आधारित संरचना (infrastructure) - आर्थिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार की - एवं लोकोपयोगी सेवाओं को भी शामिल कर लिया। देश के विकास के लिए मुख्य भूमिका सार्वजनिक क्षेत्रक को सौंपी गई। इसीलिए सार्वजनिक क्षेत्रक को संवृद्धि का इंजन कहा गया।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे में निजी क्षेत्रक को शेष क्षेत्रों में कार्य करने की अनुमति दी गई। परन्तु साथ ही साथ सरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि निजी क्षेत्रक का कर्त्तव्य होगा कि वह अपने हित और समाज के हित के बीच तालमेल भी कायम करे। यदि निजी क्षेत्रक ऐसा नहीं कर सका और वह श्रमिक वर्ग का शोषण करता रहा तो सरकार को अधिकार होगा कि वह सार्वजनिक क्षेत्रक (क्षेत्रकों) को अपने हाथ में ले ले। इसीलिए निजी क्षेत्रक को नियामक प्रणाली की सीमाओं के अंतर्गत रहते हुए कार्य करना होगा जिससे वह सार्वजनिक हित के विरोध में कार्य न कर सके। निदेशक सिद्धांतों का पालन करते हुए सरकार ने उन क्षेत्रों में निजी क्षेत्रक के स्वामित्व को कम कर दिया जिनमें इस बात की संभावना थी कि उनका हित समाज के हित के साथ मेल नहीं खाता।

उदाहरणार्थ कृषि के क्षेत्र में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया। जमीदारों की बेशी जमीन (surplus land) के लिए उन्हें मुआवजा देकर उसे सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और उसके स्वामित्व को छोटे-छोटे किसानों और भूमिहीन श्रमिकों को हस्तांतरित कर दिया। कानून बना कर जोत की सीमा (celing on holdings) निश्चित कर दी गई। भूमि के संबंध में कानून बनाने का मुख्य उद्देश्य यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि जीविका का मुख्य साधन होती है अत: इसमें स्वामित्व का वितरण समान रूप से होना चाहिए। सरकार इस पक्ष में नहीं थी कि भूमि का पूर्ण राष्ट्रीयकरण करके उस पर सोवियत प्रकार की सामूहिक खेती (collective farming) कराई जाए। सामूहिक खेती के प्रयोग से देखा गया है कि इससे उत्पादिता में वृद्धि नहीं होती। इसमें केवल कृषि की लागत बढ़ती है। इससे न तो श्रम की उत्पादिता को बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलता है और न ही भूमि की उत्पादिता को बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलता है। इसीलिए भारत सरकार ने जोत की सीमा निश्चित करके उस पर 'किसानों के स्वामित्व' को बढ़ावा दिया।

छोटे पैमाने के उद्योगों के क्षेत्र में निजी स्वामित्व को स्वीकार कर लिया गया। सरकार ने निर्णय लिया कि ऐसे उद्योगों को ऋण और विपणन की सुविधाएं देकर उनके विकास को बढ़ावा दिया जाए। इन उद्योगों को इसलिए महत्वपूर्ण माना गया कि इनमें बहुत बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार प्राप्त होता है।

उत्पादन की वांछित दिशा में निवेश बढ़ाने के लिए सरकार ने बैंकिंग और बीमा का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया। निवेश को यदि निजी क्षेत्रक में ही छोड़ दिया जाए तो ये लाभ से प्रेरित बाजार की शक्तियों पर ही निर्भर करेगा। लेकिन लाभ का अधिकतमकरण का क्षेत्र सामाजिक कल्याण को अधिकतमकरण के क्षेत्र से भिन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ बहुउद्देशीय जल-विद्युत परियोजनाओं, सिंचाई, सड़क और संचार जैसी आर्थिक आधारित संरचनाओं में धन लगाने को निजी क्षेत्रक इच्छुक नहीं था। उसी प्रकार शिक्षा और और स्वास्थ्य की सुविधाओं में काफी धन लगाने की आवश्यकता है जिससे निर्धन व्यक्तियों और समाज के

पिछड़े हुए लागों को ये सुविधाएं प्राप्त हो सकें। लेकिन निजी क्षेत्र इन क्षेत्रों में धन लगाने में इच्छुक नहीं भी हो सकता है।

इसीलिए सरकार ने बिजली, सिंचाई, परिवहन और संचार जैसी आधारिक संरचनाओं का विकास सार्वजनिक क्षेत्रक में करने का निर्णय किया। उसने शिक्षा और स्वास्थ्य के रूप में सामाजिक आधारिक संरचना की व्यवस्था करने का भी निर्णय लिया जिससे निर्धन लोगों को ये सुविधाएं नि:शुल्क या कम लागत पर प्राप्त हो सके। स्कूलों, कालेजों, अस्पतालों, औषधालयों केन्द्रों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों आदि की जाल सार्वजनिक क्षेत्र में ही बिछाने की योजना बनाई गई।

ब्रिटेन के शासन काल में रक्षा उद्योगों, भारी उद्योगों और बुनियादी उद्योगों को विकसित नहीं होने दिया गया लेकिन यह देखते हुए कि स्वाबलंबी होने के लिए भारत की अर्थव्यवस्था के पास स्वतंत्र औद्योगिक आधार होना चाहिए यह आवश्यक समझा गया कि सार्वजनिक क्षेत्र रक्षा उद्योगों तथा भारी और बुनियादी उद्योगों में धन लगाए। क्योंकि इन उद्योगों में बहुत बड़ी मात्रा में निवेश की आवश्यकता होती है तथा इनकी पक्वन अवधि (gestation period) काफी लम्बी होती है अत: निजी क्षेत्रक इन क्षेत्रों में धन लगाने को इच्छुक नहीं था। वह उन क्षेत्रों में धन लगाना चाहता था जिन की पक्वन अवधि छोटी हो और जिनसे अधिकतम लाभ मिल सके। इसीलिए सरकार ने रक्षा उद्योगों तथा भारी और बुनियादी उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्रक में विकसित करने की योजना बनाई

भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे की विशेषता थी (क) रक्षा उद्योगों तथा भारी और बुनियादी उद्योगों तथा (ख) आर्थिक और सामाजिक आधारिक संरचना का विकास करना तथा (ग) बैंकिंग और बीमा अर्थव्यवस्था के प्रभावशाली क्षेत्रों (commanding heights of the economy) पर नियंत्रण रखना।

सार्वजनिक क्षेत्रक के दायरे को बढ़ाने के विचार से ही भारत की पंचवर्षीय योजना के प्रारंभिक वर्षों में 'समाज के समाजवादी रूप' (sociolistic pattern of society) का नारा दिया गया। आगे चलकर इसे 'लोकतंत्रीय समाजवाद' (democratic socialism) का रूप दे दिया गया। लोकतंत्रीय समाजवाद की विचारधारा का मुख्य लक्ष्य था अधिकतम लोगों कि लिए रोजगार की व्यवस्था करना तथा उत्पादन अधिकतम मात्रा में करना। इसके साथ ही साथ सामाजिक और आर्थिक असमानता को कम करने की भी योजना बनाई गई जिससे सभी लोगों के लिए न्यूनतम जीवन-स्तर की व्यवस्था की जा सके। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि लोकतंत्रीय समाजवाद के ढांचे में रहते हुए लोकतंत्रीय सामाज में सामाजिक न्याय के साथ संवृद्धि की योजना बनाई गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे के पर्यावरण में सार्वजनिक क्षेत्रक तथा निजी क्षेत्रक दोनों ही क्षेत्रकों को साथ-साथ विकसित होने के अवसर प्राप्त थे। इन दोनों को ही योजना के सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्य करना था। इकाई 4 में विस्तार में आप पढ़ेंगे कि मिश्रित अर्थव्यवस्था का ढांचा क्या है तथा कौन से स्वामित्व स्वरूप (ownership pattern) उभरे हैं।

बोध प्रश्न क

1) भारत में विकसित मिश्रित अर्थव्यवस्था की संकल्पना की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2.3 आर्थिक आयोजना (Economic Planning)

1950 ई. में भारत सरकार ने योजना आयोग बनाया। इस आयोग को सथापित करने का उद्देश्य था – देश के भौतिक और मानव संसाधनों का वस्तुपरक आकलन करना तथा देश के विकास के लिए योजना बनाना। योजना आयोग ने योजना के दीर्घकालीन लक्ष्य निर्धारित किया। ये लक्ष्य निम्नलिखित थे :

i) उत्पादन में अधिकतम वृद्धि करना, जिससे राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय के स्तर को बढ़ाया जा सके;

ii) पूर्ण रोजगार की स्थिति लाना;

iii) भारी और बुनियादी उद्योगों पर विशेष जोर देते हुए देश को औद्योगीकरण को बढ़ावा देना जिससे देश में स्वावलंबन की स्थिति लाई जा सके;

iv) आय और संपत्ति में असमानता को कम करना; और

v) समानता, सामाजिक न्याय और शोषण-विहीनता पर आधारित समाजवादी रूप वाले समाज की स्थापना करना।

1952 ई० में प्रकाशित प्रथम पंचवर्षीय योजना में ये सभी उद्देश्य दिए गए थे। इस योजना में कहा गया था कि

> "अधिकतम उत्पादन और पूर्ण रोजगार तथा आर्थिक समानता या सामाजिक न्याय आज की स्थितियों में योजना के स्वीकृत उद्देश्य हैं। ये उद्देश्य उन उद्देश्यों से भिन्न नहीं हैं जिनकी प्राप्ति इस देश को करनी है। इनमें से किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति किसी दूसरे उद्देश्य को छोड़ कर नहीं की जा सकती। विकास की किसी भी योजना के लिए आवश्यक है कि वह इनमें से सब पर संतुलित रूप से जोर दे।"

बोध प्रश्न ख

1) भारत की योजना के पांच प्रमुख लक्ष्यों की सूची बनाइए। उनके महत्व के अनुसार उन्हें क्रमबद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

2.4 1956-90 की अवधि में अपनाई गई युक्तियों के मूलतत्व (विकास की नेहरू–महलनबिस युक्ति)

खाद्यानों की कमी एवं मुद्रास्फीति पर नियंत्रण की तात्कालिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) में खाद्यानों में स्वावलंबी होने एवं मुद्रास्फीति पर नियंत्रण करने की युक्ति को अपनाया गया। इसके लिए सिंचाई की सुविधाओं को बढ़ाने का निर्णय लिया गया। यह युक्ति कारगर सिद्ध हुई और 1956 वर्ष के अंतर्गत खाद्यानों के आयात को घटाकर 5 लाख टन कर दिया गया। खाद्यानों के उत्पादन में वृद्धि एंव उद्योगों में क्षमता के उपयोग के फलस्वरूप खाद्यानों एवं उपभोक्ता वस्तुओं की कमी को दूर कर दिया गया। इससे देश में कीमत स्तर को स्थिर करने और मुद्रास्फीति पर नियंत्रण करने में सहायता मिली। इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना काल के समाप्त होने तक देश की अर्थव्यवस्था में खाद्यानों की कमी को दूर कर दिया गया था तथा कीमत-स्थिरता की स्थिति ला दी गई थी। इस प्रकार अब अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण की युक्तियों को अपनाने के लिए उपयुक्त वातावरण ला दिया गया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अपनाई गई यह युक्ति थोड़ा-बहुत संशोधन के साथ 1990 ई० तक जारी रही।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के दौरान जवाहरलाल नेहरू के मार्ग दर्शन में प्रो० पी० सी० महलनबिस ने भारी उद्योग मॉडल विकसित किया, जिसका आधार सोवियत संघ का विकास अनुभव था। इस युक्ति को आमतौर

पर नेहरू-महलनबिस युक्ति कहा जाता है और यही द्वितीय पंचवर्षीय योजना का आधार बनी। थोड़ा-बहुत संशोधनों के साथ इस युक्ति को 1977 तक जानी रखा गया। 1977 में जनता पार्टी सरकार में आई और उसने इस युक्ति के स्थान पर विकास की गाँधी मॉडल को अपनाया जिसमें लघु और कुटीर उद्यागों पर बल दिया गया था। लेकिन जनता पार्टी की योजना में यह भी कहा गया था कि इस मॉडल का उद्देश्य औद्योगिक नीति 1956 में विकृतियों का सुधार करना था। इस प्रकार हम देखते हैं कि 1956-90 की अवधि की विभिन्न योजनाओं में भारी उद्योग की युक्ति की प्रधानता रही।

विकास की नेहरू-महलनबिस युक्ति की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

1) इस युक्ति ने भारी उद्योग के तेजी से विकास पर बल दिया जिससे कि अर्थव्यवस्था के औद्योगिक आधार का निर्माण हो सके। उद्देश्य यह था कि पूंजी-वस्तुओं के क्षेत्रक के संबंध में अर्थव्यवस्था को स्वावलंबी बनाया जा सके। इस युक्ति को स्वीकार करते हुए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि:

"दीर्घकाल में औद्योगिकरण और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि की दर जिन बातों पर निर्भर करेगी वे हैं - कोयला, बिजली, आयरन एवं स्टील, भारी मशीनों, हेवी केमिकल्स और भारी उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि जिससे पूंजी निर्माण की क्षमता बढ़ सके। एक प्रमुख लक्ष्य है उत्पादक वस्तुओं के विकास के संबंध में शीघ्रातिशीघ्र भारत को स्वतंत्र बनाना जिससे पूंजी संचय के लिए भारत को विदेशों से आवश्यक उत्पादक वस्तुओं का आयात न करना पड़े। इसीलिए आवश्यक है भारी उद्योगों का विस्तार तेजी से शीघ्रातीशीघ्र किया जाए।"

भारी उद्योगों की युक्ति के पक्ष में निम्नलिखित दलीलें थीं :

क) ब्रिटिश शासन ने जानबूझकर भारत के भारी उद्योगों का विकास नहीं होने दिया तथा ब्रिटिश उपनिवेशिक प्रणाली के सहायक के रूप में इस देश की अर्थव्यवस्था को कृषि प्रधान बनाए रखा।

ख) भारत के औद्योगिकरण के ढांचे का आधार छोटा था तथा वह मुख्य रूप से उपभोक्ता वस्तु उद्योगों पर आधारित था। भारी उद्योगों और आधारित संरचनाओं (infrastructures) को विकसित करके इस आधार को बड़ा करना आवश्यक था। यह दलील दी गई कि औद्योगिक आधार को यदि सबल बना दिया जाए तो बहुत बड़ी मात्रा में श्रमिकों को रोजगार मिल सकेगा। इससे कृषि पर निर्भर लोगों की संख्या में कमी भी होगी।

ग) कृषि की तुलना में विनिर्माण उद्योगों में श्रम की उत्पादिता अधिक होती है अत: अर्थव्यवस्था का यदि औद्योगिकरण होता है तो इससे राष्ट्रीय एवं प्रतिव्यक्ति आय में तेजी से वृद्धि हो पाएगी।

घ) तेजी से औद्योगिकरण केवल कृषि के विकास के ही लिए आवश्यक नहीं होता बल्कि अर्थव्यवस्था के अन्य सभी क्षेत्रकों के विकास के लिए आवश्यक होता है।

2) **सार्वजनिक और निजी क्षेत्रक की भूमिका (Role of public & private sector) :** भारी उद्योग क्षेत्रक में पक्वन अवधि (Gestation period) लम्बी होती है हो एवं उनमें लाभप्रदता कम होती है अत: निजी क्षेत्रक इसमें अपना धन लगाना नहीं चाहता। इसीलिए सरकार ने भारी उद्योग में निवेश करने की जिम्मेदारी सार्वजनिक क्षेत्रक को दिया। सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्रक को भारी उद्योगों की संवृद्धि और आधारिक संरचना की सुविधाओं के इंजन का रूप दिया।

3) **विदेशी सहायता की भूमिका (Role of Foreign Aid) :** नेहरू-महलनबिस युक्ति मॉडल में पूंजीगत पदार्थों एवं आधारिक संरचना क्षेत्रक की संवृद्धि में विदेशी सहायता की भूमिका को स्वीकार तो अवश्य किया गया था लेकिन उसमें देश के अंदर की बचत (domestic savings) पर होगा। चूँकि विदेशी सहायता अधिकांश रूप में ऋण के रूप में होगी अत: यह आवश्यक होगा कि निर्यात को बढ़ाने पर जोर दिया जाए ताकि आयात का भुगतान निर्यात में हुई वृद्धि से किया जा सके।

4. **लघु उद्योग की भूमिका (Role of small industries) :** नेहरू-महलनबिस युक्ति में माना गया था कि भारी उद्योग क्षेत्रक में निवेश तो बहुत बड़ी मात्रा में करना होता है लेकिन इससे रोजगार में बहुत अधिक वृद्धि नहीं होती। ऐसा इसलिए कि इस क्षेत्रक में किया गया निवेश पूंजी-प्रधान होता है। इसीलिए लघु उद्योगों में निवेश करना आवश्यक होगा जिससे उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा मिले तथा अधिकाधिक लोगों को रोजगार मिल सके।

5. **कृषि की भूमिका (Role of Agriculture) :** नेहरू-महलनबिस युक्ति में विकास की प्रक्रिया में कृषि की भूमिका को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया। कृषि की प्रमुख भूमिका को स्वीकार करते हुए नेहरू ने कहा था कि "हम देखेंगे कि कृषि का विकास और प्रगति किए बिना उद्योग के क्षेत्र में प्रगति नहीं हो सकती। हम सभी जानते हैं कि जब तक हम कृषि के क्षेत्र में स्वावलंबी नहीं हो जाते तब तक उद्योगों के विकास के लिए हमारे पास साधन नहीं हो सकते। यदि हमें खाद्यान्नों का आयात करना पड़ा तो हमारी प्रगति नहीं हो सकती। खाद्यान्नों तथा मशीनों दोनों का आयात करना संभव नहीं हो सकता।

विकास की नेहरू-महलनबिस युक्ति का मूल्यांकन

1956-90 काल में अपनाई गई इस युक्ति की मुख्य उपलब्धियां निम्नलिखित थीं:

1) भारी उद्योग युक्ति की सहायता से पूंजीगत माल क्षेत्रक का बहुत अधिक विस्तार हुआ है। जनता पार्टी की सरकार के छठी पंचवर्षीय योजना के ड्राफ्ट में इस उपलब्धि को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया गया: राष्ट्र के लिए यह गौरव की बात है कि इस अवधि के दौरान गतिहीन और पराश्रित अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण करके उसे स्वावलंबी बना दिया गया है।

2) सिंचाई, ऊर्जा, परिवहन, संचार आदि के रूप में आर्थिक आधारिक संरचना (economic infra-structure) का काफी विस्तार हुआ।

3) स्वास्थ्य और शिक्षा की सुविधाओं (स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, औषधालयों और अस्पतालों से संबंधित) के रूप में सामाजिक आधारिक संरचना का विस्तार हुआ।

4) इस देश में बचत और निवेश की दरों में बहुत महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

फिर भी इस युक्ति को कार्यान्वित करने के दौरान कुछ कमियां भी देखने में आईं जिन्हें नीचे दिया जा रहा है।

1) कृषि के क्षेत्र में प्रगति तो हुई परन्तु चूँकि इस क्षेत्रक के लिए साधनों का आबंटन कम मात्रा में किया गया था अत: इस प्रगति को पर्याप्त नहीं माना जा सकता। कृषि के विकास के लिए तो सिंचाई, बिजली, ऊर्वरकों, उपकरणों, पेस्टीनाशक दवाओं आदि में बहुत अधिक धन लगाने की आवश्यकता थी।

2) भारी उद्योग युक्ति (heavy industry strategy) पूंजी प्रधान वस्तुओं के आयात पर बहुत अधिक निर्भर थी। इसके फलस्वरूप विकास के पूंजी प्रधान स्वरूप का विकास हुआ। छोटे पैमाने के उद्योगों और उपभोक्ता पदार्थों को बनाने वाले उद्योगों की थोड़ी-बहुत उपेक्षा भी होने लगी। इस प्रकार भारी उद्योग युक्ति के फलस्वरूप एक ओर तो भुगतान संतुलन (balance of payment) की कठिनाइयां आईं और दूसरी ओर उन श्रमिकों को पर्याप्त रोजगार नहीं मिल सका जिनकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी।

3) सार्वजनिक क्षेत्रकों के प्रसार के फलस्वरूप उच्च लागत वाली अर्थव्यवस्था (high cost economy) का जन्म हुआ जिसमें कार्यकुशलता पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता था। केन्द्रीय सरकार के तथा राज्य सरकार के उपक्रम (जैसे विद्युत बोर्ड, सड़क परिवहन उपक्रम, सिंचाई कार्य आदि) काफी घाटे में चल रहे थे। अत: सरकार को सरकारी खजाने से उन पर धन खर्च करना पड़ता था।

4) पूंजीगत पदार्थ क्षेत्रक (capital goods sector) के प्रसार के लिए आयात करने होते थे उतना निर्यात नहीं हो पाता था जिसके फलस्वरूप प्रतिवर्ष व्यापार घाटा (trade deficit) होता रहा। इसी के फलस्वरूप एक के बाद एक योजनाओं में इस घाटे की मात्रा बढ़ती ही गई।

1) द्वितीय पंचवर्षीय योजना को बनाते समय क्या नेहरू-महलनबिस युक्ति औचित्य पूर्ण थी? यदि हाँ, तो कारण दीजिए।

.....

.....

.....

2) यदि नहीं, तो कारण दीजिए।

.....

.....

.....

1951-1990 के दौरान योजना की उपलब्धियां और उसकी विफलताएं

40 वर्ष के योजना-काल में विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रगति हुई है। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख उपलब्धियों के संबंध में विचार करना उचित होगा।

1) **राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि** : प्रथम 30 वर्षों (1950-51 से 1980-81 तक) में राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष औसत 3.4 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई लेकिन प्रति व्यक्ति आय में प्रति वर्ष आय 1.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्धन लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की दृष्टि से यह पर्याप्त नहीं था। लेकिन ब्रिटिश शासनकाल (1900-1950) में राष्ट्रीय आय में प्रतिवर्ष मात्र 0.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अत: इसकी तुलना में योजना काल में हुई वृद्धि महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि

(1980-81 कीमतें)

प्रति वर्ष चक्रवृद्धि दर	निबल राष्ट्रीय उत्पाद	प्रतिव्यक्ति आय
1950-51 से 1960-61	3.8	1.8
1960-61 से 1970-71	3.4	1.2
1970-71 से 1980-81	3.0	0.7
1950-51 से 1980-81	3.4	1.2
1980-81 से 1990-91	5.4	3.2

स्रोत : सी. एस. ओ., नेशनल एकाउंट्स स्टैटिस्टिक्स

1980-81 से 1990-91 तक की अवधि में अर्थव्यवस्था में अच्छी प्रगति हुई। इस अवधि में राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष 5.4 की दर से वृद्धि हुई, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि प्रति वर्ष 3.2 प्रतिशत की दर से हुई। यह वृद्धि काफी महत्वपूर्ण थी। यदि लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना है तो राष्ट्रीय में इस वृद्धि दर को केवल कायम ही नहीं रखना है बल्कि इसे और भी ऊँचा उठाने की आवश्यकता है।

2) **भारत में बचत में वृद्धि** : 1950-51 भारत में बचत की दर सकल देशीय उत्पाद (gross domeistic product) की केवल 10.4 प्रतिशत थी। पिछले 40 वर्ष में पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप 1991-92 में बचत की दर बढ़ कर 24.3 प्रतिशत हो गई। भारत की आर्थिक दृष्टि से यह बचत काफी संतोषपूर्ण है।

3) **खाद्यानों की प्रति व्यक्ति खपत में वृद्धि** : 1951 में खाद्यानों की प्रति दिन प्रति व्यक्ति खपत केवल 334 ग्राम थी। 1991 तक यह बढ़कर 471 हो गई, जो 41 प्रतिशत थी। इसे संतोषपूर्ण वृद्धि कहा जा सकता है। परन्तु दुख की बात यह है कि दालों की खपत 16 ग्राम से घटकर 40 ग्राम हो गई।

4) **अनेक प्रमुख उपभोक्ता वस्तुओं की प्रति व्यक्ति खपत में वृद्धि** : 1950-51 से 1990-91 के बीच की अवधि में खाद्य तेलों और वनस्पति की प्रति व्यक्ति खपत 3.1 कि०ग्रा० से बढ़कर 6.4 कि०ग्रा० हो गई, दूध से बने खाद्य पदार्थों की प्रति व्यक्ति खपत 47 कि०ग्रा० से बढ़कर 66.5 कि०ग्रा० हो गई, कपड़ा की प्रति व्यक्ति खपत 11 मीटर से बढ़कर 30 मीटर हो गई। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि हाथ से बने कपड़ों का उपयोग बहुत अधिक होने लगा।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य आरामदेह वस्तुओं का उपयोग भी बढ़ने लगा। साइकिलों, बिजली के पंखों, सिलाई की मशीनों, रेफ्रिजरेटरों, स्कूटर-मोपेडों, मोटर गाड़ियों, रेडियो, टेलीविजन सेटों आदि के बढ़ते हुए उपयोग से लोगों का जीवन और अधिक आराम से गुजरने लगा।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आम जनता के बीच जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उपयोग में वृद्धि हुई है हालांकि ऐसा सभी क्षेत्रों एवं सभी वर्गों के बीच समान रूप में नहीं हुआ है।

5) **सार्वजनिक क्षेत्रक की सहायता से पूंजीगत पदार्थ क्षेत्र में प्रभावशाली औद्योगीकरण संबंधी कार्य** : ब्रिटिश शासन काल में पूंजीगत पदार्थ क्षेत्र का विकास नहीं के बराबर हुआ था। दियासलाई, चीनी, सूती वस्त्र, कागज़, पटसन आदि जैसे कुछ उपभोक्ता वस्तु उद्योगों का विकास संरक्षण के अधीन होने दिया गया। अत: यह आवश्यकता था कि अर्थव्यस्था के औद्योगीकरण के कार्यक्रम में पूंजीगत माल क्षेत्र का विकास किया जाए। यही कारण था कि चूँकि निजी क्षेत्र पूंजीगत माल उद्योगों में भारी मात्रा में निवेश नहीं करना चाहता था। इसलिए ऐसा करने की जिम्मेदारी सार्वजनिक क्षेत्र को सौंपी गई। इसके फलस्वरूप इस्पात, सीमेंट, लोकोमोटिव, इंजीनियरी, मशीन गुड्स, रक्षा उद्योगों वायुयानों के निर्माण, जहाजरानी जैसे भारी उद्योगों का विकास हो सका। बिजली और परिवहन के विकास के कार्य में भी तेज़ी लाई गई। इन सब के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था का प्रभावशाली औद्योगीकरण हुआ और भारत में अर्थव्यवस्था के लिए औद्योगिक आधार बन सका।

6) **आर्थिक आधारिक संरचना का विकास** : एक अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि है ऊर्जा, परिहवन और सिंचाई के रूप में आर्थिक आधारिक संरचना (economic infrastructure) का निर्माण जो औद्योगीकरण के कार्यक्रम के लिए आधार बनाती है। 1950-51 में समस्त भारत में सड़क 400 हज़ार कि०मी० था। 1984-95 तक इसे बढ़ाकर 1,770 हज़ार कि०मी० कर दिया। यह चारगुना से अधिक वृद्धि थी।

उसी प्रकार सिंचाई के क्षेत्र में भी काफी तेजी से वृद्धि हुई है। 1950-51 में कुल सिंचित क्षेत्र 226 लाख हेक्टर था। 1991-92 तक यह क्षेत्र बढ़कर 728 हेक्टर हो गया। सिंचाई की क्षमता में इस तीव्र वृद्धि के फलस्वरूप कृषि के उत्पादन में अत्यंत वृद्धि हुई।

बिजली के उत्पादन और ऊर्जा की खपत के संबंध में भी काफी वृद्धि हुई है। 1950-51 में बिजली का उत्पादन केवल **6.6 बिलियन kwh** था। 1990-91 तक यह बढ़कर 269.4 बिलियन kwh हो गया। यह बहुत महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसके फलस्वरूप कृषि, उद्योग और सेवा क्षेत्रकों में हमारी उत्पादन क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि हुई। बिजली की प्रति व्यक्ति खपत भी 1950-51 के 13.2 kwh से बढ़कर 1990-91 में 220 kwh हो गई। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की आधारिक संरचना सबल हुई है।

7) **खाद्यान्नों और कच्चे माल में संबंध में स्वावलंबन** : सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि होने से रसायनिक उर्वरकों के साथ-साथ अधिक पैदावार वाली किस्म (HYV) की बीजों का उपयोग करना भी संभव हो गया। कृषि में इस जल-बीज-उर्वरक प्रौद्योगिकी (जिसे आमतौर पर हरित क्रांति कहा जाता है) की सहायता से खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाना संभव हो गया। इसी के फलस्वरूप 1950-

51 के 5.5 करोड़ टन से 1990-91 में 17.6 करोड़ टन खाद्यान्नों का उत्पादन होने लगा। और इसी के फलस्वरूप भारत खाद्यान्नों के लिए स्वावलंबी हो गया तथा इस देश में खाद्यान्नों का आयात बंद कर दिया गया। यही नहीं बल्कि गन्ना, पटसन और कपास के उत्पादन में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसके फलस्वरूप विदेशों से कृषि जनित कच्चे माल के आयात को कम करने में मदद मिली और कृषि पर आधारित उद्योगों में उत्पादन को बढ़ावा मिला।

8) **औद्योगिक ढाँचे का विविधीकरण (Diversification of industrial structure) :** पिछले 40 वर्षों की अवधि में भारत के औद्योगिक ढाँचे का बड़ी तेज़ी से विविधीकरण हुआ है। इस्पात, सीमेंट, मशीन टूल्स, लोकोमोटिव, ट्रैक्टर, व्यापारिक वाहन, डिजन इंजन, उर्वरक, पावर ट्रांसफार्मर, ड्रग और केमिकल्स जैसे नये-नये उद्योग स्थापित हुए हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की अवधि में ये उद्योग या तो शैशव अवस्था में थे या इनकी शुरूआत ही नहीं की गई थी। इसका अर्थ यह है कि औद्योगिक ढांचे का विविधीकरण हुआ है। इन उद्योगों के प्रबंध के लिए प्रशिक्षित वैज्ञानिक और तकनीकी कर्मचारियों की आवश्यकता थी। भारत ने तकनीशियनों और प्रबंधकों का एक बहुत बड़ा कॉडर तैयार किया है, जो विविधि औद्योगिक ढाँचे की आवश्यकताओं को पूरा कर सकते हैं। कहा जाता है कि तकनीकी जनशक्ति की दृष्टि से विश्व में भारत का स्थान चौथा है। इसके फलस्वरूप हम बाहर से बहुत ही कम विशेषज्ञों का आयात करते हैं। इतना ही नहीं बल्कि इस देश से मध्य पूर्व और अफ्रीका के देशों को बहुत बड़ी संख्या में इंजीनियरी और प्रौद्योगिकी के विशेषज्ञों का निर्यात होता है। हमारे देश के लिए यह बहुत ही गर्व की बात है।

9) **निर्यातों और आयात प्रतिस्थापन का विविधीकरण (Diversification of exports and import substitution):** औद्योगीकरण के फलस्वरूप पूंजीगत पदार्थों के आयात के संबंध में विदेशों पर भारत की निर्भरता घट गई है। उसी प्रकार अनेक प्रकार की उन उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन भारत में ही होने लगा है जिन्हें पहले बाहर से मंगाना पड़ता था। इसी के फलस्वरूप आयात प्रतिस्थापन हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारत से अब तैयार माल, खनिज और इंजीनियरी वस्तुओं का निर्यात होने लगा है। अब बहुत ही कम मात्रा में कच्चे माल का निर्यात होता है। यह अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण का सूचक है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि योजना के 40 वर्षों की अवधि में भारत में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हुईं। ये उपलब्धियाँ हैं- राष्ट्रीय और प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि; बचत की दर में तेज़ी से वृद्धि; ऊर्जा, सिंचाई, परिवहन और बिजली उत्पादन के रूप में आर्थिक आधारिक संरचना का विकास, खाद्यानों और कच्चे माल के संबंध में स्वावलंबी होना, औद्योगिक ढाँचे का विविधीकरण तथा पूंजी और उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र में आयात प्रतिस्थापन। इसके अतिरिक्त देश के विविध औद्योगिक ढाँचे के प्रबंध के लिए एक बहुत बड़ी तकनीकी जनशक्ति भी तैयार की गई। इस जनशक्ति की संख्या की दृष्टि से विश्व में भारत का स्थान चौथा है।

योजना की विफलताएँ

पिछले 40 वर्षों की अवधि में चलाई गई योजना की कुछ कमियाँ भी रही हैं जिन्हें नीचे दिया जा रहा है :

1) **जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग निर्धन है :** 40 वर्षों तक योजना के बाद भी 1987-88 में लगभग 31.3 करोड़ जनता गरीबी की रेखा के नीचे थी। यह संख्या कुल जनसंख्या का लगभग 39 प्रतिशत थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि 1973-74 की तुलना में निर्धन लोगों का अनुपात घटा था। 1973-74 में कुल जनसंख्या में 55 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा के नीचे थे, जबकि 1987-88 में यह संख्या घटकर 39 प्रतिशत हो गई। फिर भी यह अनुपात बहुत बड़ा था। कुल जनसंख्या में 40 प्रतिशत लोगों का गरीबी की रेखा के नीचे रहने को योजना की विफलता ही कहा जाएगा।

2) **बेरोजगारी और अल्परोज़गारी का जारी रहना :** योजना की प्रक्रिया भारत में बेरोजगारी को रोकने में असफल रही। लगभग 1.6 करोड़ लोग बिल्कुल ही बेरोज़गार थे। इसके अतिरिक्त 1990 के प्रारम्भ में लगभग 1.2 करोड़ लोगों को अल्परोज़गार ही प्राप्त था। इस प्रकार बेरोजगार लोगों

की संख्या 2.8 करोड़ थी। अत: कहा जा सकता है कि योजना की प्रक्रिया देश में बढ़ती हुई श्रम शक्ति को रोजगार प्रदान करने में असफल रही। रोजगार की व्यवस्था करने में असफलता के कारण योजना के प्रमुख उद्देश्यों में से एक को पूरा नहीं किया जा सका।

3) **अकुशल सार्वजनकि क्षेत्रक का विकास** : इसमें कोई संदेह नहीं कि भारी उद्योगों और बुनियादी उद्योगों को स्थापित करके तथा आर्थिक आधारिक संरचना का विकास करके सार्वजनिक क्षेत्रक ने औद्योगिक आधार की व्यवस्था में बहुत मदद की, परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सच है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को या तो बहुत अधिक हानि हो रही थी या उनसे होने वाली आय की दर बहुत ही कम थी। राज्य के स्तर पर राज्य बिजली बोर्डों को बहुत अधिक हानि हो रही थी। इन हानियों की पूर्ति सरकारी खजाने से करना होता है जिसमें रुपया लोगों द्वारा दिए गए करों के रूप में आता है। जिसका अर्थ है कि सार्वजनिक क्षेत्र में हुई हानि की पूर्ति आम जनता करती है। सार्वजनिक क्षेत्रों में होने वाली हानियों के कारण हैं- कर्मचारियों द्वारा अपने काम के प्रति उपेक्षा, क्षमता का अल्प उपयोग, आर्थिकेतर कीमत-निर्धारण नीतियाँ, आवश्यकता से अधिक लोगों को काम पर लगाना, ऊपरी व्ययों का अधिक होना, आदि। सार्वजनकि क्षेत्र को अधिकारियों को स्वायत्ता न मिलने के कारण निर्णय लेने के कार्य में विलम्ब होता है। राजनीतिज्ञों की ओर से हस्तक्षेप का होना तथा इन सब कारणों से कार्यकुशलता में कमी होना।

4) **देश में लाइसेंस परमिट राज का विकास:** उद्याग नीति को अमल में लाने के दौरान सरकार को लाइसेंस और परमिट प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा। लेकिन यह प्रणाली निजी क्षेत्र के लिए निवेश के संबंध में रुकावट सिद्ध हुई। किसी उद्यम की स्थापना के लिए पूंजी निर्गमन नियंत्रक (Controller of Capital Issues) से लाइसेंस लेना होता था। इसके बाद उद्योग के स्थान के संबंध में एक अन्य लाइसेंस उद्योग मंत्रालय से लेना होता था। प्लांट और मशीनरी के आयात के लिए एक तीसरा लाइसेंस विदेश व्यापार या वाणिज्य मंत्रालय से लेना होता था। व्यापारिक प्रतिष्ठानों को एकाधिकार तथा प्रतिबंधित व्यापारिक व्यवहार आयोग (MRTP Commission) से अनुमति पत्र लेना होता था कि वे बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों की श्रेणी में नहीं आते। विदेशी विनिमय विनियम अधिनियम (FERA) 1973 के प्रावधानों के अंतर्गत उन पर एक और नियंत्रण था। इसके फलस्वरूप देश में लाइसेंस परमिट राज की प्रणाली चल पड़ी जो केवल निवेश पर ही रोक नहीं लगाती या बल्कि इसके चलते लाइसेंस प्राप्त करने के दौरान भ्रष्टाचार बहुत अधिक बढ़ गया।

5) **विदेशी पूंजी को आकर्षित करने में विफलता:** इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ प्रोयाजनाएं विदेशी पूंजी की सहायता से ही विकसित की गईं, परन्तु विदेशी पूंजी में प्रवेश पर लगाए गए अनेकों प्रतिबंध देश में विदेशी पूंजी के निर्बाध रूप से प्रवेश में बाधक सिद्ध हुए। इसके फलस्वरूप हमारी अर्थव्यवस्था में विदेशी पूंजी का भाग बहुत ही कम रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन की विभिन्न लाइनों में तकनीक की कोटि को बढ़ाया (upgradation) नहीं जा सकता। विदेशी सहयोग से अतिरिक्त पूंजी प्राप्त होती, उन्नत कोटि की प्रौद्योगिकी उपलब्ध होती तथा आधारिक सरंचना को और सबल बनाया जा सकता था। पर इसे आकर्षित नहीं किया जा सका। इसके फलस्वरूप भारत के औद्योगिक विकास और आधारिक संरचना के विकास को क्षति हुई।

6) **आर्थिक शक्ति के केन्द्रण पर अनावश्यक जोर** : समाजवादी भाषा में सरकार आर्थिक शक्ति के केन्द्रण के मुद्दे पर बहुत अधिक जोर देती रही है। उसने बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर निवेश के संबंध में प्रतिबंध लगाया। इसका अर्थ यह है कि बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान उन क्षेत्रों में धन नहीं लगा सकते थे जिनमें बहुत बड़ी मात्रा में निवेश आवश्यक था। इसके फलस्वरूप क्षमता का अनाधिकृत विस्तार हुआ जिसकी संपुष्टि सरकार ने बाद में कर दी। इसके फलस्वरूप एक समानांतर अर्थव्यवस्था का भी विकास हुआ जिसे आम भाषा में चोर अर्थव्यवस्था (black economy) कहा जाता है। काले धन (black money) के सभी दुष्प्रभाव उन प्रतिबंधों के फलस्वरूप थे जो निजी क्षेत्र में निवेश के संबंध में बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर लगाए गए थे।

7) **मुद्रा स्फीति पर रोक लगाने में विफलता** : 40 वर्षों की योजना की एक प्रमुख कमी थी कीमतों में वृद्धि को रोकने में असफलता। 1981-82 और 1991-92 के बीच की अवधि में थोक कीमत सूचकांक में औसतन लगभग प्रतिवर्ष 8 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। कीमतों में इस तीव्र गति से इस वृद्धि का आम आदमी पर बहुत ही बुरा असर पड़ा जिसकी वास्तविक आय में हुई वृद्धि की दर कीमतों में वृद्धि की तुलना में बहुत ही कम थी।

40 वर्षों (1950-51 से 1990-91) तक चलाई गई योजना की प्रमुख विफलताओं के कारण आगे अपनाई जाने वाली आर्थिक नीतियों के संबंध में पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड़ी। प्रमुख मुद्दे ये थे:

प्रतिबंधात्मक नीति को जारी रखा जाए या अर्थव्यवस्था का उदारीकरण किया जाए। 1991 में घोषित नई उद्योग नीति (new industrial policy) के द्वारा जो आर्थिक सुधार लाए गए वे योजना की विफलताओं के उत्तर में थे। उसी प्रकार ये सुधार उन समाजवादी पूर्वाग्रहों (socialist bias) के भी उत्तर में थे जो सार्वजनिक क्षेत्र पर बहुत अधिक जोर देते हैं।

2.5 समकालीन आर्थिक सुधार (Contemporary Eco. Reforms)

1991 में पी० वी० नरसिंहराव के नेतृत्व में कांग्रेस (ई) पार्टी सत्ता में आई। इस सरकार ने आर्थिक नीतियों में आमूल परिवर्तन ला दिया। इस सरकार द्वारा लाए गए नये आर्थिक सुधारों के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे:

1) नौकरशाही के नियंत्रणों एवं अत्यधिक नियामक तंत्रों से भारतीय अर्थव्यवस्था को मुक्त करना।

2) अब तक जो क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित माने जाते थे उन्हें निजी क्षेत्रक के लिए भी खोल दिया जाए। ऐसा इसलिए कि सार्वजनिक क्षेत्रक से होने वाली आय की दर बहुत ही कम है या उनमें से कुछ को तो प्रतिवर्ष हानि हो रही है।

3) भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ने के लिए अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करना।

4) प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश पर लगाए गए प्रतिबंधों को हटाना।

5) निवेश के संबंध में औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर लगाए गए प्रतिबंधों को हटाना। यह कार्य MRTP अधिनियम द्वारा निर्धारित संपत्ति का अधिकतम सीमा को हटा कर करना होगा।

आर्थिक सुधारों का मुख्य जोर निजीकरण (privatisation) और विश्वव्यापीकरण (globalisation) पर है। श्रमिकों एवं वामपंथी दलों के विरोध के कारण सरकार सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों का स्वामित्व निजी क्षेत्र को तो नहीं दे सकी परन्तु वह अर्थव्यवस्था का उदारीकरण करने में सफल हो गई तथा उसने देशी तथा विदेशी दोनों ही प्रकार के निजी क्षेत्रों के लिए भारी उद्योगों तथा आर्थिक आधारिक संरचना के दरवाजे खोल दिये।

1991 में शुरू किए गए आर्थिक सुधार आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-92) की योजना युक्ति के आधार थे।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) काल में योजना युक्ति

इस काल की योजना युक्ति ने सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका की परिभाषा फिर से दी :

क) सार्वजनिक क्षेत्रक में निवेश को केवल आधारिक संरचना के क्षेत्रों तक ही सीमित रखा जाएगा जिससे विकास में सहायता मिल सके; और

ख) सार्वजनिक क्षेत्र अपना ध्यान स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी सामाजिक आवश्यकताओं पर केन्द्रित करेंगे तथा वे सार्वजनिक वितरण प्रणाली का कार्य अपने हाथ में लेंगे जिससे समाज के कमजोर वर्गों के हितों भी रक्षा की जा सके।

आठवीं योजना की युक्ति बाज़ार तंत्र (market mechanism) और योजना के विवेकसम्मत उपयोग की थी जिससे सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति की जा सके।

अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर में वृद्धि हो गई तथा 1994-95 में वह लगभग 6.3% थी।

विदेशी मुद्रा रिजर्व बढ़कर 21 बिलियन डॉलर हो गया।

उपर्युक्त सभी अच्छी बातें थीं, फिर भी सामाजिक न्याय की दृष्टि से ये बहुत संतोषजनक नहीं थीं क्योंकि

क) उपभोक्ता कीमत सूचकांक औसतम 11.6% बढ़ा।

ख) गरीबी की रेखा के नीचे के लोगों की संख्या में कोई विशेष कमी नहीं हुई।

ग) रोज़गार का लक्ष्य पूरा नहीं हो सका।

संवृद्धि की दृष्टि से तो आठवीं पंचवर्षीय योजना के रिकार्ड को संतोषजनक कहा जा सकता है। परन्तु बाज़ार उन्मुख युक्ति को सामाजिक न्याय की दृष्टि से सफल नहीं कहा जा सकता।

बोध प्रश्न ग E-30

भारत में समकालीन आर्थिक सुधारों के दो प्रमुख उद्देश्यों का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

2.6 सारांश

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान देश के आर्थिक विकास के लिए कांग्रेस ने जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने एक ओर तो उत्पादन के साधनों पर पूर्ण स्वामित्व के सोवियत मॉडल को और दूसरी ओर विकास के मुक्त पूंजीवादी मॉडल को अस्वीकृत कर दिया। इनके स्थान पर इसने मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढाँचे को अपनाया।

भारतीय समाज न तो निर्देशित अर्थव्यवस्था (Comman & Economy) वाले सोवियत मॉडल के पक्ष में था, जिसके अंतर्गत पूर्ण राष्ट्रीयकरण किया जाता है और न ही वह विकास के पूंजीवादी मॉडल के पक्ष में था जिसके अंतर्गत पूर्ण स्वामित्व पूंजीपतियों और भूस्वामियों के हाथ में होता है। इन दोनों के विपरीत उसने 'लोकतंत्रीय समाजवाद' को पसंद किया जिसके अंतर्गत मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढाँचे पर ज़ोर दिया जाता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था ने सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र के सहअस्तित्व को स्वीकार किया। लेकिन भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता यह थी कि इसने जानबूझकर सार्वजनिक क्षेत्र के क्षेत्र को बढ़ाकर इसमें रक्षा, भारी और बुनियादी उद्योगों, आर्थिक और सामजिक आधारिक संरचनाओं तथा लोकोपयोगी सेवाओं को भी शामिल करना था। शेष क्षेत्र को संवृद्धि के इंजन के रूप में काम करना था। शेष क्षेत्रों में निजी क्षेत्र को काम करने की स्वतंत्रता तो थी, फिर भी उसे सरकार द्वारा बनाई गई नियामक प्रणाली की सीमाओं को अंतर्गत रहते हुए कार्य करना था। सरकार ने उन क्षेत्रों में स्वामित्व पर रोक लगा दी जिनमें सामाहित हित के साथ संघर्ष होने की संभावना थी।

राष्ट्रीय योजना आयोग 1950 ई० में बनाया गया तथा इसके जिम्मे भारत आर्थिक विकास की योजना बनाने का काम सौंपा गया। आयोग ने योजना के निम्नलिखित दीर्घकालीन लक्ष्य निर्धारित किए :

क) उत्पादन में अधिकतम वृद्धि करना जिससे राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय के स्तर को बढ़ाया जा सके;

ख) पूर्ण रोज़गार की स्थिति लाना;

ग) भारी और बुनियादी उद्योगों पर विशेष ज़ोर देते हुए देश के औद्योगिकरण को बढ़ावा देना जिससे देश में स्वावलंबन की स्थिति लाई जा सके;
ड.) आय और संपत्ति में असमानता को कम करना; और
च) समानता, सामाजिक न्याय और शोषण-विहीनता पर आधारित समाजवादी रूप वाले समाज की स्थापना करना।

आर्थिक नीति में आमूल परिवर्तन लाने वाले आर्थिक सुधारों की शुरूआत 1991 में की गई। इसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे:

क) भारतीय अर्थव्यवस्था को अत्यधिक नौकरशाही-नियंत्रणों से मुक्त करना;
ख) अब तक जो क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित थे उन्हें निजी क्षेत्र के लिए खोल देना;
ग) भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ देना; और
ड.) MRTP अधिनियम द्वारा निर्धारित संपत्ति की अधिकतम सीमा को हटा कर निवेश के संबंध में औद्योगिक और व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर लगाए गए प्रतिबंधों को हटाना।

आर्थिक सुधारों में मुख्य रूप से ज़ोर निजीकरण और विश्वव्यापीकरण पर दिया गया है। पाँचवीं योजना (1992-97) की युक्ति का आधार नये आर्थिक सुधार थे। इसने सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका की परिभाषा फिर से दी।

क) सार्वजनिक क्षेत्र को क्षेत्रीय आधारिक संरचना तक सीमित रखा जाए, तथा
ख) सार्वजनिक क्षेत्र अपना ध्यान सामाजिक आधारिक संरचना पर केन्द्रित करे– अर्थात् शिक्षा, स्वास्थ्य और सार्वजनिक प्रणाली पर जो समाज के कमज़ोर वर्गों के हित में हो।

आठवीं पंचवर्षीय योजना प्रतिवर्ष 6.1% और संवृद्धि दर को प्राप्त करने तथा विदेशी मुद्रा रिजर्व को बढ़ाने में तो सफल रही लेकिन यह सामाजिक न्याय के क्षेत्र में सफलता प्राप्त न कर सकी-

उपभोक्ता कीमत सूचकांक 11.6% की दर से बढ़ गया, गरीबी की रेखा के नीचे के लोगों की संख्या में कोई विशेष कमी नहीं हुई तथा रोजगार का लक्ष्य पूरा नहीं हो सका।

2.7 शब्दावली

विकास का पूंजीवादी मॉडल (Capitalist Model of Development): इससे आशय उस प्रणाली से होता है जिसमें उत्पादन के सभी साधनों का स्वामित्व पूंजीपति वर्ग के हाथ मे होता है जो इन साधनों का उपयोग अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए करते हैं।

निर्देशित मॉडल (Command Model) : इससे आशय सोवियत प्रकार के योजनाबद्ध विकास से होता है, जिसके अंतर्गत उत्पादन और वितरण से संबंधित सभी निर्णय सर्वोच्च प्राधिकरण द्वारा लिए जाते हैं। इसके अंतर्गत बाज़ार शक्तियों की उपेक्षा की जाती है तथा यह प्रणाली केन्द्रीय सर्वोच्च प्राधिकरण के आदेशों के अनुसार कार्य करती हैं।

अर्थव्यवस्था के प्रभावशाली क्षेत्र (Commanding Heights of the Economy) : इस शब्द का प्रयोग 'बैंकिग और बीमा' के नियंत्रण के संदर्भ में किया गया। यदि बाज़ार शक्तियों को मुक्त रूप से कार्य करने दिया जाए तो निवेश का निर्देशन बाजार की शक्तियाँ करेगी, परन्तु यदि बैकिंग और बीमा का राष्ट्रीयकरण किया जाता है तो सरकार समाज के लिए वांछित चैनलों में निवेश करने के संबंध में निर्णय ले सकते हैं।

लोकतंत्रीय समाजवाद (Democratic Socialism) : लोकतंत्रीय समाज़ के ढाँचे के अंतर्गत सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक संवृद्धि। इस प्रकार यह सुनिश्चित कर दिया जाए कि सभी के लिए न्यूनतम जीवन स्तर की व्यवस्था हो, अधिकंतम रोज़गार के लिए कार्यक्रम बने तथा उसके साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को घटाने के लिए कार्यक्रम बने।

आर्थिक आधारिक संरचना (Economic Infrastructure) : इससे आशय उन आधारिक संरचनाओं के निर्माण से होता है जो सिंचाई, ऊर्जा, परिवहन और संचार के रूप में होती हैं।

विश्वव्यापीकरण (Globalisation) : इससे आशय उस प्रक्रिया से होता है जिसके द्वारा किसी देश की अर्थव्यवस्था को विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ा जाता है। इसके अंतर्गत चार पैरामीटर होते हैं:

i) व्यापार रोधों (Trade Barriers) को कम करना जिससे वस्तुओं और सेवाओं को राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार मुक्त रूप से ले जाया-ले आया जा सके;
ii) ऐसे पर्यावरण का निर्माण जिसके अंतर्गत राष्ट्र-राज्यों में पूंजी का मुख्य रूप से प्रवाह हो सके;
iii) ऐसे पर्यावरण का निर्माण जिसमें प्रौद्योगिकी का मुक्त रूप से प्रवाह हो सके; और
iv) ऐसे पर्यावरण का निर्माण जिसमें विभिन्न देशों के बीच श्रम का मुक्त रूप से आदान-प्रदान हो सके।

योजना का अवकाश काल (Plan Holiday) : इस शब्द से आशय उस अवधि से है जिसमें इस देश में पंचवर्षीय योजनाओं को बनाने का काम रोक दिया गया और वार्षिक योजना प्रणाली का आश्रय लिया गया। यह अवधि 1966-67 और 1968-69 वर्षों की थी।

निजीकरण (Privatisation): इससे आशय है सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यगों के स्वामित्व का हस्तांतरण निजी क्षेत्र (जो कंपनी, श्रमिकों की सहकारी सीमित या व्यक्ति के रूप में हो सकता है) को करने से होता है। यदि 100% स्वामित्व का हस्तांतरण किया जाता है तब वह विराष्ट्रीय करण (denationalisation) की स्थिति होगी। स्वामित्व का हस्तांतरण आंशिक रूप में भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में सार्वजनिक क्षेत्रक का उद्यम संयुक्त उद्यम (Joint Venture) का रूप ले लेता है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Public Distribution system) : इससे आशय उचित कीमत की दुकानों की प्रणाली से होता है जिनकी स्थापना कम आमदनी वाले व्यक्तियों के उपभोग की वस्तुओं का उचित कीमत पर बेचने के लिए की जाती है। ऐसी अनिवार्य वस्तुओं को खरीदने और उनका वितरण करने की जिम्मेदारी सरकार अपने ऊपर लेती है।

सामाजिक आधारिक संरचना (Social Infrastructure) : इससे आशय उस आधारिक संरचना से होता है जो स्कूलों, कालेजों, तकनीकी प्रशिक्षण संस्थाओं, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, अस्पतालों तथा परिवार नियोजन और कल्याण केन्द्रों के रूप में होती है।

2.8 स्व-परख प्रश्न

1) भारत में विकसित मिश्रित अर्थव्यवस्था की संकल्पना के प्रमुख तत्वों के संबंध में विवेचन कीजिए। सामजिक-आर्थिक दृष्टि से क्या आप इसे वांछनीय पर्यावरण मानते हैं?
2) भारत में योजना के दीर्घकालीन लक्ष्यों के संबंध में विवेचन कीजिए। योजना के 40 वर्षों के बाद इन लक्ष्यों की प्राप्ति कहाँ तक हो पाई है?
3) विकास की नेहरू-महलनबिस युक्ति के मुख्य तत्वों के संबंध में विवेचन कीजिए। इसकी प्रमुख उपलब्धियों और कमियों के संबंध में बताइए।
4) 1991 के बाद समकालीन आर्थिक सुधार जिन तर्कों के आधार पर शुरू किए गए हैं उनके संबंध में विवेचन कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 3 सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 सामाजिक संस्थाओं का विकास
3.3 जनांकिकीय परिवर्तन
  3.3.1 परिवर्तन का मात्रात्मक पक्ष
  3.3.2 परिवर्तन का गुणात्मक पक्ष
3.4 सांस्कृतिक कारक
3.5 प्रौद्योगिकी और सामाजिक परिवर्तन
3.6 बदलती हुई मूल्य व्यवस्था
3.7 व्यवसाय का सामाजिक दायित्व
  3.7.1 सामाजिक दायित्व के विपरीत मत
  3.7.2 व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के पक्ष में तर्क
  3.7.3 सामाजिक दायित्वों के आयाम
3.8 पारिस्थितिकी संबंधी मुद्दे
3.9 सारांश
3.10 शब्दावली
3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर
3.12 स्वपरख प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- भारत में जिन संस्थाओं का विकास हो रहा है उनके स्वरूप की व्याख्या कर सकें;
- इस देश में जनांकिकीय परिवर्तनों के मात्रात्मक और गुणात्मक पक्षों का वर्णन कर सकें;
- उन सांस्कृतिक कारकों को पहचान सकें जिनका सामाजिक पर्यावरण के साथ संबंध होता है;
- समाज पर प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के प्रभाव का वर्णन कर सकें;
- बदलती हुई मूल्य व्यवस्था के कारणों और प्रभावों की व्याख्या कर सकें;
- व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के पक्ष और विपक्ष के तर्कों का आलोचनात्मक परीक्षण कर सकें;
- यह समझ सकें कि पारिस्थितिक प्रश्नों के समाधान का प्रयास किस प्रकार किया जाता है।

3.1 प्रस्तावना

खंड 1 के पहले की इकाइयों में आपने व्यावसायिक पर्यावरण के अर्थ, महत्व और उसके घटकों के संबंध में पढ़ा तथा उसके पश्चात भारत के आर्थिक पर्यावरण का विहंगावलोकन किया। इस इकाई में आप व्यवसाय के सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण के विभिन्न आयामों के संबंध में पढ़ेंगे, विशेषत: भारत के संदर्भ में। इसके अतिरिक्त भारत में विकसित होती हुई सामाजिक संस्थाओं, जनांकिकीय परिवर्तनों के मात्रात्मक और गुणात्मक पक्षों, सामाजिक वातावरण में सांस्कृतिक कारकों, समाज पर बदलती हुई प्रौद्योगिकी का प्रभाव भारत की सामाजिक व्यवस्था में बदलती हुई मूल्य व्यवस्था, व्यवसाय द्वारा सामाजिक दायित्व को अपने ऊपर लेने संबंधी प्रश्न पर विभिन्न मतों तथा आधुनिक समय में जनांकिकीय मुद्दों के संबंध में विशेष रूप से विवेचन किया जाएगा।

3.2 सामाजिक संस्थाओं का विकास (Evolving Social Institutions)

व्यापार और उद्योग सहित व्यवसाय आज सामाजिक व्यवस्था का अभिन्न अंग बन गया है। समय गुजरने के साथ-साथ समाज का स्वरूप अनेक प्रकार से बदल गया है तथा उसी प्रकार व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की प्रवृत्ति और उनका रूप भी बदल गया है। पहले के एकात्मक समाज से बहुवादी समाज का विकास हुआ है। सामाजिक संस्थाओं में अन्योन्यक्रिया के जटिल स्वरूप को समझने के लिए अंतर को समझना आवश्यक है।

एकात्मक समाज (Monistic Society)

प्राचीन काल के एकात्मक समाज में मानवीय कार्यकलाप एकल सामाजिक संस्था-ग्राम समुदाय के संदर्भ में किए जाते थे। ऐसे समाज में सभी लोगों के कार्यों का निर्देशन रीतियों-रिवाजों द्वारा होता था तथा सभी गांव के बड़े-बूढ़े सभी लोगों का मार्ग दर्शन करते थे। लोगों के पेशे का निर्धारण मुख्यत: उनकी जाति द्वारा होता था। सामाजिक स्तरीकरण (social stratification) का आधार मुख्य रूप से जाति और पेशा होता था। नीची जाति में पैदा हुए लोगों से अपेक्षा की जाती थी कि वे उच्च जाति के लोगों के अधीन रहे कर कार्य करें। कुछ पेशों का स्थान कुछ अन्य पेशों की तुलना में नीचा माना जाता था। सम्पन्न और धनी होने के बावजूद व्यापारियों और व्यावसायियों का स्थान नीचा होता था जब कि अध्यापन करने और चिकित्सा करने जैसे पेशे वालों का समाज में ऊँचा स्थान होता था।

बहुवादी समाज (Pluralistic Society) : एकात्मक समाज का क्रमश: बहुवादी समाज के रूप विकास हुआ है। इस बहुवादी समाज में अनेक समुदाय होते हैं जिनको मिलाकर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है। इन समुदायों का गठन सदस्यों के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और पेशेवर हितों की रक्षा के लिए किया जाता है। यद्यपि लोग अपने हित में व्यक्तिगत रूप से कार्य करते हैं परन्तु उन्हें समुदाय के रूप में गठित किया जाता है तथा वे अपने आपसी हितों की रक्षा के लिए अपनी संस्थाएं बनाते हैं। इस प्रकार लोगों को विभिन्न हितों की रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार की संस्थाएं होती हैं।

सामाजिक व्यवस्था और व्यवसाय में अन्योन्य क्रिया (Interaction Between Social System and Business)

सामाजिक व्यवस्था के साथ अन्योन्य क्रिया की प्रक्रिया में व्यवसाय विभिन्न हित समूहों और संस्थाओं से प्रभावित होता है तथा यह विभिन्न संस्थाओं और हित समूहों को प्रभावित भी करता है। इस प्रकार व्यवसाय की स्वतंत्रता पर कई ओर से प्रतिबंध होता है। जैसे कि सार्वजनिक हित का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार की ओर से, श्रमिकों के हित का प्रतिनिधित्व करने वाले श्रमिक संघों की ओर से तथा उपभोक्ताओं के हित का प्रतिनिधित्व करनें वाले गैर सरकारी संगठनों (NGOs) की ओर से। इसके विपरीत बड़ी-बड़ी व्यापारिक कंपनियां केवल सरकारी नीतियों को ही प्रभावित नहीं करती बल्कि उन श्रमिक संघों को भी अपने काबू में रखती हैं जो श्रमिकों लिए अधिक मजदूरी और कार्य की अच्छी परिस्थितियों का दावा पेश करती हैं। व्यावसायिक हितों के संघों के भी पास जनमत को प्रभावित करने के लिए काफी राजनीतिक और सामाजिक शक्ति होती है।

समय गुरजने के साथ-साथ परंपरागत सामाजिक संस्थाओं में भी काफी परिवर्तन आया है। अब लोग उन पेशों से नहीं जुड़े हुए हैं जिनका संबंध परंपरागत रूप से जातियों के साथ रहा है। लोगों को अब ऐसे अवसर प्राप्त हैं कि वे अपनी योग्यता के अनुसार अपनी पसंद के किसी भी पेशे को अपना सकें। ऐसा करना औद्योगिक संवृद्धि और बड़े पैमाने के उन संगठनों के उदय के साथ हुआ है जिन्होंने पेशों के स्वरूप को और काम के प्रति लोगों के दृष्टिकोण को बदल दिया है। वंशागत कौशलों पर आधारित और जाति समूहों से जुड़े परंपरागत पेशों का महत्त्व अब समाप्त हो गया है। सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श को छोड़कर लोग उच्च जीवन-स्तर के सपने देखने लगे हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार अब आय-स्तर और संपत्ति हो गये हैं।

शिक्षा की सुविधाओं के प्रसार तथा परिवहन और संचार सुविधाओं में सुधार होने से अब लोगों में

गतिशीलता आ गई है और वे नगरों में आकर बसने लगे हैं। परिवार के सदस्यों में गतिशीलता आने तथा परिवार के सदस्यों की आय में असमानता के कारण संयुक्त परिवार धीरे-धीरे बिखरने लगा है। पेशों के स्वरूप में परिवर्तन के कारण अब लोगों की जीवन शैली और उपभोग के मापदंड में भी परिवर्तन आ गया है। महिलाएं अब बहुत बड़ी संख्या में श्रमबल में शामिल होने लगी हैं तथा विभिन्न प्रकार के कार्यों में वे पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने लगी हैं, इस कारण गृहिणी के रूप में उनकी परंपरागत भूमिका में काफी परिवर्तन हुआ है। स्त्रियों के बीच शिक्षा के प्रसार तथा परिवार द्वारा अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के प्रयास के फलस्वरूप ऐसा हुआ है।

सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन में अंतर्निहित हैं - सामाजिक वातावरण में परिवर्तन की शक्तियां अर्थात जनांकिकीय, सांस्कृतिक और प्रौद्योगिकीय परिवर्तन, जिनके संबंध में आगे की परिच्छेदों में चर्चा की गई है।

बोध प्रश्न क

1) एकात्मक समाज और बहुवादी समाज में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

2) बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत हैं :

i) एकात्मक समाज में रीति-रिवाजों और परंपराओं का अत्यधिक महत्व होता था।

ii) परंपरागत समाज में द्रव्य अर्जित करने और धन इकठ्ठा करने को अपराध माना जाता था अत: ऐसे अपराध करने वालों को दंड दिया जाता था।

iii) आधुनिक बहुवादी समाज में लोग वंशागत कौशल के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कौशल प्राप्त कर सकते हैं और अपनी योग्यता के अनुसार कोई भी पेशा अपना सकते हैं।

iv) बहुवादी समाज में अनेक हित वाले समूहों के द्वारा नियंत्रण और संतुलन (checks and balances) प्रणाली की व्यवस्था होती है।

v) आधुनिक समाज में समूह हित व्यक्तिगत हित की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है।

3.3 जनांकिकीय परिवर्तन (Demographic Changes)

जनसंख्या का आकार और उसकी गुणवत्ता को मिलाकर किसी देश की जनांकिकीय स्थिति बनती है और ये दोनों ही सामाजिक पर्यावरण के महत्वपूर्ण आयाम होते हैं। जनांकिकीय संक्रमण के सिद्धांत का परीक्षण करना लाभदायक हो सकता है जो जनांकिकीय परिवर्तनों के कारणों की व्याख्या करता है।

जनांकिकीय संक्रमण (demographic transition) का सिद्धांत यह बताता है कि जनसंख्या में वृद्धि की दर आर्थिक विकास की अवस्थाओं (चरणों) पर निर्भर होती है। इस प्रकार आदिम कृषि समाज में जनसंख्या की जन्म दर तथा मृत्यु दर इन दोनों ही के उच्च होने के कारण जनसंख्या की वृद्धि दर या तो स्थिर होती है या बहुत ही नीची होती है। उच्च जन्म दर के कारण है व्यापक निरक्षरता, कम उम्र में विवाह तथा परिवार नियोजन के संबंध में ज्ञान का अभाव। मृत्यु दर भी बहुत अधिक होती हैं, जिसके कारण हैं - गरीबी, पोषक आहार की कमी, पुराने ढंग की सफाई-व्यवस्था, चिकित्सा सुविधा का अभाव तथा महामारी की घटनाएं। इस अवस्था को जनांकिकीय संक्रमण की प्रथम अवस्था कहा जाता है।

विकासशील देशों में, जिनमें औद्योगिक विकास की शुरूआत होती है, जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होती है। इसे जनांकिकीय संक्रमण की दूसरी अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में चिकित्सा सेवाओं में सुधार होने, शिशु मृत्युदर के गिरने तथा जीवन-स्तर बेहतर होने के कारण मृत्युदर में तो बड़ी तेजी से गिरावट आती है परन्तु जन्म दर ऊँची बनी रहती है क्योंकि सामाजिक रीति-रिवाजों में तेजी से परिवर्तन नहीं आता,

निरक्षरता बनी रहती है तथा परिवार नियोजन के संबंध में लोगों को ज्ञान नहीं होता। इस अवस्था में विकास की प्रक्रिया धीमी होती है तथा जनसंख्या में वृद्धि की दर आर्थिक संवृद्धि की दर से अधिक होती है जिसके फलस्वरूप दुश्चक्र (vicious circle) चलता रहता है। जनसंख्या विस्फोट की इस अवस्था के साथ-साथ विकास का धूमिल चरण भी चलता रहता है जिसमें चिकित्सा की आधुनिक सुविधाओं के चलते गरीब लोगों की बहुत बड़ी संख्या की जान बचा ली जाती है। लेकिन ऐसे जीवित बचे लोगों का स्वास्थ्य गिरा रहता है, उन्हें पोषक आहार नहीं मिलता तथा उन्हें पर्याप्त शिक्षा नहीं मिलती जिसके फलस्वरूप मानव जीवन की गुणवत्ता में गिरावट आती है।

जनांकिकीय संक्रमण की तीसरी अवस्था का संबंध विकसित देशों के साथ होता है। आम लोगों साक्षर होने, संतति निरोध (birth control) की विधियों के व्यापक रूप से प्रयोग तथा उच्च जीवन स्तर के फलस्वरूप इस अवस्था में जन्मदर में तेजी से गिरावट आती है। स्वास्थ्य सेवाओं के बेहतर होने से मृत्यु दर में भी तेजी से गिरावट आती है।

भारत में जनांकिकीय परिवर्तन

जनांकिकीय संक्रमण की अवस्थाओं के उपर्युक्त विवरण में हम देखते हैं कि भारत संक्रमण के दूसरे चरण में है। लेकिन इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि भारत में जनांकिकीय परिवर्तनों का अध्ययन जनसंख्या के मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों ही पक्षों के संदर्भ में किया जाए। परिवर्तन का मात्रात्मक पक्ष जनसंख्या के आकार तथा जनसंख्या की वृद्धि दर तथा उसके घनत्व में दिखाई देता है जबकि परिवर्तन का गुणात्मक पक्ष आयु-संभाविता (life expectancy), उम्र एवं स्त्री-पुरुष संघटन, ग्राम-नगर वितरण साक्षरता आदि में दिखाई देता है।

3.3.1 परिवर्तन का मात्रात्मक पक्ष (Quantitative Aspects of Change)

जनसंख्या के आकार की दृष्टि से विश्व में चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान है। भारत की जनसंख्या 1951 में 36.10 करोड़ से बढ़कर 1991 में 84.39 करोड़ हो गई (सारणी 3.1)। 2000 ई० तक यह संख्या 100 करोड़ से अधिक हो जाने का अनुमान है।

सारणी 3.1 जनसंख्या में वृद्धि, 1951-91

वर्ष	जनसंख्या (करोड़)	पिछले दशक से वृद्धि (करोड़)
1951	36.10	4.23
1961	43.90	7.80
1971	54.80	10.90
1981	68.33	13.53
1991	84.39	16.06

जनसंख्या के आकार में तेजी से वृद्धि का अर्थ है कि जनसंख्या में वृद्धि की दर बहुत अधिक है। जैसा कि नीचे की सारणी से स्पष्ट है 1971 ई० तक जनसंख्या में वृद्धि की दर बहुत अधिक रही है (सारणी 3.2)।

सारणी 3.2 भारत में जनसंख्या की जन्मदर, मृत्यु दर और सहज वृद्धि दर
(प्रति वर्ष प्रति हजार जनसंख्या दर)

दशक	अशोधित जन्म दर	अशोधित मृत्यु दर	सहज वृद्धि दर
1941-51	39.9	27.4	12.5
1951-61	41.7	22.8	18.9
1961-71	41.2	19.0	22.2
1971-81	37.2	15.0	22.2
1981-91	32.5	11.4	21.1

(स्त्रोत: आठवीं पंचवर्षीय योजना, वॉल्यूम 1.P. 22)

जनसंख्या में वृद्धि की दर प्रवास, जन्म दर और मृत्यु दर के फलस्वरूप होती है। भारत में कुल जनसंख्या के अनुपात में शुद्ध प्रवास जनसंख्या में परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण नहीं होता। अत: जनसंख्या में वृद्धि दर की माप जन्म दर और मृत्यु दर में अंतर करता है। 1960 के दशक तक जन्म दर की तुलना में मृत्यु दर अधिक तेजी से गिर रही थी। ये दरें जनांकिकीय संक्रमण की द्वितीय अवस्था की सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल थी। जैसा कि ऊपर की सारणी में दिखाया गया है 1951-71 के बीच जन्म दर में कोई विशेष गिरावट नहीं आई लेकिन मृत्यु दर में गिरावट होती रही। अत: 1961-81 के बीच जनसंख्या की सहज वृद्धि दर (natural growth rate) प्रति हजार 22.2 अर्थात् 2.22 प्रतिशत हो गई जो अधिकतम थी। 1981-91 की अवधि में वृद्धि दर में थोड़ी गिरावट आई और यह 2.11 प्रतिशत प्रति वर्ष हो गई। यह कहा जा सकता है कि 1970 के दशक से जनांकिकीय संक्रमण की तीसरी अवस्था आने लगी। 1992-97 की अवधि में जनसंख्या वृद्धि दर के संबंध में किए गए प्रक्षेपण के अनुसार जन्म दर में प्रति हजार 27 की तथा मृत्यु दर में प्रति हजार 9.2 की गिरावट आने की संभावना थी, जिससे सहज वृद्धि दर 17.8 हो जाने का अनुमान था।

भारत के जनांकिकीय खाके की एक दूसरी विशेषता जनसंख्या का अत्यधिक घनत्व (भूमि क्षेत्र के प्रति की किलामीटर पर व्यक्तियों की संख्या का अनुपात) है। औसत घनत्व 267 है तथा इसे अत्यंत उच्च दर माना जाता है। जनसंख्या के घनत्व और आर्थिक विकास में संबंध का कोई आनुभाविक साक्ष्य नहीं है। जनसंख्या के कम घनत्व वाले देश हैं जिनमें से कुछ की प्रति व्यक्ति आय कम है जबकि कुछ की प्रति व्यक्ति आय अधिक है। 267 घनत्व वाले भारत की प्रति व्यक्ति आय 350 डालर है, जबकि 316 घनत्व वाले जापान की प्रति व्यक्ति आय 25,430 डालर है। जनसंख्या के घनत्व का अर्थ है भूमि क्षेत्र पर भार की मात्रा तथा विकास की संभावना। अत: भारत की जनसंख्या को अधिक घनत्व से अभिप्राय है भूमि पर अधिक भार का होना तथा जनसंख्या में और वृद्धि के फलस्वरूप इस घनत्व में और भी वृद्धि की संभावना।

3.3.2 परिवर्तन का गुणात्मक पक्ष (Quantitative Aspects of Change)

जनांकिकीय परिवर्तन के गुणात्मक पक्षों का संबंध आयु-संभाविता उम्र और स्त्री-पुरुष संघटन, ग्राम नगर वितरण, साक्षरता तथा ऐसे अन्य आयामों के साथ होता है।

किसी समुदाय का स्वास्थ्य और मृत्यु-दर का सामान्य स्तर जन्म के समय बच्चे के जीवन की माध्य संभाविता में प्रतिबिंबित होता है। यदि कम उम्र में ही मृत्यु हो जाती है या मृत्यु दर अधिक है तो आयु-संभाविता कम होती है। इसके विपरीत यदि मृत्यु अधिक उम्र में होती है तथा मृत्यु दर कम है तो आयु-संभाविता अधिक होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों में भारत में मृत्यु दर घटी है तथा आयु-संभाविता बढ़ी है। 1941-51 में माध्य 32.1 से बढ़कर यह 1961-70 में 45.6 तथा 1989-93 में 59.4 हो गई। 2000 ई० के लिए प्रक्षेपित जीवन-संभाविता 65 है। पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की आयु संभाविता सदा ही अधिक रही है।

यद्यपि भारत में आयु-संभाविता में वृद्धि हो रही है लेकिन एशिया के अनेक देशों की तुलना में, चीन (68.8), थाइलैंड (69.2), श्रीलंका (72.9), मलयेशिया (70.9), कोरिया (71.3), यह बहुत कम है। भारत के विभिन्न राज्यों आयु-संभाविता में अत्यधिक अंतर है। 1989-93 की अवधि में केरल में आयु-संभाविता 72.0, पंजाब में 66.4, महाराष्ट्र में 64.2, पश्चिम बंगाल में 61.5, उत्तर प्रदेश में 55.9, उड़ीसा में 55.5, असम में 54.9 तथा मध्य प्रदेश में 54.0 थी। जीवन-संभाविता में वृद्धि के फलस्वरूप रोज़गार पर दबाव बढ़ सकता है। सेवा-निवृत्ति की उम्र वाले लोग और कोई रोजगार प्राप्त करने को इच्छुक हो सकते हैं। परिवार के औसत आकार में वृद्धि होने से संयुक्त परिवारों या बहु-पीढ़ी वाले परिवारों की संख्या में वृद्धि हो सकती है।

आयु-संघटन (Age Composition)

आयु और स्त्री-पुरुष संघटन के संबंध में ध्यान देना मुख्यत: इसलिए आवश्यक होता है कि इससे श्रमजीवी जनसंख्या और नौकरी ढूंढने वालों के आकार में परिवर्तन तथा समाज में औरतों की भूमिका का पता चलता है। नीचे भारत में जनसंख्या का आयु संघटन दिखाया गया है (सारणी 3.3)।

सारणी 3.3 जनसंख्या का आयु-संघटन (प्रतिशत)

आयु वर्ग	1990	1995	200 (प्रक्षेपित)
0-14	36.00	34.62	31.361
15 - 59	57.50	58.43	60.79
60 और उससे ऊपर	6.5	6.95	7.58

(स्रोत : आठवीं पंचवर्षी योजना, वाल्यूँम I, प्रष्ठ 26)

उपर्युक्त आंकड़ा 'बटम हेमी' आयु पिरामिड दिखाता है, जिसमें कुल जनसंख्या में अल्पायु वाले लोगों का अनुपात अधिक होता है तथा उसमें वृद्धि होती जाती है। आयु-वितरण पराश्रितता अनुपात (dependency ratio) भी दिखाता है अर्थात् रोजी कमाने वालों पर आश्रित व्यक्तियों की औसत संख्या। भारत की जनसंख्या का पराश्रितता अनुपात 50% है (श्रमजीवी आयु वर्ग 15-59 में बेरोजगार व्यक्तियों को मिलाकर)। पराश्रितता अनुपात का यह स्तर उत्पादन तथा जीवनस्तर में सुधार पर भार सिद्ध होता है। बचत की दर निवेश, शिक्षा तथा कल्याण को भी यह प्रभावित करता है। लेकिन जन्म दर में कमी होने के साथ-साथ आशा की जाती है कि आयु-संघटन में परिवर्तन होगा जिसके फलस्वरूप पराश्रितता अनुपात घटेगा और श्रमजीवी आयु वर्ग का अनुपात बढ़ेगा। प्रक्षेपित आयु-संघटन दिखाता है कि 2000 ई० तक कुल जनसंख्या में श्रमजीवी आयु-वर्ग का अनुपात 60-80 प्रतिशत हो जाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जनसंख्या में वृद्धि दर में प्रक्षेपित गिरावट के बावजूद समय गुजरने के साथ-साथ रोजगार ढूंढने वालों की निरपेक्ष संख्या बढ़ने का अनुमान है।

स्त्री-पुरुष अनुपात (Sex-Composition)

सामाजिक कल्याण के विश्लेषण में स्त्री-पुरुष संघटन अर्थात् स्त्री-पुरुष अनुपात बहुत ही महत्वपूर्ण कारक है। भारत में प्रति 1000 पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या गिरती जा रही है। यह संख्या 1901 में 962, 1971 में 930 तथा 1991 में 929 थी। इसके विपरीत अन्य अधिकतर देशों की जनसंख्या में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या का अनुपात अधिक रहा है। उदाहरणार्थ प्रति 1000 पुरुषों पर यु.एस.ए. में स्त्रियों की संख्या 1055, यू.के. में 1069, जापान में 1171 तथा जर्मनी में 1118 है। संभवत: विश्व में स्त्री-पुरुष अनुपात सबसे कम भारत में है। यह इस बात का द्योतक है कि इस देश में स्त्रियों में मृत्यु दर बहुत अधिक है, उनके बीच अल्पपोषण की मात्रा बहुत अधिक है तथा स.म. में उनकी स्थिति नीची है। समय बीतने के साथ-साथ स्त्री-पुरुष अनुपात गिरने के बहुत से कारण रहे हैं, जैसे पोषक आहार के संबंध में उनके साथ भेदभाव, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को स्वास्थ्य आदि की सुविधाएं कम प्राप्त होना तथा बालिका हत्या (female infanticial) की संभावना।

कहा जा सकता है कि यदि जन्म के समय मृत्यु दर गिरती है और समाज में, विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रों में, स्त्रियों की स्थिति में सुधार होता है तो स्त्री-पुरुष अनुपात बढ़ेगा। विभिन्न राज्यों के बीच स्त्री-पुरुष अनुपात की तुलना से इस कथन की पुष्टि होती है। केरल और तमिलनाडु जैसे राज्यों में, जहाँ समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी है, उनकी संख्या क्रमश: 1040 और 972 है। इसके विपरीत हरियाणा जैसे राज्य में जहाँ समाज में स्त्रियों का स्थान नीचा है, यह संख्या 814 है।

नगरीकरण (Urbanisation)

सामान्यत: यह माना जाता है कि आर्थिक विकास और औद्योगिक संवृद्धि समाज के नगरीकरण के साथ संबंधित होते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि भारत में गांवों में रहने वालों की संख्या अधिक है, हांलांकि 1951 के बाद से नगरों में रहने वालों के अनुपात में लगातार वृद्धि हुई है। कुल जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या 1951 में 17.6 प्रतिशत से बढ़कर 1961 में 18.3 प्रतिशत तथा 1991 में 20.2 प्रतिशत हो गई। आशा की जाती है 2000 ई० तक यह संख्या 32 प्रतिशत हो जाएगी। समय बीतने के साथ-साथ नगरीय जनसंख्या में वृद्धि की दर बढ़ती गई है। 1951-61 के बीच यह वृद्धि दर लगभग 34 प्रतिशत थी जो 1961-71 के बीच बढ़कर 38 प्रतिशत तथा 1971-81 के बीच 47.01 प्रतिशत हो गई। लेकिन 1981-91 के बीच यह दर घट कर 36.91 प्रतिशत हो गई।

नगरीय क्षेत्रों में जनसंख्या के संकेंद्रण के कारण झुग्गी-झोपड़ियों की संख्या बढ़ी है जिससे स्वास्थ्य आदि से संबंधित गंभीर समस्याएं पैदा हुई हैं। इन समस्याओं से निपटने के लिए बड़ें शहरों के आसपास छोटे-छोटे शहरों को बसाने तथा वहाँ पर विनिर्माण उद्योगों को ले जाने की योजनाएं बनाई जा रही हैं।

साक्षरता (Literacy)

जनांकिकीय परिवर्तन का एक अन्य गुणात्मक पक्ष साक्षरता है। शिक्षा और आर्थिक कल्याण के स्तर के बीच घनिष्ठ सकारात्मक संबंध होता है। विश्व बैंक की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि जिन विकासशील देशों की साक्षरता अधिक है उनकी संवृद्धि तेजी से हुई है और उनकी भौतिक निवेश दर भी अधिक रही है। अनुभव के आधार पर देखा गया है कि साक्षरता दरों और अन्य विकास के संकेतकों के बीच बहुत अधिक संबंध होता है। 15 वर्ष और उससे अधिक उम्र वाली स्त्रियों में साक्षरता का सकारात्मक संबंध आधुनिक काम-धंधों में महिला श्रमिकों के प्रतिशत, विवाह के समय उनकी उम्र तथा गर्भ-निरोधक उपायों के प्रयोग के साथ होता है। उपर्युक्त में जितना ही अधिक सुधार होता है शिशु मृत्युदर तथा प्रजनन दर उतनी कम होती जाती है।

भारत में साक्षरता दर में वृद्धि 1951 में 18.3% से बढ़कर 1961 में 28.3%, 1971 में 34.5%, 1981 में 43.6% तथा 1991 में 52.2% हो गई। लेकिन राज्यों के बीच इस वृद्धि दर में बहुत अधिक अंतर रहा है। 1983-93 के बीच (1991 में केन्द्रित) औसत दर सबसे अधिक केरल में 89.89 प्रतिशत थी तथा सबसे कम बिहार में 38.8% थी। साक्षरता दर तथा जनांकिकीय चित्र के अन्य संकेतकों के बीच के संबंध को नीचे के चित्र (तालिका 3.4) में देखा जा सकता है।

तालिका 3.4
राज्यों में साक्षरता दर तथा अन्य संकेतक

राज्य	साक्षरता दर (1991)(%)	शिशु मृत्यु-दर (प्रति 1000)	मृत्यु दर (प्रति 1000)	जन्म दर (प्रति 1000)
आन्ध्र प्रदेश	44.9	66	8.3	24.0
असम	52.89	77	9.6	29.3
बिहार	38.48	73	10.5	32.1
गुजरात	61.29	62	7.6	26.7
हरियाणा	55.85	68	8.0	30.0
कर्नाटक	56.04	62	7.6	24.2
केरल	89.81	16	6.0	17.7
मध्यप्रदेश	44.20	99	11.1	33.0
महाराष्ट्र	64.87	55	7.0	24.5

उड़िसा	49.09	103	10.8	27.7
पंजाब	58.51	54	7.3	24.7
राजस्थान	38.55	85	9.1	33.2
तमिलनाडु	62.66	56	7.9	20.2
उत्तरप्रदेश	41.60	86	10.4	34.7
पश्चिम बंगाल	57.70	59	7.7	23.6
अखिल भारत	52.21	74	9.0	28.3

(स्त्रोत: भारत सरकार, इकानॉमिक सर्वे, 1996-97, पृष्ठ 185)

स्त्रियों और पुरुषों तथा गांवों और नगरों की जनसंख्या की दृष्टि से भी साक्षरता दरों में काफी अंतर रहा है। 1991 ई० में पुरुषों और स्त्रियों की साक्षरता दरें क्रमश: 64.13% और 39.29% थीं और इस प्रकार दोनों को मिलाकर साक्षरता दर 52.21% थी दूसरी ओर नगरीय क्षेत्रों में 69% पुरुष साक्षर थे जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में 42% साक्षर थे। नगरों में 51% स्त्रियों साक्षर थीं तथा गांवों में 19% स्त्रियां साक्षर थीं।

बोध-प्रश्न ख

1. जनांकिकीय संक्रमण की दूसरी अवस्था में जनसंख्या की वृद्धि दर क्यों बढ़ती है?

.....

.....

.....

2. निम्नलिखित के क्या संभावित प्रभाव हैं?

   क) भारत में आयु-संभाविता में वृद्धि

   ख) जनसंख्या का अत्यधिक घनत्व

   ग) 'बटम हेमी' आयु पिरामिड

   घ) उच्च पराश्रितता अनुपात

   क)

.....

.....

.....

   ख)

.....

.....

.....

   ग)

.....

.....

.....

घ)

.....

.....

.....

3. भारत के किन्हीं दो राज्यों का उदाहरण देकर दिखाइए कि जनांकिकीय चित्र के अन्य संकेतकों के साथ उच्च तथा निम्न साक्षरता दरों का क्या संबंध होता है?

.....

.....

.....

3.4 सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors)

'संस्कृति' शब्द के अंतर्गत मूल्य, मापदंड, कलाकृतियां तथा लोगों के स्वीकृत व्यवहार के स्वरूप आते हैं जिनका बहुत लम्बे काल के अंतर्गत समाज में विकास हुआ है। संस्कृति की परिभाषा व्यवहार की समग्रता (totality of behaviour) के रूप में भी दी जाती है जिसे मानव समाज आपने पुरखों से सीखता है और फिर उन्हें आगे आने वाली पीढ़ी को सिखाता है।

समाज में जो सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ है तथा अभी भी जो हो रहा है उसके कारक रहे हैं - विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में प्रगति, बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास तथा देश के अंदर एवं देश के बाहर परिवहन और संचार के साधनों में सुधार। औद्योगिक प्रगति के चलते विभिन्न प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं के लिए मांग होने लगी है, लोगों की रुचि और पसंद में परिवर्तन हुआ है तथा इन सभी का प्रभाव लोगों की आदतों और रीति-रिवाजों पर पड़ा है।

धर्म

धर्म संस्कृति का अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व है। यह मानवीय क्रियाओं के प्रति लोगों की अभिवृत्तियों, उनके नैतिक मूल्यों और आचारनीतियों को प्रभावित करता है। भारत में व्यवसाया को इसलिए बुरा माना गया है कि इसका संबंध धन अर्जन से है जिसे धर्म अच्छा नहीं मानता। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ इस धारणा में परिवर्तन आया है। फिर भी ईमानदारी सच्चाई तथा कष्ट में पड़े हुए लोगों के प्रति सहानुभूति ऐसे मौलिक मूल्य हैं जिनका धर्म के साथ गहरा संबंध होता है और इन्हें अपनाना लोग अच्छा मानते हैं। सामाजिक शक्ति के रूप में धर्म ने तो लोगों के बीच मजबूत संवेदात्मक बंधन की व्यवस्था की है परन्तु दूसरी ओर धार्मिक कट्टरपंथिता ने लोगों के दृष्टिकोण को फिरकावादी बना दिया है और इसके चलते लोग दूसरो के मत के प्रति हठधर्मी और असहिष्णु हो गये हैं।

भारतीय समाज विभिन्न धर्मों के लोगों से बना है। अलग-अलग धार्मिक समुदायों में अलग-अलग पंथ एवं संप्रदाय हैं। लोग अपनी आस्था के अनुसार धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करते हैं। उनकी आस्थाओं, आदतों और रीति-रिवाजों में उनके धर्म की झलक मिलती है। धर्म निरपेक्षता को भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष माना जाता है। धर्मनिरपेक्षता से आशय यह होता है कि राज्य, नैतिक सिद्धांत, शिक्षा आदि का धर्म से कोई संबंध नहीं होता। भारत के संविधान में यह सुनिश्चित कर दिया गया है कि भारत के नागरिकों को अपने-अपने धर्मों को पालने का अधिकार है परन्तु राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया हैं। इस प्रकार लोग अपने निजी और सामाजिक जीवन में अपने-अपने धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करते हैं लेकिन उनके सामाजिक दायित्वों पर धर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

धर्म निरपेक्षता के लाभकारी प्रभावों का परिक्षण करने पर हम पाएंगे कि इसका क्या महत्व है। पहली बात

तो यह है कि शिक्षा, रोजगार तथा सरकारी कार्यों से संबंधित लोगों के सार्वजनिक जीवन में धर्म के आधार पर उनके बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाता। दूसरी बात है कि विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के अनुयायी अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान एक साथ मिलकर करते हैं। खाद्य पदार्थों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के व्यवसाय के संबंध में ग्राहकों के साथ धार्मिक आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त चूँकि सभी धर्मों के बुनियादी मूल्य तथा आचारनीतियां एक जैसी हैं अत: सामान्य आधार पर उनके बीच एकता कायम रखी जा सकती है।

मूल्य (values)

संस्कृति का एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व मूल्य है। सभी समाजों के लोगों की मान्यता होती है कि कुछ आचार-विचार उनके लिए उचित होंगे। इन्हें मूल्य कहा जाता है। मूल्य प्रणाली से आशय यह होता है कि कुछ कार्यों को उनके उचित होने की प्राथमिकता और वांछनीय के सापेक्ष महत्व के आधार पर किया जाए। इसी के आधार पर व्यक्ति तथा व्यक्तियों का समूह अच्छे और बुरे के बीच अंतर कर पाता है। वह जान पाता है कि 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए'।

सामाजिक संदर्भ में मूल्यों के सापेक्ष महत्व को समझने के लिए उन्हें विभिन्न प्रकार के वर्गों में बांटा जा सकता है। जैसे कि सैद्धांतिक मूल्य (सत्यता और तर्कसंगतता), आर्थिक मूल्य (भौतिक लाभ और व्यावहारिकता), सामाजिक मूल्य (लोगों के प्रति प्रेम, समानता), राजनीतिक मूल्य (शक्ति प्राप्त करना), धार्मिक मूल्य (नैतिकता, सद्व्यवहार) और उपयोगितावादी मूल्य (अधिक लोगों की अधिकतम भलाई)। किसी मूल्य विशेष को कितनी प्राथमिकता दी जाती है यह इस बात पर निर्भर करता है कि समाज की संस्कृति और परंपरा क्या है। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि समाज में विभिन्न हितों वाले कौन से लोग हैं।

पश्चिम के समाजों में जिन मूल्यों की प्रधानता है वे एशिया के देशों के मूल्यों से भिन्न हैं। लेकिन मूल्य स्थायी (static) नहीं होते। मध्य युग में पश्चिम के देशों में धार्मिक मूल्यों की प्रधानता थी। लेकिन अब वहां स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है। मध्य युग में द्रव्य और संपत्ति की प्राप्ति (आर्थिक मूल्य) को दोषपूर्ण माना जाता था लेकिन पूंजीवादी समाज का तो यह प्रमुख गुण माना जाने लगा है। आगे चलकर अल्पविकसित देशों में भी ऐसा ही हुआ। भारत के स्वतंत्र होने के बाद के पिछले 50 वर्षों के दौरान इस देश के लोगों ने पाश्चात्य मूल्यों को अपना लिया है, विशेषत: नगरी क्षेत्रों में। धार्मिक और सामाजिक मूल्यों में स्थान पर लोग अब आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों पर अधिक बल देने लगे हैं।

3.5 प्रौद्योगिकी और सामाजिक परिवर्तन (Technology and Social Change)

सामाजिक परिवर्तनों को लाने में प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति का बहुत बड़ा योगदान रहा है। गत्यात्मक सामाजिक वातावरण में प्रौद्योगिकी प्राय: गुणक का कार्य करती है। उदाहरणार्थ इंटर्नल कंबुशन इंजन के आविष्कार और मोटरगाड़ियों के निर्माण की तकनीक का केवल व्यक्तियों और वस्तुओं के परिवहन एवं लोगों की गतिशीलता पर ही असर नहीं पड़ा बल्कि इन सबका प्रभाव आवास के स्थान, उपभोग के स्वरूप और जीवन शैली पर भी पड़ा है। प्रौद्योगिकीय प्रगति का एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ है कि उत्पादिता में वृद्धि हो गई है तथा उत्पादों की किस्मों में सुधार हुआ है। उत्पादिता में वृद्धि होने तथा अच्छी किस्म की वस्तुओं के बनने का लाभकारी प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक प्रणाली पर पड़ा है इन सब के फलस्वरूप अधिकाधिक लोग अब पहले से बेहतर और सुरक्षित जीवन जीने लगे हैं। समय के साथ-साथ प्रौद्योगिकीय प्रगति के फलस्वरूप जीवन स्तर में सुधार हुआ है, बीमारियों से मरने वालों की संख्या घटी है तथा पर्यावरण पर नियंत्रण की मात्रा बढ़ी है।

आधुनिक दूर संचार प्रणाली भी प्रौद्योगिकीय प्रगति का परिणाम है। एक ही साथ दूर-दूर के क्षेत्रों तक संचार की सुविधा हो जाने से ज्ञान तथा संदेश के प्रसार का कार्य आसान हो गया है। इससे समय तथा

शक्ति की बहुत अधिक बचत होने लगी है। टेलीकंफरेंसिग तथा अन्य संचार विधियों द्वारा दूरस्थ शिक्षा प्रणाली ने ज्ञान के प्रसार में बहुत अधिक योगदान दिया है। ऑडियो-विजुअल तथा इलेक्ट्रोनिक माध्यम (टेलीविजन) ने नये उत्पादों के विपणन तथा वर्तमान उत्पादों की सुधरी हुई किस्मों के विपणन के कार्य को बहुत अधिक आसान बना दिया है।

प्रौद्योगिकीय प्रगति के चलते श्रम की बचत करने वाले उपकरण आए हैं तथा जो काम हाथ से किए जाते थे वे अब स्वचालित मशीनों से किए जाते हैं और कार्यकुशलता बढ़ गई है। इन सब के फलस्वरूप आवश्यक हो गया है कि अधिकाधिक रूप से तकनीकी में दक्ष कामगरों को काम पर लगाया जाए। बड़े-बड़े संगठनों में लेखाकरण, भंडारण तथा आंकड़ों संबंधी जिन कार्यों को हाथ से किया जाता था उनका वहां पर कंप्यूटरीकरण किया जा रहा है। पत्र व्यवहार करने तथा प्रलेखों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए फैक्स और इंटरनेट सुविधाओं का प्रयोग किया जाने लगा है।

कुल मिलाकर देखने पर हम पाते हैं कि आज आधुनिक समाज की विशेषता उत्पादन, वितरण, परिवहन और संचार की ऐसी प्रणाली है जो पिछले दो सदियों में हुए प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों पर आधारित है। इससे बहुत बड़ी संख्या में लोगों में केवल जीवन-स्तर में ही सुधार नहीं हुआ है बल्कि बहुत बड़े क्षेत्रों में पहले से बेहतर सुविधाओं को उपलब्ध भी कराया जाने लगा है। इन सब से बड़ी बात यह है कि लोगों को बेहतर चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध कराई जा रही है और उनके स्वास्थ्य में सुधार हुआ है।

लेकिन प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के समाज के लिए अनेक अवांछनीय परिणाम भी हुए हैं। इन परिवर्तनों के द्वारा आज जो आर्थिक संवृद्धि हो रही है उनके कुछ प्रत्यक्ष दुष्परिणाम है - दुर्लभ प्राकृतिक संसाधनों का दुरुपयोग, वनोन्मूलन (deforestation) तथा पर्यावरण का प्रदूषण। अतृपय उपभोक्तावाद के चलते भौतिक मूल्यों ने नैतिक मूल्यों को अपने वश में कर दिया है, मनुष्य पर मशीनें हावी हो गई है तथा मानवीय मूल्यों में गिरावट आई है।

बोध प्रश्न ग

1. 'संस्कृति' का क्या अर्थ होता है?

.....

.....

.....

2. धर्मनिरपेक्षतावाद को भारतीय संस्कृति का बहुमूल्य पक्ष क्यों माना जाता है?

.....

.....

.....

3. संक्षेप में स्पष्ट कीजिए कि प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का गुणक प्रभाव किस प्रकार हो सकता है?

4. बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत हैं?

   i) विभिन्न समाजों की संस्कृति और परंपरा के अनुसार उनके मूल्यों में भी अंतर हो सकता है।

ii) भारत में हुए वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के फलस्वरूप इस देश की संस्कृति में भी परिवर्तन आया है।

iii) प्रौद्योगिकीय प्रगति अमिश्र वरदान (unmixed blessing) नहीं है।

iv) श्रम-बचत युक्तियों के फलस्वरूप लोगों में बेरोजगारी फैलती है लेकिन उन्हें यदि मशीनों पर कार्य करने का प्रशिक्षण दिया जाए तो बेरोजगारी से बचा जा सकता है।

3.6 बदलती हुई मूल्य व्यवस्था (Changing Value System)

समाज में बदलती हुई मूल्य व्यवस्था के महत्व का स्पष्टीकरण करने के पहले व्यक्तिगत मूल्यों और सामाजिक मूल्यों के अर्थ को स्पष्ट करना आवश्यक है।

व्यक्तिगत मूल्यों की परिभाषा हम इस रूप में कर सकते हैं कि किसी वस्तु या विचार के अच्छा या वांछनीय होने के संबंध में किसी व्यक्ति के आदर्श दृष्टिकोण क्या है। इस प्रकार मूल्य ने मानक या निर्देश चिह्न हैं जो किसी व्यक्ति के निर्णय, आचार और व्यवहार में उसका मार्गदर्शन करते हैं।

सामाजिक मूल्यों से आशय होता है वांछनीय लक्ष्यों और मानवीय आचार के संबंध में लोगों का सम्मिलित विश्वास। इस प्रकार व्यक्तिवाद ऐसे सामाजिक मूल्यों की प्रणाली में वांछनीय हो सकता है। जिसमें कार्यों के संबंध तथा दूसरों के साथ प्रतिस्पर्धा के संबंध में लोग अपने व्यक्तिगत हितों को ही ध्यान में रखते हैं ऐसे समाज में प्रतियोगिता में सफल होने को ही अच्छा माना जाता है। लेकिन कुछ ऐसे सामाजिक आदर्श भी हैं जो बताते हैं कि हारने वाले या जीतने वाले को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। लोग ऐसे व्यक्तियों को अच्छा नहीं मानते जो जीतने की स्थिति में दंभ से भर जाएं या हारने की स्थिति में बराबर शिकायत करते रहें।

मूल्य व्यवस्था से आशय मूल्यों के सेट से होता है जिसमें विभिन्न प्रकार के मूल्यों का स्थान उनकी प्राथमिकता के अनुसार होता है। उदाहरणार्थ अलग-अलग देशों वाले लोगों के मूल्य अलग-अलग प्रकार के होते हैं। व्यवसाय के प्रबंधक आर्थिक मूल्यों (भौतिक लाभ, व्यवहार्यता) को सामाजिक मूल्यों (लोगों के लिए प्यार, समानता) से ऊँचा स्थान देते हैं। और इसी आधार पर व्यवसाय संबंधी निर्णय लिए जाते हैं। इसके विपरीत सामाजिक मूल्यों की व्यवस्था में सैद्धांतिक मूल्यों (सच्चाई, ईमानदारी) का स्थान आर्थिक मूल्यों से ऊँचा हो सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक मूल्यों की व्यवस्था में ही धार्मिक मूल्यों (नैतिकता तथा नीतिपरायणता) का स्थान अन्य मूल्यों से ऊँचा होता है।

किसी समाज में स्थिरता अन्य बातों के अलावा उसकी मूल्य व्यवस्था पर निर्भर करती है। मूल्य व्यवस्था के संबंध में विचार किए बिना हम किसी समाज की प्रगति के संबंध में सोच नहीं सकते। फिर भी मूल्य और मूल्य व्यवस्था स्थिर संकल्पनाएँ नहीं है। मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन हो सकता है। अनेक समाजों में आधुनिक मूल्य व्यवस्था ने परंपरागत मूल्य व्यवस्था का स्थान ले लिया है। भारत में भी ऐसा ही हुआ है। नगरों में ऐसा बहुत हुआ है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भी इस प्रकार के परिवर्तन की प्रक्रिया दिखाई देने लगी है। ऐसे परिवर्तन के स्वरूप और उसके कारणों को नीचे दिया जा रहा है:

1) आर्थिक रूप से विकसित देशों में शिक्षा के प्रसार तथा मूल्य व्यवस्था के संबंध में जागरूकता के साथ आर्थिक मूल्यों तथा आर्थिक लाभ की प्राप्ति को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। उसी प्रकार राजनीतिक मूल्यों के अनुसार शक्ति की प्राप्ति को वांछनीय माना जाता है। और भारत के शिक्षित समाज का एक बहुत बड़ा भाग इससे प्रभावित हुआ है। इसके फलस्वरूप सामाजिक मूल्यों और धार्मिक मूल्यों का महत्व कम हो गया है।

2) आर्थिक समृद्धि के होने तथा व्यापार, द्रव्य और विनिमय के महत्व को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ है कि लोग अब मानने लगे हैं कि लाभ का अर्जन, धन का संचय, रुपया उधार देना और पूंजी का निवेश कार्य समाज के लिए हानिकारक नहीं होते। लोग तो अब निजी लाभ और व्यक्तिवाद के पुजारी बन गए हैं। इसके साथ ही साथ नीतिपरायणता, ईमानदारी तथा सच्चाई जैसे नैतिक मूल्यों में गिरावट के कारण सामाजिक ढाँचा टूटता हुआ नज़र आ रहा है।

3) लोकतंत्रीय मूल्यों (समान अधिकार), के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी है जिसके फलस्वरूप मानव गरिमा की वैद्यता तथा मानव अधिकारों की स्वीकृति जैसे कुछ सांस्कृतिक मूल्यों का महत्व बढ़ रहा है।

व्यावसायिक मूल्य

सामाजिक मूल्यों पर व्यावसायिक मूल्यों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। व्यावसायी वर्ग के पास सामाजिक और राजनीतिक शक्ति होती है तथा सामाजिक प्रश्नों के संबंध में वह जनमत को बदल सकता है। अत: समाज की संस्थाओं पर उसका बहुत अधिक प्रभाव होता है। सभी यह मानते हैं कि सरकारी नीतियों के निर्धारण में बड़ी-बड़ी व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का भी हाथ होता है। मिलिबैंड ने लिखा है (द स्टेट इन कैपिटेलिस्ट सोसाइटी, 1969) कि "आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर व्यवसाय का नियंत्रण होने के कारण सरकार व्यवसायों पर उन नीतियों को लागू नहीं कर पाती जिनका कि वे विरोध करते हैं।" ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने 1967 में अत्यधिक सुधारवादी कार्यक्रमों के साथ सरकार बनाया था। एस संबंध में मिलिबैंड ने लिखा है कि व्यावसायी वर्ग के साथ उस सरकार को निजी तौर पर बातचीत करके उन्हें आश्वासन देना पड़ा कि आर्थिक नीतियों के निर्धारण संबंधी सरकारी योजनाओं को बनाते समय उनके विचारों को पर्याप्त रूप से महत्व दिया जाएगा।

कंपनी उद्यमों में निर्णय लेने के संबध में जिन मूल्यों का विशेष योगदान होता है वे हैं– व्यक्तिगत मूल्य, समूह मूल्य, सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण के घटकों (ग्राहकों, सप्लायरों, प्रतियोगियों सरकारी एजेन्सियों) के मूल्य तथा समाज के सांस्कृतिक मूल्य। व्यावसायिक मूल्य उन कसौटियों से बनते हैं जो यह निर्धारित करती है कि अच्छा व्यवसाय क्या है, किन लक्ष्यों को प्राप्त करना है तथा किसके हित की प्राप्ति करनी है। व्यवसाय कार्य क्या केवल उनके मालिकों के निजी हित के लिए ही करने हैं? व्यवसाय को चलाने वालों का एकमात्र लक्ष्य क्या लाभ को अधिकतम करना ही है और इस संबंध में क्या उन्हें साधनों की अच्छाई-बुराई पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती? व्यवसाय में होने वाली समृद्धि में क्या श्रमिकों का कोई अंश नहीं होता? इन सब प्रश्नों के उत्तर में हम समाज की मूल्य व्यवस्था की झलक पाते हैं।

सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ तथा व्यावसायिक मूल्यों में परिवर्तन लाने की दृष्टि से भारत सरकार ने अनेक प्रकार के सामाजिक कानून बनाए है। ये हैं – वायु और जल प्रदूषण पर रोक और नियंत्रण, पर्यावरण का संरक्षण, श्रमिकों को उत्पादित और लाभ बोनस का भुगतान, उपभोक्ता संरक्षण और उपभोक्ता कल्याण, बेनामी सौदों पर निषेध आदि। इसके साथ ही साथ बड़े-बड़े व्यवसायिक प्रतिष्ठान भी अपने सामाजिक दायित्वों से अवगत हैं। उन्हें मालूम है कि उनका दायित्व अपने शेयर धारियों की प्रति होने के साथ ही साथ समाज तथा आम जनता के प्रति भी है।

बोध प्रश्न घ

1) 'मूल्य व्यवस्था' शब्द का क्या अर्थ होता है?

.....

.....

.....

2) भारतीय समाज में मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन को दिखाने वाले दो उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

3.7 व्यवसाय का सामाजिक दायित्व (Social Responsibilities of Business)

आधुनिक काल में नागरिकों के जीवन और समाज पर व्यावसायिक कार्यकलापों का विभिन्न रूप से बहुत बड़ा प्रभाव होता है। पूर्व-आधुनिक काल में व्यवसायी वर्ग के लिए व्यसाय के 'सामाजिक' मूल्य के संबंध में चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती थी क्योंकि उस समय आशा की जाती थी कि बाज़ार की शक्तियाँ मूल्य व्यवस्था को स्वयं ही बनाए रखेंगी। यदि कोई व्यवसाय सफल होता था तो यह माना जाता था वह अपने से कम सफल व्यवसाय की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों को अधिक बनाए रख रहा है। लेकिन आधुनिक युग के समाज - विज्ञानी ऐसा नहीं मानते। आज सभी मानते हैं कि व्यवसाय के अंतर्गत केवल ग्राहकों को संतुष्ट करके केवल आर्थिक लाभ को प्राप्त करना ही नहीं आता बल्कि उसका कर्तव्य तो कुछ सामाजिक दायित्वों को पूरा करना भी है। व्यवसाय के सामाजिक दायित्व से अभिप्राय होता है फर्म द्वारा उन नीतियों को अपनाना और उन कार्यों को करना जो समाज की आशाओं और उसके हित की दृष्टि से वांछनीय हों। परन्तु मिल्टन फ्रीडमैन, एफ.ए. हेयक और गिल्बर बर्क जैसे कुछ क्लासिकी अर्थशास्त्रियों की मान्यता 1970 के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक कुछ और ही थी। अब हम उन मतों के संबंध में विचार करेंगे जिनके अनुसार व्यवसाय का कोई सामाजिक दायित्व नहीं होता।

3.7.1 सामाजिक दायित्व के विपरीत मत (Views Against Social Responsibility)

1) व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के विपक्ष में प्रमुख दलील यह दी जाती है कि मुक्त उद्यम प्रणाली में व्यवसाय का प्रबंधक अपने नियोक्ता (मालिक) के धन को सामाजिक कार्यों में नहीं लगा सकता। यदि वह ऐसा करता है तो उसकी भूमिका किसी सरकारी नौकर जैसी हो जाती है। लेकिन उसकी नियुक्ति तो सरकारी नौकर के रूप में नहीं हुई है। अत: वह इस रूप में कार्य करने को सक्षम नहीं हो सकता। उसकी नियुक्ति तो व्यवसाय को चलाने के लिए एक विशेषज्ञ के रूप में हुई है। सार्वजनिक कार्यों के विशेषज्ञ के रूप में नहीं।

2) दूसरी दलील यह दी जाती है कि मुक्त उद्यम और श्रम विभाजन की स्थिति में जब तक संसाधन उन उद्यमों के नियंत्रण में रहते हैं जो अधिकतम मूल्य देने को तैयार हैं तब तक इन संसाधानों का उपयोग इस प्रकार होता रहेगा कि समाज के उत्पादन में उनका अधिकतम योगदान होता रहे। ऐसा उस स्थिति में होगा जब कि संसाधनों के उपयोग का निर्णय लेते समय प्रत्येक उद्यम उन प्रभावों के संबंध में विचार करेगा जो परिसंपत्तियों के मूल्य को बढ़ा देंगे तथा वह उद्यम इस संबंध में चिंता नहीं करता कि कोई विशेष उपयोग सामाजिक दृष्टि से लाभकारी है या नहीं, इसके साथ ही साथ दूसरी बात यह है कि उद्योग का प्रबंधक यदि उसके कोष का उपयोग यह ध्यान में रख कर करता है कि उनके सामाजिक दायित्व की दृष्टि के क्या वांछनीय है तो इसके फलस्रूप ऐसे अनियंत्रणीय शक्ति केन्द्र बन जाएंगे जिनके संबंध में पूंजी के निवेशकों ने सोचा भी नहीं था। यदि ऐसा नहीं होता तो कंपनी के प्रबंध पर सार्वजनिक नियंत्रण करना होगा।

3) व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के विरुद्ध तीसरी दलील यह दी जाती है कि प्रबंधकों से यदि अपेक्षा की जाती है कि वे सामाजिक कार्यों में रुपया लगाएं तो उत्पादक कार्यों में निवेश की मात्रा कम होगी। यदि हम मान लें कि सामाजिक कार्यों में धन लगाने के लिए कंपनियों के पास पर्याप्त मात्रा में संसाधन हैं तो भी इन कार्यों में बहुत मात्रा में धन लगाने से सकल राष्ट्रीय उत्पाद (G.N.P.) में वृद्धि की दर घट सकती है।

3.7.2 व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के पक्ष में तर्क (Case for Social Responsibility of Business)

यदि हम व्यवसाय को समाज व्यवस्था का अभिन्न अंग मान लें और मूल्य के प्रश्न को हम संकीर्ण आर्थिक ढाँचे में न लेकर व्यापक सामाजिक संदर्भ में लें तो व्यवसाय के सामाजिक दायित्व को अनेक आधार पर उचित ठहराया जा सकता है।

1) व्यावसायकि कार्यकलाप सामाजिक कार्यकलाप उतना ही होते हैं जितना कि वे आर्थिक कार्यकलाप होते हैं। अत: आवश्यक होता है कि व्यवसायी वर्ग सामाजिक एवं आर्थिक दोनों ही प्रकार के अपने कार्यों को सभी परिणामों के लिए उत्तरदायी हों।

2) बाजार व्यावसायिक कार्यकलापों के सामाजिक परिणामों के निर्णायक नहीं हो सकते। जिन आर्थिक तर्कों के आधार पर हम बाज़ार में घटने वाली घटनाओं के संबंध में विचार करते हैं उन्हें सामाजिक पहलुओं या सामाजिक मूल्यों से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

3) व्यावसायिक कार्यकलापों के सामाजिक परिणामों को देखते हुए समाज पर व्यवसाय के प्रभाव को केवल आर्थिक लाभ या सकल राष्ट्रीय उत्पाद के रूप में नहीं मापा जा सकता। समाज की अन्य संस्थाओं के उद्देश्यों के ही समान व्यवसाय का भी अंतिम उद्देश्य सामाजिक दृष्टि से लाभकारी होना ही होता है।

4) व्यवसाय का आकार जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे इसके कार्यों के प्रति जनता की रुचि बढ़ती जाती है क्योंकि समाज पर इनका बहुत अधिक प्रभाव होता है। व्यवसाय का जन्म समाज में ही होता है अत: व्यवसाय से जब समाज की अपेक्षाएं बढ़ जाती है तब व्यवसाय का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने उद्देश्यों में परिवर्तन लाए जिससे समाज की आशाएं पूरी हो सकें। यदि व्यवसाय सामाजिक मांगों के प्रति उदासीन रहता है तो समाज कानून बनाकर उसे ऐसा करने को मजबूर कर सकता है।

5) दीर्घकाल में व्यवसाय के स्वयं अपने ही हित में आवश्यक होता है कि वह समाज के प्रति उत्तरदायी हो जो लोग स्वास्थ्य एवं शिक्षित होते हैं तथा जिन्हें अपना विकास करने की सुविधाएं उपलब्ध होती हैं वे निर्धन, अज्ञानी तथा दलित व्यक्तियों की तुलना में अच्छे कर्मचारी ग्राहक तथा व्यवसाय के पड़ोसी होते हैं।

3.7.3 सामाजिक दायत्वों के आयाम (Dimensions of Social Responsibilities)

व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों के अंतर्गत आते हैं मालिकों (शेयरधारियों), कर्मचारियों, उपभोक्ताओं, सरकार, समाज तथा आम जनता के प्रति दायित्व। नीचे हम देखेंगे कि इनमें प्रत्येक के प्रति व्यवसाय के दायित्व का स्वरूप क्या होता है।

शेयर धारी

प्रत्येक व्यवसाय का प्रमुख दायित्व यह होता है कि मालिकों अर्थात् शेयरधारियों को उचित दर पर डिविडेंड प्राप्त होता रहे अर्थात् उन्होंने व्यवसाय में जो पूंजी लगाई है उस पर उन्हें उचित प्रतिफल प्राप्त होता रहे। शेयरधारी यदि व्यवसाय से ऐसी अपेक्ष करते हैं तो उनका ऐसा करना उचित ही होता है। यह भी सच है कि इस संबंध में जो आशा की जाए वह तर्क समाप्त हो तथा निवेश से संबंधित जोखिमों के अनुकूल हो। शेयरधारी यह भी चाहते हैं कि निवेशित पूंजी की आर्थिक और राजनीतिक सुरक्षा बनी रहे। यदि उन्हें ऐसी सुरक्षा का आश्वासन नहीं मिलता तो वे व्यवसाय से अपनी पूंजी वापस ले सकते हैं और उसका निवेश किसी अन्य व्यवसाय में कर सकते हैं।

कर्मचारी

जहाँ तक कर्मचारियों के प्रति जिम्मेदारी का प्रश्न है, नियोक्ता-कर्मचारी के बीच संबंध के बारे में जो मुद्दे उठते हैं वे हैं मजदूरी और वेतन अधिकारी और अधीनस्थ के संबंध तथा कर्मचारी-कल्याण। प्रबंध की जिम्मेदारी होती है कि श्रमिकों को उचित मजदूरी दे तथा ऐसी मजदूरी का आधार – पर्याप्तता, समानता और मानव-गरिमा का सिद्धांत हो। अधिकारियों और अधीनस्थों के बीच मधुर संबंध बनाए रखना तथा अधिकारियों के लिए कल्याण की सुविधाओं की व्यवस्था करना भी प्रबंध का दायित्व होता है। फैक्टरियों में काम करने वालों के संबंध में विशिष्ट प्रकार के कानून बनाए गए हैं जिनके अधीन नियोक्ताओं पर यह जिम्मेदारी डाली गई है कि वे श्रमिकों की सुरक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा सुविधाओं की व्यवस्था करें। बीमारी, काम के दौरान क्षतिग्रस्त होने या मृत्यु होने, भविष्य निधि, पेंशन आदि के संबंध में अन्य कानून भी बनाए गए हैं। फिर भी कर्मचारियों के कल्याण को कानून के सीमित दायरों में ही नहीं रखा जा सकता। कर्मचारियों का कल्याण तो सर्वाधिक तब हो पाता है जब अपने श्रमिकों को संतुष्ट रखने में प्रबंध सफल रहता हो तथा प्रशिक्षण और शिक्षा की सहायता से अपनी क्षमता को विकसित करने का अवसर कर्मचारियों को प्राप्त होता है।

उपभोक्ता

आमतौर पर यह माना जाता है कि प्रतिस्पर्धी बाज़ार में मांग और पूर्ति की शक्तियाँ उपभोक्ताओं के हित की रक्षा कर लेती हैं। लेकिन वास्तव में सभी उत्पाद बाज़ारों में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति नहीं होती। उपभोक्ता अनुचित व्यापार की क्रियाओं तथा व्यवसाय के अनैतिक व्यवहार के शिकार होते हैं। इसीलिए कानूनों को सहायता से उपभोक्ताओं को संरक्षण प्रदान करने का प्रयास किया गया है। तथा कुछ गैर सरकारी संगठनों (NGOs) ने उपभोक्ताओं की हितों की रक्षा को भी अपने कार्यों में शामिल कर लिया है। परन्तु व्यवसायों के प्रबंधक यदि उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को पूरा करने का काम अपने हाथ में ले तथा जमाखोरी, मुनाफाखोरी, कृत्रिम दुर्लभता की स्थिति को लाने तथा गलत प्रकार के तथा वाले गुमराह करने वाले विज्ञापन करने से अपने को रोकें तो सरकार या गैर सरकारी संगठनों को ऐसे कार्य नहीं करने पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त स्वयं व्यवसाय के लिए यह दीर्घकालीन हित में होगा कि वे उपभोक्ताओं को उचित मापदंड वाले और अच्छी किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराएं।

सरकार

सरकार के प्रति व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के अंतर्गत आवश्यक होता है कि

1) व्यवसाय अपने कार्यों का संपादन कानून के दायरे के अंतर्गत रहते हुए करे तथा ईमानदारी पूर्वक सभी प्रकार के करों आदि का भुगतान करे, तथा

2) अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रबंध न तो सरकारी नौकरों को घूस आदि दे और न ही रुपया खर्च करके किसी प्रकार की राजनीतिक सहायता प्राप्त करे।

समुदाय

समुदाय तथा आम जनता के प्रति व्यवसाय का सामाजिक दायित्व होता है अत: व्यवसायी वर्ग से अपेक्षा की जाती है कि वे व्यवसाय की आवश्यकताओं और समाज की आवश्यकताओं के बीच संतुलन बनाए रखें। व्यवसाय का प्रबंध इस प्रकार होना चाहिए कि समाज की भलाई को व्यवसाय की निजी भलाई माना जाए तथा उस पुराने सिद्धांत को छोड़ दिया जाए जिसमें कहा जाता था कि "व्यवसाय के लिए जो कुछ भला है, समाज के लिए भी वही भला है।"

पर्यावरण के संरक्षण, प्रदूषण पर नियंत्रण, प्राकृतिक संसाधनों को बनाए रखने, ग्रामीण विकास, पिछड़े हुए क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों की स्थापना, समाज के पिछड़े हुए तथ कमज़ोर तबके के लोगों को रोज़गार प्रदान करने तथा प्राकृतिक आपदाओं से ग्रस्त लोगों को राहत पहुँचाने आदि कार्यों के संबंध में व्यावसायिक फर्मों की नीतियों में उनके सामाजिक दायित्व की झलक मिलनी चाहिए।

3.8 पारिस्थितिकी संबंधी मुद्दे (Ecological Issues)

पारिस्थितिकी संबंधी मुद्दों पर विचार करने के पहले पारिस्थितिकी (Ecology) और पारिस्थितिक तंत्र (Ecosystem) शब्दों का अर्थ जानना आवश्यक है। **पारिस्थितिकी** शब्द का अर्थ है व्यक्तियों, फौना (पक्षियों और पशुओं), फ्लोरा (पौधे और पेड़) तथा भौतिक परिवेश में पारस्परिक संबंध। **पारिस्थितिक तंत्र** से अभिप्राय होता है पारिस्थितिकी के समुदाय में जीव और निर्जीव तत्वों की समग्रता जो आपस में तथा अपने पर्यावरण के साथ आदान-प्रदान करते हैं।

समय गुजरने के साथ-साथ पर्यावरण की हालत खराब होती गई है। सभी यह मानते हैं कि दीर्घकाल में भारत में आर्थिक विकास की गति को बनाए रखने के लिए पारिस्थितिक संतुलन (ecological balance) को बनाए रखना आवश्यक है। अनेक कारणों से संतुलित पारिस्थिति तंत्र का खतरा बढ़ता जा रहा है। इन कारणों को नीचे दिया जा रहा है:

1) औद्योगिक समृद्धि जिस प्रकार हुई है उसमें खतरनाक वस्तुओं का प्रयोग बढ़ा है तथा उनसे फ्लाई आश, फोस्फोजिप्सियन तथा बलास्ट फर्नेस स्लैग जैसी वस्तुओं का सृजन हुआ है। इन रद्दी वस्तुओं के भंडारण तथा उनको नष्ट करने आदि से संबंधित समस्याएं बढ़ गई हैं।

2) केमिकल और पेट्रोकेमिकल उद्योगों में वृद्धि ने टॉक्सिक तथा विस्फोटक रासायनिक पदार्थों पर नियंत्रण की गंभीर समस्याएं खड़ी कर दी हैं।

3) उद्योगों से निकली हुई खतरनाक वस्तुओं को नदियों में बहा दिया जाता है। जिससे उनका जल अत्यंत दूषित हो जाता है। इसके फलस्वरूप लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के एक सर्वेक्षण में कहा गया है कि 17 राज्यों के 241 क्लास दो नगरों में 90% जल दूषित है।

4) विनिर्माण उद्योगों तथा मोटरगाड़ियों आदि से निकलने वाले प्रदूषित पदार्थों ने वायुमंडल को खराब कर दिया है। मोटरगाड़ियों से निकलने वाले प्रदूषित पदार्थों से विशेष खतरा होता है। वे भूमि पर होते हैं तथा ऊँची मंजिल के मकान उन्हें ऊपर जाने से रोकते हैं। कोयला पर आधारित थर्मल पावर प्लांटों से विभिन्न प्रकार की जहरीली गैसें निकलती हैं, जिससे वायुमंडल दूषित होता है। इन सबके कारण एसिड की वर्षा होती है जिससे भूमि पर की वनस्पतियों और जल में रहने वाले प्राणियों के लिए भयंकर परिणाम होते हैं।

5) जनसंख्या पर बढ़ते हुए दबाव और व्यापक निर्धनता ने पर्यावरण को और भी दूषित कर दिया है। इससे दुर्लभ संसाधनों के उपयोग पर दबाव बढ़ता है। जंगलों के संसाधनों का ईंधन एवं चारा के रूप में अधिकाधिक उपयोग, वाणिज्य कार्यों के लिए उनका अधिकाधिक उपयोग, सड़कों तथा बिजली की परियोजनाओं के निर्माण आदि के कारण इन संसाधनों का बहुत ही दुरूपयोग हुआ है तथा जंगल कटते जा रहे हैं। अन्धाधुंध रूप से किए जा रहे वनोन्मूलन (deforestation) के कारण धरती की ऊपर तह बहती जा रही है जिससे भूमि की उत्पादिता घटती जा रही है।

6) पारिस्थितिक तंत्र पर दबाव भी उसी प्रकार की चिंता का विषय है। प्रवाल-शैलमालाओं (Coral reefs) के अविवेकपूर्ण दुरूपयोग का समुद्र के पारिस्थितिक तंत्र पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। समुद्र में चलनी वाली जहाजों तथा समुद्र तटीय रिफानरियों से निकलने वाले दूषित पदार्थों, नगरों से आने वाले कचरों तथा उद्योगों से आने वाले कचरों के कारण समुद्र का जल दूषित होता रहा है। इन सब के फलस्वरूप पक्षियों एवं मछलियों के जीवन को खतरा बढ़ता जा रहा है।

7) वनोन्मूलन के कारण पर्वतीय पारिस्थितिक प्रणाली को भी खतरा बढ़ता जा रहा है जिससे भूमि की परतें बहती जा रही हैं और लोगों की जीविका को खतरा उत्पन्न हो गया है।

समस्याएं और उनके समाधान के उपाय (Issues and Measures to Resolve the Issues)

पारिस्थितिक तंत्र में बढ़ते हुए असंतुलन और पर्यावरण की गुणवत्ता में गिरावट का प्रभाव धारणीय विकास (sustainable development) पर पड़ता है। पारिस्थितिकी और विकास में परस्पर संबंध इसलिए होता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हुई प्रगति के साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग में भी सुधार हुआ है। तथा इसके फलस्वरूप विकास की प्रक्रिया पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। परन्तु इसके साथ ही साथ इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि पर्याप्त रूप से विकास न होने के कारण लाखों व्यक्ति निर्धनता, कुपोषण, बीमारी आदि से पीड़ित हैं। यह भी सच है कि पर्यावरण संबंधी समस्याओं का कुछ हद तक कारण दरिद्रता तथा अल्पविकास भी है जिनका समाधान तेज़ी से विकास करके किया जा सकता है। लेकिन विकास की प्रक्रिया के कुछ अन्य प्रभाव पड़ते हैं जिनके चलते अनेक पर्यावरणी समस्याएं उत्पन्न होती हैं जिनका सामना आज भारत को करना पड़ रहा है।

इस समस्या का समाधान तभी किया जा सकता है जब हम यह महसूस करें कि प्रक्रिया में पर्यावरणी कारकों और पारिस्थितिकी संबंधी आवश्यकताओं को स्थान दिया जाए जिससे धारणीय विकास की जाति बनी रहे। इस चुनौती का सामना करने के लिए सरकार ने 1980 के दशक से अनेक प्रकार के कानूनों को बनाकर प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करने और पर्यावरणी प्रदूषण को रोकने के लिए अनेक उपाय किये हैं।

भारत में 1985 में पर्यावरण और वन मंत्रालय बनाया गया तथा जून 1992 में इस मंत्रालय ने एक नीति विवरण जारी करके पर्यावरण और विकास के संबंध में राष्ट्रीय संरक्षण युक्ति की घोषणा की। इस विवरण में जोर इस बात पर दिया गया था कि मंत्रालय की कार्य योजना की कुंजी 'धारणीय विकास' है। यह योजना इस प्रकार बनाई गई थी कि पर्यावरण को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए बिना ही वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संसाधनों के समुचित उपयोग की व्यवस्था हो सके।

उपर्युक्त नीति पर आधारित युक्ति एक संयोजित युक्ति है, जिसका उद्देश्य है प्रदूषण के नियंत्रण के कार्यक्रम को मजबूत बनाना, कचरों तथा खतरनाक सामग्रियों की उचित व्यवस्था करना तथा जंगलों एवं पारिस्थितिकतंत्र का संरक्षण करना। इस समय राष्ट्रीय वन नीति का मुख्य उद्देश्य है, पर्यावरण में स्थिरता लाना एवं पारिस्थितिक संतुलन को बनाए रखना। इस नीति के अन्तर्गत माना गया है कि वनों के अनेकों उपयोग हैं, स्थानीय लोगों के अपने अधिकार हैं, वन संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता है तथा लोगों के जीवन में वनों की बहुत अधिक भूमिका होती है।

नेशनल एफोरेस्टेशन एंड इको-डिवलपमेंट बोर्ड के जिम्में जो काम सौंपे गए हैं वे हैं आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को लागू करना, जो जंगल काट दिए गए हैं उनमें पुन: पेड़ों को लगाना तथा पारिस्थितिक दृष्टि से कमज़ोर भूमि को उर्वर बनाना। उसी प्रकार नेशनल वेस्टलैंड डिवलपमेंट बोर्ड का प्रमुख उद्देश्य है लोगों के सहयोग से वनरोपण के बहुत बड़े पैमाने पर कार्यक्रम के द्वारा बंजर भूमि को उपजाऊ बनाना। प्रदूषण को कम करने की सरकारी नीति के अंतर्गत सरकार ने प्रदूषण पर नियंत्रण करने के उपायों को अमल में लाने के साथ ही साथ आर्थिक और नीति संबंधी विधियों पर अमल करने पर भी जोर दिया हैं भारत सरकार ने पर्यावरण की दृष्टि महत्वपूर्ण और अत्यंत प्रदूषित सत्रह उद्योगों को निर्धारित किया है जिनके संबंध में विशेष कार्यवाही करने की आवश्यकता है। इन उद्योगों के अन्तर्गत आते हैं चीनी, उर्वरक, सीमेंट, अल्यूमीनियम, फमेंटेशन और डिस्टिलरी, पेट्रो-केमिकल्स, थर्मल पावर, कॉस्टिक सोडा, ऑयल रिफाइनरी, टैनरी, कॉपर स्मेल्टर्स, जिंक स्मेल्टर्स, आयरन एंड स्टील, पल्प और पेपर डाई और डाई इंटरमेडिएट्स, पेस्टिसाइड्स और फर्मासिटिकल्स। अनुवर्ती कार्रवाई के रूप में उन सभी उद्योगों के लिए पर्यावरणी अंकेक्षण आवश्यक कर दिया गया है जिसके लिए पर्यावरण की दृष्टि से स्वच्छ होना आवश्यक है। छोटी इकाइयों के लिए ऐसी योजनाएं कार्यान्वित की गई है जो प्रदूषण नियंत्रण सुविधाओं को संयुक्त रूप से स्थापित करने में सहायक हों।

प्रदूषण नियंत्रण युक्ति ने क्षेत्रों से संबंधित प्रदूषण समस्याओं पर जोर दिया है तथा देश के विभिन्न भागों में ऐसे अत्यंत प्रदूषित औद्योगिक क्षेत्रों को निर्धारित किया है जिन पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। विश्व बैंक की सहायता से चल रही औद्योगिक प्रदूषण नियंत्रण प्रायोजना के अंतर्गत सरकार

कूड़ा-कचरों से संबंधित कुशल तकनीकों को भी ला रही है। इसके अतिरिक्त ब्यूरो ऑफ इंडस्ट्रियल स्टैंडर्ड ने उन उद्योगों के उत्पादों के प्रमाणन के लिए 'इको-मार्क' योजना की शुरूआत की है जो निर्धारित प्रदूषण नियंत्रण मानक की आवश्यकताओं की पूर्ति करें तथा उत्पादन, पैकिंग एवं कचरों की सफाई के संबंध में पर्यावरण संबंधी कार्यों को करें।

भारत के विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तुओं के सरंक्षण के लिए आवश्यक है कि उनके आवास स्थान को भी संरक्षण प्रदान किया जाए। इसके अंतर्गत आते हैं नेशलन पार्क, वाइल्ड लाइफ सैंक्चुअरी तथा बाइस्फेयर रिजर्वों की देखभाल करना जिससे जंगलों में रहने वाले जीव-जन्तुओं की रक्षा हो सके। पारिस्थितिकी में अब तक जो विनाश हुए हैं उनमें सुधार के लिए संरक्षित स्थानों पर पौधों को उगाने एवं जड़ी बूटियों के पेड़ पौधों का वाणिज्य के रूप से लाभदायक दृष्टि से उपयोग करने की योजनाएं बनाई गई हैं। सरकार ने पर्यावरणी अनुसंधान, शिक्षा एवं प्रशिक्षण के संबंध में भी कदम उठाया है। वानिकी (forestry) के एक या दूसरे पक्ष पर अनुसंधान करने तथा क्षेत्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए अनेक अनुसंधान संस्थाओं की स्थापना की गई है।

बोध प्रश्न च

1) व्यवसाय के सामाजिक दायित्व का क्या अर्थ होता है ?

.....

.....

.....

2) बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत है ?

i) यदि व्यावसायिक फर्में सामाजिक कार्यों को करने लगती हैं तो इससे उत्पादक कार्यों में निवेश कम हो जाएगा परन्तु व्यवसाय में निवेश का अर्थ यह नहीं होता कि जीवन की गुणवत्ता में सुधार हो जाए।

ii) यदि व्यवसाय सामाजिक मांगों के प्रति उदासीन रहता है तो इसके द्वारा बेचे जाने वाले माल को कोई नहीं खरीदेगा।

iii) व्यवसाय मुख्यत: आर्थिक कार्यकलाप होता है परन्तु यह सामाजिक कार्यकलाप भी होता है।

iv) व्यवसाय का मार्गनिर्देशन इस सिद्धांत से होना चाहिए कि जो कुछ व्यवसाय के लिए भला है वह समाज के लिए भी भला है।

v) जो बातें कानून के दायरे में नहीं आतीं केवल उन्हीं के संबंध में व्यवसाय को अपना सामाजिक दायित्व मानना चाहिए।

vi) पर्यावरण के दूषित होने के संदर्भ में धारणीय विकास (sustainable development) मुख्य मुद्दा होता है।

vii) पारिस्थितिक तंत्र से अभिप्राय होता है जीव निर्जीव तत्वों की समग्रता जो आपस में तथा अपने पर्यावरण के साथ आदान-प्रदान करते हैं।

3.9 सारांश

समय गुजरने के साथ साथ भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार से परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन काल के एकात्मक समाज से बहुवादी समाज का विकास हुआ। बहुवादी समाज की विशेषता यह होती है कि इसके विभिन्न ग्रूपों का गठन इसके सदस्यों के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और पेशेवर हितों की रक्षा के लिए होता है। समय गुजरने के साथ-साथ व्यावसायकि उद्यमों के स्वरूप और प्रकार में भी परिवर्तन हो जाता है। एक ओर तो व्यवसाय विभिन्न हित समूहों और संस्थाओं से प्रभावित होता है परन्तु दूसरी

ओर वह अन्य संस्थाओं को प्रभावित करता है। समय गुजरने के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। वंशागत कौशलों पर आधारित और जाति से जुड़े हुए परंपरागत पेशों का महत्व समाप्त हो गया है। शिक्षा के अवसरों के विस्तार तथा परिवहन और संचार की सुविधाओं में सुधार होने के फलस्वरूप लोगों की गतिशीलता बढ़ी है। संयुक्त परिवार की संस्था धीरे-धीरे टूटती जा रही है। नगरीकरण के होने और पेशों के स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ लोगों की जीवन शैली और उपयोग के मापदंड में भी परिवर्तन हुआ है।

सामाजिक परिवर्तनों में अंतर्निहित है जनांकिकी के क्षेत्र में हुए परिवर्तन। भारत का जनांकिकीय खाका (demographic profile) दिखाता है कि मृत्यु दर में लगातार गिरावट आई है परन्तु जन्म दर ऊँची रही है, जिसे हम जनसंख्या की ऊँची वृद्धि दर में देख सकते हैं। इस प्रकार भारत को हम जनांकिकीय संक्रमण के दूसरी अवस्था में पाते हैं। लेकिन 1970 के दशक के साथ भारत में जनांकिकीय संक्रमण की तीसरी अवस्था का शुरूआत हुआ, जिसमें जन्म दर में गिरने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। भारत के जनांकिकीय खाके की एक अन्य विशेषता है जनसंख्या का अत्यधिक घनत्व जिससे आशय है भूमि पर भार का बढ़ जाना। जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ इस भार में और भी वृद्धि होने की संभावना है। जनसंख्या के आकार की दृष्टि विश्व में चीन के बाद भारत का दूसरा स्थान बना हुआ है।

जो सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं और जो अभी भी हो रहे हैं लोगों के उपभोग के स्वरूप, उनकी रुचि और पसंद तथा आदतों पर एवं रीति-रिवाजों में हुए परिवर्तनों में दिखाई पड़ते हैं। संस्कृति के एक तत्व के रूप में धर्म एक संवेदात्मक बंधन की व्यवस्था तो करता है परन्तु साथ ही साथ धार्मिक कट्टरपंथिता ने लोगों को फिरकावादी बना दिया है और इसके चलते लोग दूसरों के मत के प्रति हठधर्मी और असहिष्णु हो गए हैं। इस संदर्भ में धर्मनिरपेक्षतावाद को भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष माना जाता है। पिछले 50 वर्षों में लोगों ने आधुनिक और पाश्चात्य मूल्यों को अपनाया है। धार्मिक और सामाजिक मूल्यों के स्थान पर लोग अब आर्थिक और राजनैतिक मूल्यों पर अधिक बल देने लगे हैं।

सामाजिक परिवर्तनों को लाने में प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हुई प्रगति का बहुत बड़ा योगदान रहा है। प्रौद्योगिकी का प्राय: गुणक प्रभाव होता है। प्रौद्योगिकीय प्रगति के चलते उत्पादिता में वृद्धि हुई है और उत्पादों की किस्म में सुधार हुआ है। इसकी सहायता से ज्ञान और सूचना का प्रसार तेज़ी से किया जा सकता है तथा समय और शक्ति में काफी बचत हुई है। इससे कार्यकुशलता बढ़ी है तथा वस्तुओं की उत्पादन लागत घटी है। लेकिन प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के कुछ अवांछनीय परिणाम भी हुए हैं, जैसे कि उपभोक्तावादी का प्रसार, नैतिक मूल्यों पर भौतिक मूल्यों का हावी होना तथा मानवीय मूल्यों में गिरावट आना।

बदलती हुई मूल्य व्यवस्था भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक अन्य आयाम है। आर्थिक मूल्यों और भौतिक मूल्यों की प्राप्ति को अधिकाधिक महत्व दिया जा रहा है। देश की बहुत बड़ी संख्या राजनीतिक मूल्यों से प्रभावित हुई है। इसके साथ-साथ मूल्य व्यवस्था में सामाजिक और धार्मिक मूल्यों का महत्व कम हे गया है। लोग एक ओर तो निजी लाभ की प्राप्ति और व्यक्तिवाद के पुजारी बन गए हैं और दूसरी ओर नैतिक मूल्यों में गिरावट के कारण सामाजिक ढाँचे को खतरा उत्पन्न हो गया है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ तथा व्यावसायकि मूल्यों में परिवर्तन लाने की दृष्टि से सरकार ने अनेक कानून बनाए हैं। बड़े-बड़े व्यावसायकि प्रतिष्ठान अपने सामाजिक दायित्वों की मांग के प्रति सजग होते जा रहे हैं।

व्यवसाय के सामाजिक दायित्व से अभिप्राय होता है फर्म द्वारा उन नीतियों को अपनाना और उन कार्यों को करना जो समाज की आशाओं और उसके हित की दृष्टि से वांछनीय हों। व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के अंतर्गत आते हैं– मालिकों कर्मचारियों, उपभोक्ताओं, सरकार तथा समुदाय अथवा आम जनता के प्रति उसके दायित्व।

प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, पर्यावरणी संरक्षण तथा पर्यावरणी संतुलन को कायम रखने से संबंधित पारिस्थितिकी संबंधी मुद्दे धारणीय विकास के प्रश्न पर केन्द्रित होते हैं। पारिस्थितिक तंत्र पर खतरों के आने के अनेक कारण हैं, जैसे कि प्रौद्योगिकीय प्रगति, आर्थिक संवृद्धि, जनसंख्या पर दबाव तथा व्यापक दरिद्रता। हालांकि पर्यावरण संबंधी समस्याओं के कुछ सीमा तक कारण निर्धनता और अल्प-विकास भी होते हैं फिर भी विकास की प्रक्रिया भी अनेक पर्यावरणी समस्याओं को जन्म देती हैं। इन समस्याओं के समाधान के लिए सरकार ने अनेक प्रकार के कदम उठाए हैं।

3.10 शब्दावली

संस्कृति (Culture) : मूल्य, मापदंड, कलाकृतियाँ तथा लोगों के स्वीकृत व्यवहार। व्यवहार की समग्रता जिसे मानव समाज अपने पुरुखों से सिखता है।

जनांकिकीय संक्रमण का सिद्धांत (Theory of Demographic Transition) : आर्थिक विकास की अवस्था में परिवर्तन के साथ जनसंख्या में वृद्धि दर में परिवर्तन।

पराश्रितता अनुपात (Dependency Ratio) : अर्जन करने वाले व्यक्तियों पर आश्रित औसत व्यक्तियों की संख्या।

पारिस्थितिकी (Ecology) : व्यक्तियों, फौना, फ्लोरा और उनके भौतिक वातारण में परस्पर संबंध।

आर्थिक मूल्य (Economic Values) : भौतिक लाभ और कार्य की व्यवहार्यता की वांछनीयता।

पारिस्थितिक तंत्र (Eco-System) : पारिस्थितिकी के समुदाय में जीव और निर्जीव तत्वों की समग्रता जो आपस में तथा अपने पर्यावरण के साथ आदान-प्रदान करते हैं।

एकात्मक समाज (Monistic Society) : वह समाज जिसमें मानवीय कार्यकलाप एकल सामाजिक संख्या, अर्थात् ग्राम समुदाय, के संदर्भ में किए जाते थे।

राजनैतिक मूल्य (Political Value) : इस मूल्य के अंतर्गत शक्ति प्राप्त करने को वांछनीय माना जाता है।

बहुवादी समाज (Pluralistic Society) : वह समाज जिसकी सामाजिक व्यवस्था में अनेक हितों वाले समुदाय होते हैं।

धार्मिक मूल्य (Religious Value) : नैतिकता तथा नीतिपरायण आचार को अच्छा मानना।

स्त्री-पुरुष अनुपात (Sex-ratio) : स्त्री और पुरुष में अनुपात।

सामाजिक दायित्व (Social responsibility) : सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व।

सामाजिक मूल्य (Social Value) : लोगों से प्रेम करने और समाज में समानता लाने की वांछनीयता।

उपयोगितावादी मूल्य (Utilisation Value) : अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख लाने का सिद्धांत।

मूल्य (Values) : अच्छा और वांछनीय होने संबंधी आदर्शक मूल्य।

मूल्य व्यवस्था (Value System) : मूल्यों का सेट जिसमें विभिन्न प्रकार के मूल्यों का स्थान उनकी प्राथमिकता के अनुसार होता है।

3.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

क) 2. i) सही, ii) गलत, iii) सही, iv) सही, v) गलत

ग) 4. i) सही, ii) सही, iii) सही, iv) गलत

च) 2. i) सही, ii) गलत, iii) सही, iv) गलत, v) गलत, vi) सही, vii) सही

3.12 स्व-परख प्रश्न

1) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से भारतीय समाज में संस्थागत परिवर्तनों के स्वरूप के संबंध में विवेचन कीजिए।

2) सामाजिक व्यवस्था पर बदलती हुई प्रौद्योगिकी के प्रभाव का वर्णन कीजिए। क्या आप इस कथन से सहमत हैं प्रौद्योगिकीय प्रगति अमिश्रित वरदान नहीं है। इस संबंध में अपना मत स्पष्ट कीजिए।

3) जनांकिकीय संक्रमण को सिद्धांत का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिए। भारत के संदर्भ में इसका क्या महत्व है।

4) भारत की जनसंख्या वृद्धि दर, अत्यधिक घनत्व, आयु-संभाविता तथा गांवों और नगरों में जनसंख्या के बंटन के सामाजिक निहितार्थों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए। इस संबंध में घटनाओं की प्रवृत्तियों का विवेचन कीजिए।

5) संस्कृति के उन तत्वों को ज्ञात कीजिए जिनमें हाल के वर्षों में परिवर्तन हुआ है तथा जिन्होंने भारत के सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया है। संक्षेप में उनकी व्याख्या कीजिए।

6) मूल्य व्यवस्था में परिवर्तनों के स्वरूप और उनके कारणों का विवरण प्रस्तुत कीजिए तथा यह भी बताइए कि प्रगतिशील विचारों को लाने में उनका कहां तक योगदान रहा है।

7) व्यवसाय द्वारा सामाजिक दायित्व को अपने ऊपर लेना कहां तक तर्कसम्मत है, इस संबंध में विश्लेषण कीजिए। इस मत के विरोध में भी दलीलें दीजिए।

8) कर्मचारियों और समुदाय के प्रति व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

9) भारत के व्यावसायिक पर्यावरण के साथ में पारिस्थितिकी संबंधी मुद्दे कहाँ तक संबद्ध हैं?

10) पर्यावरण के प्रदूषण और धारणीय विकास के मुद्दों से निपटने के लिए सरकार की नीतियाँ किस प्रकार से कार्य कर रही हैं ?

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

खंड

2

व्यवसाय और सरकार

इकाई 4

भारतीय अर्थव्यवस्था का ढांचा 5

इकाई 5

व्यवसाय में सरकार की भूमिका 25

इकाई 6

समष्टि आर्थिक नीतियां 40

इकाई 7

उपभोक्ता संरक्षण 59

खंड 2 व्यवसाय और सरकार

व्यवसाय और सरकार के बीच एक जटिल संबंध है। इस संबंध को समझने के लिए हमें सिद्धांत और व्यवहार दोनों को सम्मिलित रूप में समझना होगा। पूंजीवादी, समाजवादी और मिश्रित अर्थव्यवस्था के अंतर्गत व्यवसाय कार्यकलाप में सरकार के हस्तक्षेप के सिद्धांत में काफी परिवर्तन आया है।

परंपरावादी पूंजीवादी समाज में यह माना जाता था कि सरकार को व्यावसायिक कार्यकलापों में कम हस्तक्षेप करना चाहिए, इसे केवल निजी व्यक्ति के हाथ में रहने देना चाहिए। समाजवादी विकास अर्थव्यवस्था के अंतर्गत सरकार को सम्पूर्ण कार्य सम्पादित करना पड़ता है और वह व्यवसाय कार्यकलाप में प्रत्यक्ष रूप से शामिल होता है। आजकल हर जगह मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रचलन है। इन मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में सरकार के हस्तक्षेप का रूप और तकनीक में भिन्नता होती है।

इस खंड में 4 इकाईयां हैं।

इकाई 4 **भारतीय अर्थव्यवस्था** के ढांचे से संबंधित है। यह भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास दर की प्रवृत्ति और भारत का वास्तविक आय का विश्लेषण करता है। इसक बाद इसमें स्वामित्व और संगठन के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन किया गया है।

इकाई 5 **व्यवसाय में सरकार की भूमिका** से संबंधित है। इसमें सरकार का व्यवसाय में भूमिका-नियामक, उद्यमकर्त्ता संबंधी, संवर्धनात्मक और योजना संबंधी भूमिका का वर्णन किया गया है। इसके बाद इसमें नई आर्थिक नीति के अंतर्गत सरकार की पुन: परिभाषित भूमिका का विवेचन किया गया है।

इकाई 6 **समष्टि आर्थिक नीतियों** पर केन्द्रित है। इसमें सरकार के राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति का अर्थ और उद्देश्यों का वर्णन किया गया है जिसका व्यवसाय और वातावरण पर प्रभाव पड़ता है। इसमें भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका और कार्यों का भी विवेचन किया गया है।

इकाई 7 **उपभोक्ता संरक्षण** से संबंधित है। इसमें उपभोक्ता आंदोलन का विकास तथा विभिन्न उपभोक्ता संरक्षण कानूनों की व्याख्या की गई है। साथ ही उपभोक्ता की अधिकारों और दायित्वों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उपभोक्ता संरक्षण कानून 1986 और एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम 1969 का इसमें विशेषरूप से विवेचन किया गया है।

इकाई 4 भारतीय अर्थव्यवस्था का ढाँचा

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 राष्ट्रीय आय की प्रवृत्तियां
  4.2.1 वास्तविक राष्ट्रीय आय का अर्थ
  4.2.2 वास्तविक राष्ट्रीय आय की प्रवृत्तियां
4.3 आर्थिक संवृद्धि
  4.3.1 आर्थिक संवृद्धि का अर्थ
  4.3.2 आर्थिक संवृद्धि की दर की प्रवृत्ति
4.4 आर्थिक विकास
  4.4.1 आर्थिक विकास का अर्थ
  4.4.2 विकास के उद्देश्य
  4.4.3 प्रति व्यक्ति वास्तविक आय की प्रवृत्ति
  4.4.4 गरीबी की प्रवृत्ति
  4.4.5 आय में असमानताओं की प्रवृत्ति
  4.4.6 विकास के अन्य सूचक
4.5 श्रमशक्ति में वृद्धि
  4.5.1 महिला श्रम भागीदारी दर
  4.5.2 व्यावसायिक ढांचा: कृषि बनाम गैर-कृषि
4.6 आर्थिक प्रणाली : स्वामित्व एवं संगठन का ढांचा
  4.6.1 भारत – एक मिश्रित अर्थव्यवस्था
  4.6.2 सार्वजनिक क्षेत्र
  4.6.3 निजी क्षेत्र
  4.6.4 संयुक्त क्षेत्र
  4.6.5 सहकारी क्षेत्र
4.7 सारांश
4.8 शब्दावली
4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.10 स्व-परख प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- वास्तविक आय का अर्थ समझा सकें तथा वास्तविक आय के प्रवृत्ति का विश्लेषण कर सकें।
- आर्थिक संवृद्धि का अर्थ समझा सकें।
- भारतीय अर्थव्यवस्था में संवृद्धि की दर के प्रवृत्ति का विश्लेषण कर सकें।
- आर्थिक विकास का अर्थ समझा सकें।
- विकास के उद्देश्य बता सकें।
- भारत में प्रति व्यक्ति आय की प्रवृत्ति का विश्लेषण कर सकें।
- भारत में गरीबी और आय की असमानताओं की मात्रा समझा सकें।
- भारत में श्रम भागीदारी दरों में परिवर्तनों का विश्लेषण कर सकें।
- स्वामित्व तथा संगठन के रूप में भारतीय आर्थिक प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं की रूपरेखा दे सकें।

4.1 प्रस्तावना

एक अर्थव्यवस्था से अभिप्राय उत्पादन इकाइयों और इन उत्पादन इकाईयों में लगे लोगों की आर्थिक क्रियाओं से है। इस तरह भारतीय अर्थव्यवस्था से अभिप्राय इसके खेतों, कारखानों, दुकानों, दफ्तरों, सरकारी विभागों, स्कूलों, कालिजों, सेवा केन्द्रों, खैराती संस्थानों और इस प्रकार किसी भी ऐसे व्यक्ति या संस्था से है जो वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में लगे हैं। इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि उत्पादन इकाई बड़ी है या छोटी, निजी है या सरकारी, वस्तु का उत्पादन करती है या सेवा का। उत्पादित वस्तुएँ व सेवाएँ चाहे बेचने के लिए है, स्वयं उपभोग के लिए हों या मुफ्त बांटने के लिए, इससे भी कोई अंतर नहीं पडता।

एक उत्पादन इकाई चार संसाधनों के स्वामित्यों का एक प्रकार का एक संघ है जो भूमि, श्रम, पूंजी व उद्रयमकर्ता प्रदान करते हैं और ये मिलकर किसी वस्तु या सेवा का उत्पादन करते हैं। इनके सामुहिक योगदान को 'मूल्य संवृद्धि' (value added) की संज्ञा दी जाती है। इन साधन स्वामियों का इस मूल्य संवृद्धि में मजदूरी, किराया, ब्याज व लाभ के रूप में हिस्सा होता है। इस रूप में भारत के निवासियों को प्राप्त सभी आयों का योग राष्ट्रीय आय कहलाता है।

राष्ट्रीय आय से व्यावसायिक वातावरण से सम्बद्ध अर्थव्यवस्था के ढांचे के बारे में पता चलता है। इसके परिणाम से यह पता चलतां है कि देश कितना गरीब है या कितना अमीर। इसमें परिवर्तन की दर से आर्थिक संवृद्धि की दर का पता चलता है। इसके फैलाव से यह पता चलता है कि देश कि विभिन्न आर्थिक व सामाजिक वर्गों के बीच आय किस प्रकार बंटी है। इसके घटकों से यह पता चलता है कि मांग का ढांचा क्या है और लोगों की पसंद क्या है।

राष्ट्रीय आय कितनी है और यह वर्गो के बीच किस प्रकार बंटी है, यह महत्वपूर्ण है। लेकिन राष्ट्रीय आय कैसे कमायी गयी है यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है। यह तो आप जानते ही हैं कि राष्ट्रीय आय चार उत्पादन साधनों के सामुहिक प्रयत्नों का परिणाम है। अतः राष्ट्रीय आय के निर्धारण में साधनों की गुणवत्ता काफी महत्वपूर्ण हो जाती है। साथ-साथ उपयोग में लायी गयी प्रौद्योगिकी, बुनियादी सुविधाएं, उत्पादिता, आदि भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं;

साधनों में श्रम अर्थव्यवस्था के ढांचे का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। वास्तव में सभी आर्थिक क्रियाएँ इसी से प्रारम्भ होती है और इसी पर समाप्त होती हैं। आराम से जीवन गुजारने की इच्छा मनुष्य को अपने आपक़ों और अपने आश्रितों को पालने के लिए काम करने के लिए प्रेरित करती है। इस तरह आयु, लिंग, व्यवसाय, कुशलता, शिक्षा आदि के आधार पर श्रम शक्ति की रचना देश के व्यावसायिक वातावरण का एक महत्वपूर्ण निर्धारक है।

एक देश के व्यावसायिक वातावरण आर्थिक व गैर-आर्थिक और भी निर्धारक तत्व है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का ढांचा, वित्तीय संस्थाएँ, परिवहन सुविधाएँ, शिक्षा संस्थाएँ, बाजार संगठन, आवास आदि आर्थिक निर्धारक तत्वों के कुछ उदाहरण हैं। राजनीतिक स्थिरता, सामाजिक ढांचा, लोगों के विचार, रीति रिवाज, आदि और गैर-आर्थिक निर्धारक तत्वों के कुछ उदाहरण हैं। इस प्रकार एक देश के आर्थिक और व्यावसायिक वातावरण का निर्धारण करने वाले ढांचा सम्बंधी बहुत से पहलू हैं। लेकिन इस पाठ में हम केवल राष्ट्रीय आय, आर्थिक संवृद्धि, आर्थिक विकास, श्रम शक्ति, व्यावसायिक ढांचा, उत्पादन कार्यों के स्वामित्व और संगठन के ढांचे के बारे में ही चर्चा करेंगे।

4.2 राष्ट्रीय आय की प्रवृत्तियाँ

राष्ट्रीय आय से अभिप्राय साधन स्वामियों को मजदूरी, वेतन, किराया, ब्याज व लाभ के रूप में होने वाली आय से है। इस प्रकार भारत की राष्ट्रीय आय भारतीय निवासियों को प्राप्त वह आय है जो उन्हें देश विदेश के उत्पादन कार्यों में भाग लेने से प्राप्त होती है।

2.1 वास्तविक राष्ट्रीय आय का अर्थ

आय हम कमाते हैं उसका क्या उपयोग है? स्पष्ट है कि हम इससे वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदते हैं। पैसे हमें वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदने की शक्ति प्राप्त होती है। यदि किसी व्यक्ति की आय 50,000 रुपये प्रतिवर्ष तो इसका अर्थ है कि उसके पास 50,000 रुपये तक खरीदारी करने की क्षमता है। एक साधारण ाहरण लेकर इस बात को हम और स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिये देश में केवल एक ही वस्तु 'क' उत्पादन होता है। यह भी मान लीजिए कि इस वस्तु की कीमत 50 रु. प्रति इकाई है। अत: 50,000 रु. एक व्यक्ति वस्तु क की 1000 इकाइयाँ (=50,000/50) खरीद सकता है। इस उदाहरण से हमें मौद्रिक य और वास्तविक आय में भेद करने में सहायता मिलती है। इसमें 50,000 रु. की आय मौद्रिक आय है कि वस्तु 'क' की 1000 इकाईयाँ वास्तविक आय है। **वास्तविक आय से अभिप्राय वस्तुओं व सेवाओं उस मात्रा से है जो हम मौद्रिक आय से खरीद सकते हैं।**

क व्यक्ति को इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि वह कितनी आय कमाता है बल्कि इस बात से अंतर ता है कि वह इस आय से क्या-क्या खरीद सकता है। अत: मौद्रिक आय की अपेक्षा वास्तविक आय अधि मायने रखती है। जो बात एक व्यक्ति के बारे में ठीक बैठती है वही देश के बारे में भी ठीक बैठती है। भिन्न वर्षों में यदि किसी देश की राष्ट्रीय आय की तुलना करनी हो तो यह वास्तविक राष्ट्रीय आय की ही ी है।

स्तविक राष्ट्रीय आय के तकनीकी माप को स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय कहा जाता है। मौद्रिक ष्ट्रीय आय को चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय कहते हैं। इन दोनों अवधारणाओं में अंतर को हम एक ाहरण की सहायता से समझा सकते हैं। यह उदाहरण तालिका 4.1 में दिया गया है।

तालिका 4.1 : मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय

र्ष	मौद्रिक आय	'क' की कीमत (रु. प्रति इकाई)	मौद्रिक आय से खरीदी जा सकने वाली 'क' की मात्रा
991	30,000	40	750
996	50,000	50	1000

रोक्त उदाहरण (तालिका 4.1) में 1991 और 1996 के बीच मौद्रिक आय 66 प्रतिशत बढ़ी जबकि त्तविक आय केवल 33 प्रतिशत। इसका अर्थ यह हुआ कि देश में 33 प्रतिशित प्रगति हुई है न कि 66 ेशत। क्योंकि देश को पांच वर्ष में केवल 33 प्रतिशत अधिक वस्तुएँ व सेवाएँ ही मिल रही हैं। अत: र कीमतों पर राष्ट्रीय आय ही तुलना का आधार हो सकता है।

2.2 वास्तविक राष्ट्रीय आय की प्रवृत्तियाँ

प राष्ट्रीय आय और स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय का अर्थ समझ चुके हैं। इससे आपको भारत में ट्रीय आय में होने वाले परिवर्तनों को समझने में सहायता मिलेगी। यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि थर कीमतों पर राष्ट्रीय आय' एक सावधानी से चुने गये वर्ष की कीमतों के आधार पर मापी जाती है। । वर्ष को आधार वर्ष कहते हैं। भारत के अनुमानों का वर्तमान (यानि वर्ष 1991 में) आधार वर्ष 1980- है। कोई भी आधार वर्ष स्थायी नहीं होता। भारत में हर दस वर्ष बाद यह आधार वर्ष बदलता है। रत की राष्ट्रीय आय की प्रवृत्तियाँ तालिका 4.2 में दी गयी हैं।

तालिका 4.2 : भारत की राष्ट्रीय आय : 1991-51 to 1995-96

(साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद)

वर्ष	चालू कीमतों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद				स्थिर कीमतों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (1980-81 की कीमतें)			
	कुल (करोड़ रु.)	वार्षिक वृद्धि दर	प्रति व्यक्ति (रु.)	वार्षिक वृद्धि दर	कुल (करोड़ रु.)	वार्षिक वृद्धि दर	प्रति व्यक्ति (रु.)	वार्षिक वृद्धि दर
1	2	3	4	5	6	7	8	9
1950-51	8574	--	238.8	--	40554	--	1126.9	--
1951-52	9034	5.4	247.5	3.6	41443	2.4	1135.4	0.8
1952.53	8882	-1.7	238.8	-3.5	42613	2.8	1145.5	0.9
1953-54	9696	9.2	255.8	7.1	45292	6.3	1195.1	4.3
1954-55	9023	-6.9	233.8	-8.6	47111	4.0	1220.5	2.1
1955-56	9161	1.5	233.1	-0.3	48288	2.5	1228.7	0.7
1956-57	10972	19.8	273.6	17.4	50955	5.5	1270.7	3.4
1957-58	11177	1.9	273.3	-0.1	50051	-1.8	1223.7	-3.7
1958-59	12459	11.5	298.1	9.1	53869	7.6	1288.7	5.3
1959-60	13035	4.6	306.0	2.7	54775	1.7	1285.8	-0.2
1960-61	14242	9.3	328.2	7.3	58602	7.0	1350.3	5.0
1961-62	14946	4.9	336.6	2.6	60168	2.7	1355.1	0.4
1962-63	15947	6.7	351.3	4.4	61165	1.7	1347.2	-0.6
1963-64	18258	14.5	393.6	12.0	64216	5.0	1384.0	2.7
1964-65	21373	17.1	450.9	14.6	68942	7.4	1454.5	5.1
1965-66	22247	4.1	458.7	1.7	65734	-4.7	1355.3	-6.8
1966-67	25215	13.3	509.4	11.1	66089	0.5	1335.1	-1.5
1967-68	29745	18.0	587.8	15.4	71519	8.2	1413.4	5.9
1968-69	31311	5.3	604.5	2.8	73285	2.5	1414.8	0.1
1969-70	34421	9.9	650.7	7.6	78177	6.7	1477.8	4.5
1970-71	36503	6.0	674.7	3.7	82211	5.2	1519.6	2.8
1971-72	38717	6.1	698.9	3.6	82675	0.6	1492.3	-1.8
1972-73	42510	9.8	749.7	7.3	81991	-0.8	1446.0	-3.1
1973-74	52362	23.2	902.8	20.4	86010	4.9	1482.9	2.6
1974-75	61290	17.1	1033.6	14.5	87116	1.3	1469.1	-0.9
1975-76	64623	5.4	1064.6	3.0	95433	9.5	1572.5	7.0
1976-77	69523	7.6	1121.3	5.3	96253	0.9	1552.5	-1.3
1977-78	79749	14.7	1257.9	12.2	103670	7.7	1625.2	5.3
1978-79	85298	7.0	1316.3	4.6	109466	5.6	1689.3	3.3

1979-80	92324	8.2	1390.4	5.6	102937	-6.0	1550.3	-8.2
1980-81	110685	19.9	1630.1	17.2	110685	7.5	1630.1	5.1
1981-82	128797	16.4	1861.2	14.2	117140	5.8	1692.8	3.8
1982-83	141875	10.2	2003.9	7.7	119704	2.2	1690.7	-0.1
1983-84	166550	17.4	2303.6	15.0	129392	8.1	1789.7	5.9
1984-85	185018	11.1	2503.6	8.7	133808	3.4	1810.7	1.2
1985-86	206133	11.4	2730.2	9.1	139025	3.9	1841.4	1.7
1986-87	228402	10.8	2962.4	8.5	144242	3.8	1870.8	1.6
1987-88	258891	13.3	3285.4	10.9	149787	3.8	1900.9	1.6
1988-89	30928[illegible]	19.5	3842.1	16.9	195750	10.7	2059.0	8.3
1989-90	357285	15.5	4346.5	13.1	177315	7.0	2157.1	4.8
1990-91	418074	17.0	4983.0	14.6	186446	5.1	2222.2	3.0
1991-92	479612	14.7	5602.9	12.4	186191	-0.1	2175.1	-2.1
1992-93	546023	13.8	6261.7	11.8	195630	5.1	2243.5	3.1
1993-94	637996	16.8	7184.6	14.7	207264	5.9	2334.1	4.0
1994-95	748652	17.3	8281.5	15.3	221406	6.8	2449.2	4.9
1995-96	857570	14.5	9321.4	12.6	236738	6.9	2573.2	5.1

1950-51 से लेकर 1995-96 तक चालू कीमतों और स्थिर कीमतों दोनों आधार पर राष्ट्रीय आय (यानि मौद्रिक आय और वास्तविक आय), के आंकड़े तालिका 4.2 में दिये गये हैं। साथ-साथ पिछले वर्ष की तुलना में परिवर्तन दर भी बतायी गयी है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय अर्थपूर्ण नहीं हैं क्योंकि इसमें कीमत परिवर्तन का तत्व भी होता है। उदाहरण के लिए वर्ष 1973-74 लीजिए। इस वर्ष चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 23.2% की वृद्धि हुई जबकि स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में केवल 4.9% की। यह अंतर मूल्यवृद्धि के कारण है। एक और वर्ष 1991-92 लीजिए। इस वर्ष चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय 14.7% बढ़ी जबकि स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय 0.1% गिरी। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्ष 1991-92 में चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में होने वाली सारी वृद्धि केवल मूल्य वृद्धि के कारण ही थी। इसका अर्थ यह भी है कि इस वर्ष भौतिक उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई। ऐसे और भी कई वर्ष हैं, जैसे 1965-66 और 1979-80, जिनमें चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में तो वृद्धि हुई लेकिन स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में गिरावट आयी। यही कारण है कि राष्ट्रीय आय की तुलना के लिए स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय के आंकड़े ही अर्थपूर्ण हैं।

तालिका 4.2 के सातवें कालम में पिछले वर्ष की तुलना में प्रत्येक वर्ष स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर भी दिखायी गई है। इसे संवृद्धि दर भी कहते हैं। हम पाते हैं कि संवृद्धि की दर में काफी उतार-चढ़ाव रहे हैं। यह दर 1988-89 में 10.7% सकारात्मक और 1965-66 में 4.7 प्रतिशत नकारात्मक ही रही। ये अधिक उतार-चढ़ाव इसलिए हैं क्योंकि इन वर्षों में कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय रहा है। कृषि उत्पादन वर्षा पर अधिक निर्भर रहता है। इसलिए इसमें उतार-चढ़ाव बहुत आते हैं। साथ ही उद्योगों का निष्पादन कृषि पर ही निर्भर रहता है क्योंकि औद्योगिक उत्पादन में प्रयुक्त कच्चा माल अधिकतर कृषि से आता है।

राष्ट्रीय आय में दीर्घकालीन परिवर्तन समझने के लिए प्रत्येक वर्ष होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षा वर्षों के समूहों के बीच होने वाले परिवर्तन समझना अच्छा रहता है। हम 10 वर्षों के समूह लेते हैं हर समूह में साधारण औसत संवृद्धि दर ज्ञात करते हैं। परिणाम तालिका 4.3 में दिखाऐ गए हैं।

तालिका 4.3 : 1951-52 से लेकर 1995-96 तक
भारत में स्थिर कीमतों (1980-81 की कीमतों) पर राष्ट्रीय आय में प्रवृत्ति

अवधि	वार्षिक परिवर्तन की साधारण औसत	
	स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति स्थिर कीमत पर राष्ट्रीय आय
1	2	3
1951-52 to 1960-61	3.8	1.8
1961-62 to 1970-71	3.5	1:3
1971-72 to 1980-81	3.1	0.9
1981-82 to 1990-91	5.4	3.2
1991-92 to 1995-96	4.9	3.0
1951-52 to 1995-96	4.0	1.9

तालिकाओं 4.2 व 4.3 में हम देखते हैं कि कुछ वर्षों को छोड़ कर 45 वर्षों की अवधि में स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय बढ़ती रही है। दूसरे, प्रत्येक दशक में यह औसत वार्षिक वृद्धि 3 से लेकर 5 प्रतिशत के बीच रही है। 1981-82 से लेकर 1990-91 के दशक के बीच यह वृद्धि सबसे अधिक 5.4 प्रतिशत रही। तीसरे, पूरे 45 वर्षों में वृद्धि की औसत वार्षिक दर 4 प्रतिशत रही।

1) सही विकल्प चुनिए:

a) मूल्य परिवर्तन निकाल देने के बाद राष्ट्रीय आय कहलाती है:
   i) मौद्रिक राष्ट्रीय आय
   ii) वास्तविक राष्ट्रीय आय
   iii) शुद्ध राष्ट्रीय आय
   iv) इनमें से कोई भी नहीं

b) 1951-52 से लेकर 1995-96 के बीच स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में औसत वार्षिक परिवर्तन है:
   i) 4.0 प्रतिशत
   ii) 1.9 प्रतिशत
   iii) 4.9 प्रतिशत
   iv) 0.9 प्रतिशत

c) एक देश के भौतिक उत्पादन में परिवर्तन के बारे में निम्नलिखित से पता चलता
   i) चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय
   ii) चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय
   iii) स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय
   iv) स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय

2) भारत में 1951-52 के बाद से सकल/ आय में प्रवृत्तियों के बारे में संक्षेप में चर्चा करें।

.....

.....

.....

4.3 आर्थिक संवृद्धि (Economic Growth)

4.3.1 आर्थिक संवृद्धि का अर्थ

आधारभूत रूप से आर्थिक संवृद्धि का अर्थ पूर्ण रोजगार स्तर पर वास्तविक उत्पादन यानि स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि से लिया जाता है। यह देश की उत्पादन क्षमता का एक माप है। इस दृष्टि से आर्थिक संवृद्धि का अर्थ देश में संसाधनों की वृद्धि से लिया जाता है। लेकिन व्यवहार में आर्थिक संवृद्धि का अर्थ स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि से लिया जाता है चाहे यह पूर्ण रोजगार स्तर पर हो या फिर इससे पहले। एक वर्ष में स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि को उस वर्ष की संवृद्धि दर माना जाता है। इस प्रकार संवृद्धि का अर्थ वास्तविक उत्पादन (यानि राष्ट्रीय आय) ये लिया जाता है। उदाहरण के लिए तालिका 4.3 में 1980 के दशक में स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में 5.4 प्रतिशत की वृद्धि का अर्थ हुआ वस्तुओं व सेवाओं के भौतिक उत्पादन में 5.4 प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि। भारत में आर्थिक संवृद्धि के बारे में हम इसी दृष्टिकोण से बात करेंगे।

4.3.2 आर्थिक संवृद्धि की दर की प्रवृति

तालिका 4.3 के कालम 2 में भारतीय अर्थव्यवस्था में 1951-52 से प्रारम्भ प्रत्येक दशक में वार्षिक संवृद्धि दर (स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर) दिखायी गयी है। 1980-81 को समाप्त प्रथम तीन दशकों में यह संवृद्धि दर 3 प्रतिशत के लगभग थी। पिछले 15 वर्षों में (यानि 1980-81 से 1995-96) में यह दर 5 प्रतिशत के आसपास थी। इससे पता चलता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था गति पकड़ रही है।

भारत ने आर्थिक संवृद्धि के लिए आयोजन का रास्ता चुना है। योजना की अवधि पांच वर्ष है। अब तक आठ पंचवर्षीय योजनाएँ समाप्त हो चुकी है। बीच-बीच में कुछ वार्षिक योजनाएँ भी रही हैं। अंत: आर्थिक संवृद्धि की दर की योजनावार तुलना करना ठीक होगा। यह दर तालिका 4.4 में दी गयी है।

तालिका 4.4 भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान वार्षिक चक्रवृद्धि संवृद्धि दरें (1951-1996)

योजना	अवधि	(चक्रवृद्धि संवृद्धि दर)	
		स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय	स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय
प्रथम योजना	1951-56	3.6	1.7
द्वितीय योजना	1956-61	3.9	1.9
तृतीय योजना	1961-66	2.3	0.1
तीन वार्षिक योजनाएं	1966-69	3.7	1.4
चौथी योजना	1969-74	3.3	0.9
पांचवी योजना	1974-79	4.9	2.6
वार्षिक योजना	1979-80	-6.0	-8.2
छठी योजना	1980-85	5.4	3.2
सातवीं योजना	1985-90	5.8	3.6
	1990-92	2.5	0.5
आठवीं योजना	1992-96(चार वर्ष)	6.2	4.3

तालिका 4.4 से स्पष्ट है कि पांचवीं योजना से भारतीय अर्थव्यवस्था ने गति पकड़ी है और हर आने वाली योजना में लगभग 5 प्रतिशत के आसपास संवृद्धि दर बनी हुई है। आठवीं योजना के दौरान यह वृद्धि सबसे अधिक 6.2 प्रतिशत (प्रथम चार वर्ष) थीं। आठवीं योजना आर्थिक सुधार और उदारीकरण की अवधि है जिसमें आयात, विदेशी मुद्रा, विदेश पूंजी, निजी क्षेत्र को उदार बनाया गया। इन सभी उपायों का आर्थिक संवृद्धि की दर पर प्रभाव नजर आने लगा है। इन सुधारों से व्यावसायिक वातावरण में बहुत अंतर आया है। भारतीय उद्योगों का संरक्षण निरंतर कम किया जा रहा है। भारत में विदेशी उद्यम आने से प्रतियोगिता बढ़ रही है। इसके पीछे उद्देश्य है भारतीय उद्योगों को अपने पांव पर खड़ा करना और उन्हें विश्व बाजार में प्रतियोगिता करने के लायक बनाना। भारत और शेष विश्व के बीच साधनों और उत्पादों की गतिशीलता निरंतर बढ़ रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था पिछले 5-6 वर्षों से (1991-92 से) से खुल रही है जैसा कि हाल के वर्षों में संवृद्धि की दर में वृद्धि से प्रतीत हो रहा है। वर्ष 1995-96 में संवृद्धि दर 6.9 प्रतिशत थी (तालिका 4.2)

4.4 आर्थिक विकास

4.4.1 आर्थिक विकास का अर्थ

आर्थिक विकास की कोई एक परिभाषा नहीं है। विभिन्न अर्थशास्त्री इसकी परिभाषा अपने-अपने ढंग से करते हैं। लेकिन इन सभी विचारों के पीछे एक समान विचारधारा है। इस समान विचारधारा को मायर (Meier) ने बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है जब उसने आर्थिक विकास को "संवृद्धि जमा परिवर्तन" (growth plus change) की संज्ञा दी। संवृद्धि से अभिप्राय स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि से है परिवर्तन से अभिप्राय अर्थव्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तनों से है। सभी परिभाषाएँ इस बात से सहमत हैं कि आर्थिक विकास का अर्थ परिवर्तन से है लेकिन इस बात से असहमति है कि परिवर्तन का रूप क्या हो। फिर भी परिवर्तन के काफी पहलू ऐसे हैं जिनके बारे में असहमति न्यूनतम है। उदाहरणत:, इस बात से किसी की असहमति नहीं है कि जीवन स्तर में सुधार आर्थिक विकास है। सभी यह भी मानते हैं कि उत्पादिता में वृद्धि, ज्ञान में वृद्धि, बेरोजगारी में कमी आर्थिक विकास है। इस बात से भी कोई असहमति व्यक्त नहीं करेगा कि गरीबी दूर करना विकास का एक उद्देश्य है। दूसरी ओर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के बारे में भेद हो सकता है। इन संस्थाओं में कैसे परिवर्तन हों कि उन्हें आर्थिक विकास कहा जाए? इस सबके बारे में कोई इकहरा मापदण्ड नहीं अपनाया जा सकता क्योंकि विभिन्न देशों में संसाधनों, आर्थिक दशाओं, सांस्कृतिक धरोहरों, सामाजिक संगठनों, राजनीतिक परम्पराओं में अंतर पाया जाता है।

आइये अब देखें कि क्या आर्थिक विकास है और क्या नहीं? उद्देश्य है विकास के कुछ स्वीकृत उद्देश्यों की भारतीय अर्थवयवसथा के संदर्भ में समीक्षा करना। ये स्वीकृत उद्देश्य उन देशों के अनुभवों से प्राप्त हुए हैं जो कि विकास प्रक्रिया से गुजर चुके हैं

4.4.2 विकास के उद्देश्य

लम्बे समय तक **प्रति व्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि लाना** विकास का प्रमुख उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य में 'प्रति व्यक्ति' आय पर बल है न कि कुल राष्ट्रीय आय पर। यदि कुल राष्ट्रीय आय की अपेक्षा जनसंख्या वृद्धि की दर अधिक होती है, तो जीवन स्तर सुधरने की बजाए गिरते हैं। इसके हम आर्थिक विकास नहीं कह सकते। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव निकाल देने के पश्चात् वास्तविक (यानि स्थिर कीमतों पर) राष्ट्रीय आय में वृद्धि आर्थिक विकास का एक बेहतर सूचक है। उद्देश्य में इस बात पर भी बल है कि यह वृद्धि लम्बे समय तक हो न कि केवल थोड़े समय तक। निरंतर वृद्धि ही आर्थिक विकास कही जा सकती है। केवल एक या दो वर्ष तक होने वाली वृद्धि अस्थायी कारणों से हो सकती है। विकास की गति को लम्बे समय तक बनाये रखना बड़ा ही कठिन कार्य होता है। मायर

(Meier) के अनुसार दो या तीन दशक तक वृद्धि बनाये रखना आर्थिक विकास का एक मजबूत सूचक है।

प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि के प्रमुख उद्देश्य के साथ-साथ और भी उद्देश्य हैं। इनमें से कुछ हैं: **आय के वितरण में असमानताएँ कम करना, गरीबी दूर करना, उपभोग का एक न्यूनतम स्तर सुनिश्चित करना, बेरोजगारी कम करना, प्रोदेशिक असमानताएँ कम काना, आधुनिक ज्ञान बढ़ाना, सामाजिक प्रणाली में अवांछित दशाएँ हटाना** आदि। विकास की इतनी अधिक आवश्यकताओं के कारण आर्थिक विकास को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। समयनुसार और देशानुसार ये सीमाएँ बदल सकती है।

प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि लाना सभी देशों का सामान्य और प्रमुख उद्देश्य रहा है। बाकी सभी उद्देश्य अलग-अलग देश में अलग-अलग हो सकते हैं। ऊपर बताये गये उद्देश्यों में अधिकतर भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में ठीक बैठते हैं। लेकिन आंकड़ों के न मिलने के कारण यह कहना कठिन है कि भारत में ये उद्देश्य किस हद तक पूरे हुए हैं। इस समय विकास के केवल कुछ विस्तृत सूचक ही प्राप्त है। ये सूचक तालिका 4.5 में दिये गये हैं। प्रति व्यक्ति आय के बारे में विस्तृत आंकडे तालिका 4.2, 4.3 व 4.4 में पहले ही दिये गये हैं।

4.4.3 प्रति व्यक्ति वास्तविक आय की प्रवृति

आइए देख कि प्रति व्यक्ति वास्तविक (यानि स्थिर कीमतों पर) राष्ट्रीय आय में हम क्या प्रवृत्ति देखते हैं। तालिका 4.2 में ये परिवर्तन वार्षिक आधार पर दिये गए है। प्रथम, हम पाते हैं कि स्थिर कीमतों पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कुल राष्ट्रीय आय की अपेक्षा 2 प्रतिशत बिन्दु कम रही है। इसका अर्थ यह हुआ कि देश की जनसंख्या 2 प्रतिशत की दर से बढ़ती रही जिससे प्रति व्यक्ति आय बढ़ने की दर कम हो गयी।

दूसरे, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि में काफी उतार-चढ़ाव आये हैं। 1988-89 में यह वृद्धि सबसे अधिक यानि 8.3 प्रतिशत थी जबकि वर्ष 1979-80 में सबसे कम यानि 8.2 प्रतिशत 'नकारात्मक' वृद्धि' थी (यानि 8.2% की गिरावट)। बहुत से ऐसे वर्ष हैं जिनमें प्रति व्यक्ति आय बढ़ने की बजाए घटी। ये उतार-चढ़ाव कृषि उत्पादन में उतार-चढाव के कारण हुए जो कि राष्ट्रीय आय का एक प्रमुख घटक रहा है।

तीसरे, यदि हम प्रति व्यक्ति आय में परिवर्तन एक दशक में औसत वार्षिक परिवर्तन के रूप में लें तो ये उतार-चढ़ाव काफी कम हो जाते हैं और एक अधिक वास्तविक स्थिति का पता चलता है। ये आंकड़े तालिका 4.3 में हैं। 1951-52 से प्रारम्भ प्रथम तीन दशकों में प्रति व्यक्ति आय में औसत वार्षिक परिवर्तन दर 1 से लेकर 2 प्रतिशत के बीच रही। केवल 1981-82 के 15 वर्षों में कुछ आशा बंधी जबकि यह दर 3 प्रतिशत को पार कर गयी। योजना अनुसार आंकड़े तालिका 4.4 में दिये गये हैं। आठवीं योजना (1992-97) के प्रथम चार वर्षों में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की दर सबसे अधिक 4 प्रतिशत से भी ऊपर रही

उपरोक्त प्रवृत्तियों से व्यावसायिक वातावरण की एक अच्छी तस्वीर उभर कर सामने आती है।

4.4.4 गरीबी की प्रवृत्ति

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि आर्थिक विकास केवल प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि तक ही सीमित नहीं हैं। गरीबी दूर करना, असमानताएँ कम करना, उत्पादिता में वृद्धि लाना, और इस प्रकार के और कई गुणात्मक परिवर्तन लाना भी आर्थिक विकास में आते हैं। इनमें से गरीबी दूर करने का उद्देश्य आर्थिक विकास का सबसे सामान्य उद्देश्य है।

गरीबी रेखा (Poverty Line) की एक अवधारणा है। इस रेखा के दो वैकल्पित आधार होते हैं: पौषणिक आवश्यकता (nutritional requirement) तथा प्रति व्यक्ति मासिक व्यय। जो इन मापदण्डों पर खरे नहीं

उतरते गरीबी रेखा से नीचे माने जाते हैं। गरीबी रेखा के बारे में नियमित आंकड़े उपलब्ध नहीं है। इसके बारे में कई विशेषज्ञ अध्ययन किए हैं जिनमें लकडावाला विशेषज्ञ ग्रुप (Lakdawala Expert Group) हाल ही का है और जिसे योजना आयोग ने स्वीकार किया है। यह अध्ययन केवल थोड़े से वर्षों के ही बारे में है। इनमें हमें तुलना के लिए वर्ष 1973-74 और 1993-94 लेते हैं।

तालिका 4.5 : भारत में गरीबी रेखा के नीचे जनसंख्या

वर्ष	व्यक्तियों की संख्या (करोड़ में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
1973-74	32.13	55%
1993-94	32.03	36%

इन आंकड़ों से पता चलता है कि 20 वर्षों में गरीबी रेखा के नीचे कुल जनसंख्या का प्रतिशत तो घटा है लेकिन व्यक्तियों की कुल संख्या में कोई परिवर्तन नहीं आया है। इसका अर्थ यह हुआ कि 20 वर्षों में जितने लोग गरीबी रेखा से ऊपर उठे हैं उतने ही लोग गरीबी रेखा के नीचे आकर और जुड़ गये हैं। इसका अर्थ यह भी है कि गरीबी रेखा को बनाये रखने में जनसंख्या वृद्धि का बहुत बड़ा हाथ है और विकास के प्रयत्न इतने काफी नहीं रहे कि इसे रोक सकें।

4.4.5 आय में असमानताओं की प्रवृत्ति

भारत में आय वितरण में असमानता के बारे में नियमित आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। जो कुछ भी थोड़े आंकड़े उपलब्ध हैं उन्हीं के आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। तालिका 4.6 में दिये गए आंकड़े दो अध्ययनों पर आधारित है: वर्ष 1952-53 के लिए किया गया महालनोबिस (Mahalanobis) द्वारा अध्ययन तथा वर्ष 1992 के लिए विश्व बैंक (World Bank) द्वारा किया गया अध्ययन।

तालिका 4.6 : भारत में आय का वितरण

जनसंख्या का प्रतिशत	आय का प्रतिशत	
	1952-53 (महालनोबिस)	1992 (विश्व बैंक)
निम्नतम 20%	7.5	8.5
उच्चतम 20%	-	42.6
उच्चतम 10%	24.0	28.4

स्पष्ट है कि भारत में आय की असमानताओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। आर्थिक विकास का आय के असमानताएँ कम करने पर कोई असर नहीं पड़ा है। यदि हम जनसंख्या का उच्चतम आय वाले 10% लोग ले तो पता चलता है कि असमानताएँ घटने की बजाए बढ़ी हैं।

4.4.6 विकास के अन्य सूचक

आर्थिक विकास के बहुत सारे सूचक होते हैं। इनमें से प्रति व्यक्ति आय, गरीबी तथा असमानता के बारे में तो ऊपर बता चुके हैं। कुछ अन्य सूचक मानव संसाधनों, चिकित्सा सुविधाओं, उपभोग तथा उत्पादिता के बारे में हैं जिन्हें तालिका 4.7 में दिया गया है।

	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1995-96
मानव संसाधन						
जीवन प्रत्याशा (वर्ष)	32.0	41.0	46.0	50.0	59.0	--
मृत्यु दर (प्रति हजार)	27.0	23.0	15.0	10.0	10.0	--
साक्षरता दर (प्रति हजार)	18.0	28.0	34.0	44.0	52.0	--
चिकित्सा सुविधाएँ						
पंजीकृत चिकित्सक (प्रति लाख)	17.0	19.0	28.0	39.0	47.0	--
अस्पताली बिस्तर (प्रति लाख व्यक्ति)	32.0	52.0	64.0	83.0	96.0	--
उपभोग (प्रति व्यक्ति शुद्ध उपलब्धता)						
अनाज (ग्राम) (प्रति दिन)	334.0	400.0	418.0	418.0	469.0	464.0
दालें (ग्राम)(प्रति दिन)	61.0	69.0	51.0	38.0	42.0	34.0
चीनी (किलोग्राम) प्रति वर्ष	--	4.8	7.4	7.3	12.1	14.1
खाद्य तेल (कि. ग्रा.)(प्रति वर्ष)	--	3.2	3.5	3.8	5.5	7.2
कपड़ा (मीटर)(प्रति वर्ष)	--	15.0	15.6	17.3	24.1	28.0
बिजली (घरेलू)(KWH) (प्रति वर्ष)	--	3.4	7.0	13.5	38.2	53.0
उत्पादिति (प्रति हैक्टेयर)						
खाद्यान्न (कि. ग्रा.)	--	710.0	872.0	1023.0	1380.0	1499.0
चीनी (टन)	--	46	48.0	58.0	65.0	68.0
रूई (कि. ग्रा.)	--	125	106.0	152.0	225.0	246.0

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण 1996-97 भारत सरकार

उपरोक्त सभी आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारत में आर्थिक विकास तो हो रहा है। लेकिन दर सतोंषजनक है या नहीं ऐसा तो अन्य देशों से तुलना करके ही सुनिश्चित किया जा सकता है। यह भी है कि आर्थिक विकल्प केवल इन्हीं सूचकों पर निर्भर नहीं होता। बहुत से राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तन होते हैं जो विकास के प्रतीक हैं लेकिन उनको आंकड़ों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

बोध प्रश्न ख

1) सही विकल्प चुनिए

क) भारत में आर्थिक संवृद्धि की दर इस आधार पर मापी जाती है

i) पूर्ण रोजगार स्तर पर वास्तविक उत्पादन में वृद्धि

ii) संसाधनों में वृद्धि

iii) स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि

iv) चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि

ख) पहली सात पंचवर्षीय योनजाओं में से संवृद्धि की सबसे ऊंची दर इस योजना में थी

i) प्रथम योजना
ii) द्वितीय योजना
iii) छठी योजना
iv) सांतवी योजना

ग) आर्थिक विकास का प्रमुख उद्देश्य यह है:

i) मौद्रिक राष्ट्रीय आय में वृद्धि
ii) वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि
iii) प्रति व्यक्ति मौद्रिक आय में वृद्धि
iv) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि

घ) एक देश का आर्थिक विकास इस आधार पर व्यक्त किया जाता है:

i) केवल मात्रात्मक परिवर्तन
ii) केवल गुणात्मक परिवर्तन
iii) मात्रात्मक तथा गुणात्मक परिवर्तन दोनों
iv) इनमें से कोई भी नहीं

2) एक देश के विकास के उद्देश्यों के बारे में एक नोट लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) गरीबी रेखा से क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 श्रम शक्ति में वृद्धि

श्रम शक्ति, यानि मानव संसाधन, आर्थिक विकास में दो प्रकार से योगदान देती है। (क) उत्पादन साधन और (ख) उपभोक्ता इस प्रकार यह आर्थिक विकास में मांग पक्ष और पूर्ति पक्ष दोनों ओर से योगदान देती है। श्रम शक्ति की मात्रा जनसंख्या तथा इसकी रचना पर निर्भर होती है। इसकी गुणवत्ता स्वास्थ्य, पोषण, साक्षरता, शिक्षा और अनुभव पर निर्भर होती है।

एक देश की संभावित श्रम शक्ति एक विशेष आयु वर्ग की जनसंख्या पर निर्भर होती है। भारत में यह आयु वर्ग 15-60 वर्ष का है। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि इस आयु वर्ग में सभी व्यक्ति श्रम में लगे हों। यह इस बात पर निर्भर है कि इस आयु वर्ग की लिंग आधार पर संरचना क्या है; कितने लोग श्रम करने को तैयार हैं और कितना काम उपलब्ध है। सामान्यत: सारी महिलाएँ श्रम में नहीं लगी होती। बहुत सी महिलाओं के लिए घर संभालना एक सामाजिक दायित्व है। जहाँ तक काम करना पसंद करने की

बात है हम यह पूर्वधारणा आसानी से कर सकते हैं कि सभी कमाना चाहते हैं। लेकिन सभी को रोजगार प्राप्त होगा या नहीं यह देश के व्यावसायिक वातावरण पर निर्भर होता है।

श्रम शक्ति के दो पहलुओं में होने वाले परिवर्तनों से हमें यह पता चल सकता है कि देश में आर्थिक विकास हो रहा है या नहीं। प्रथम, क्या स्त्रियों की रोजगार में भागीदारी बढ़ रही है? दूसरे, क्या गैर कृषि कार्यों में श्रम शक्ति का अनुपात बढ़ रहा है? आइए देखें कि भारत में श्रम शक्ति के इन दो पहलुओं में क्या परिवर्तन आ रहे हैं?

4.5.1 महिला श्रम भागीदारी दर (Female Work Participation Rate)

महिला श्रम भागीदारी अनुपात तालिका 4.8 में दिये गये हैं। इससे पता चलता है कि पिछली तीन जनगणनाओं से यह दर बढ़ रही है। 1971 में यह 14.2% थी, 1981 में 19.7% और 1991 में 22.7% संख्या में महिला श्रमिकों की संख्या जो कि 1971 में 3.7 करोड़ थी, 1981 में 6.5 करोड़ हो और 1991 में 9.1 करोड़ हो गयी। हालांकि महिला श्रमिकों की संख्या में यह वृद्धि काफी प्रभावशाली है, लेकिन पुरुष श्रमिकों की तुलना में यह संख्या बहुत कम है। महिला श्रमिकों के अनुपात में वृद्धि देश के गुणात्मक आर्थिक विकास का प्रतीक है।

तालिका 4.8: भारत में महिला श्रम भागीदारी अनुपात: 1971-1991

	1971	1981	1991
	जनसंख्या (करोड़)		
पुरुष	28.4	35.3	43.4
महिला	26.4	33.0	40.3
योग	54.8	68.3	83.7
	श्रमिक (करोड़)		
पुरुष	15.0	18.6	22.4
महिला	3.7	6.5	9.1
योग	18.7	25.1	31.5
	श्रमिकों का कुल जनसंख्या में प्रतिशत		
पुरुष	52.7	52.6	51.5
महिला	14.2	19.7	33.7
योग	34.2	36.7	37.6

4.5.2 व्यावसायिक ढांचा:कृषि बनाम गैर कृषि

सामान्यत: गैर कृषि व्यवसायों में श्रम शक्ति का अनुपात बढ़ना आर्थिक विकास का एक चिन्ह माना जाता है। अन्य शब्दों में औद्योगीकरण और आर्थिक विकास एक समान माने जाते हैं। भारत के प्राथमिक, द्वितीयक व तृतीयक क्षेत्रों में श्रम शक्ति के अनुपात में परिवर्तन तालिका 4.9 में दिया गया है।

तालिका 4.9 : भारत में श्रम शक्ति का प्रतिशत वितरण

क्षेत्र	1951	1961	1971	1981	1991
कृषि	72	72	72	69	67
उद्योग	11	12	11	13	13
सेवा	17	16	17	18	20
कुल	100	100	100	100	100

तालिका 4.9 के आंकड़ों से पता चलता है 1971 तक तो अनुपात स्थिर रहे। 1971 के पश्चात् ये अनुपात गैर कृषि क्षेत्रों के पक्ष में गये लेकिन थोडे ही। इससे विकास होने का तो पता चलता है लेकिन साथ-साथ यह भी पता चलता है कि विकास की दर धीमी है। ऐसा होने के दो कारण हो सकते हैं। प्रथम, कृषि क्षेत्र में उत्पादिता इतनी कम है कि अभी भी बढ़ती जनसंख्या की भोजन और गैर-भोजन मांगों को पूरा करने के लिए कृषि क्षेत्र में श्रमिकों के एक बहुत बड़े अनुपात की आवश्यकता है। दूसरे, गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार के अवसर सीमित होने के कारण श्रम शक्ति कृषि क्षेत्र से बाहर नहीं आ पाती। कुल मिलाकर देश में रोजगार की स्थिति ठीक नहीं है। रोजगार के अवसर आवश्यक दर से नहीं बढ़ रहे हैं। बेरोजगारी बढ़ रही है जो कि आर्थिक विकास का एक अच्छा चिन्ह नहीं है।

बोध प्रश्न ख

1) श्रम शाक्त आर्थिक विकास में किन दो प्रकार से योगदान देती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) श्रम शक्ति में परिवर्तन के वे कौन से दो पहलू हें जो आर्थिक विकास के घोतक हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

4.6 आर्थिक प्रणाली : स्वामित्व एवं संगठन का ढांचा

4.6.1 भारत – एक मिश्रित अर्थव्यवस्था

किसी भी अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों का स्वामित्व निजी व्यक्तियों के हाथों में, सरकार के पास या फिर दोनों के हाथों में होता है। जब स्वामित्व अधिकतर निजी व्यक्तियों के हाथों में हो तो ऐसी अर्थव्यवस्था को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कहते हैं। यदि सरकार के हाथ में हो तो इसे समाजवादी अर्थव्यवस्था कहते हैं। इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमरीका, जर्मनी, फ्रांस पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कुछ उदाहरण हैं। चीन और दक्षिण कोरिया समाजवादी अर्थव्यवस्था के उदाहरण हैं।

जब निजी व्यक्तियों और सरकार दोनों बड़ी मात्रा में उत्पादन साधनों के स्वामी हों तो इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था कहते हैं। वास्तव में, एक मिश्रित अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधनों का अनुपात अधिकतर निजी क्षेत्र के पास रहता है जबकि कम लेकिन काफी महत्वपूर्ण भाग सरकार के हाथ में रहता है। इसीलिए मिश्रित अर्थव्यवस्था को मिश्रित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था भी कहा जाता है। एशिया के अधिकतर देश और विश्व के अन्य देश इसी वर्ग में आते हैं। भारत भी एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है।

स्वामित्व ढांचा

एक मिश्रित अर्थव्यवस्था में तीन प्रकार के स्वामित्व होते हैं। उत्पादन इकाइयों के स्वामी (1) निजी व्यक्ति, (2) सरकार व (3) दोनों संयुक्त रूप से होते हैं। इन तीनों को क्रमश: निजी, सार्वजनिक व संचुक्त क्षेत्र कहा जाता है। भारत में एक और क्षेत्र सहकारी क्षेत्र है। यह निजी क्षेत्र जैसा ही है। इसमें निजी व्यक्ति अपने-अपने साधनों को एक जगह इकठ्ठा कर बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का लाभ उठाते हैं। सरकार इस क्षेत्र को कुछ सुविधाएँ और रियायतें देकर प्रोत्साहन देती हैं। इस तरह भारतीय आर्थिक प्रणाली में चार क्षेत्र है: निजी, सार्वजनिक, संयुक्त व सहकारी।

संगठनात्मक ढांचा

उत्पादन इकाइयों को दो वर्गों, निगमित (corporate) और गैर-निगमित (non-corporate) में बांटा जाता है। निगमित इकाइयाँ एक विशेष कानून के अधीन गठित की जाती है। भारत में ये भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956 (Indian Companies Act, 1956) के अधीन गठित की जाती हैं। ये इकाइयाँ बड़े पैमाने पर कार्य करती हैं और निजी सार्वजनिक या संयुक्त क्षेत्र किसी में भी हो सकती है। गैर-निगमित उद्यम इस कानून के अधीन नहीं आते और छोटे पैमाने पर काम करते हैं। इसमें लघु उद्योग, कुटीर उद्योग व सभी छोटे व्यवसाय आते हैं। भारत में सारा कृषि उत्पादन इसी वर्ग में आता है। ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग सारी उत्पादन गतिविधियाँ इसी वर्ग में आती हैं। शहरी क्षेत्रों में निगमित व गैर-निगमित दोनों प्रकार की उत्पादन इकाइयाँ होती है लेकिन इनमें अधिकतर गैर-नियमित होती हैं।

नियमित व गैर-निगमित व्यावसायिक गतिविधियों को कभी कभी क्रमश: 'संगठित' व 'असंगठित' गतिविधियों की संज्ञा भी दी जाती है। संगठित क्षेत्र को तो अपनी गतिविधियों के आंकडे कानूनी तौर पर प्रकाशित करने पड़ते है। असंगठित क्षेत्र पर ऐसा कोई कानूनी बंधन नहीं होता। अत: संगठित क्षेत्र के बारे में आंकड़े आसानी से मिल जाते हैं।

आइंए अब भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की विशेषताएँ देखें। जब 1951 में भारत में आयोजन प्रारम्भ हुआ तो आयोजकों के मन में एक मिश्रित अर्थव्यवस्था की तस्वीर थी। अत: जैसे आयोजन आगे बढ़ता गया सार्वजनिक, संयुक्त व सहकारी क्षेत्र उभरने लगे। निजी क्षेत्र तो पहले से ही था।

भारत का वर्तमान ढांचा 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव का परिणाम है जिसमें सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच स्पष्ट सीमाएँ खींच दी गयी थी। कुछ उद्योगों को विकसित करने की जिम्मेदारी सार्वजनिक क्षेत्र को, कुछ की निजी क्षेत्र को और कुछ की दोनों को सौंप दी गयी थी। जैसे-जैसे आयोजन का अनुभव बढ़ता गया सार्वजनिक और निजी क्षेत्र की भुमिकाओं में भी थोड़े परिवर्तन किये जाते रहे। ये परिवर्तन नई औद्योगिक नीति प्रस्ताव पास करके शामिल किए गये। ये प्रस्ताव वर्ष 1956, 1977, 1980 व 1990 में पास किए गए। 1991 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव इन सबसे अलग था। इस प्रस्ताव में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका को सीमित कर निजी क्षेत्र की भूमिका को बढ़ा दिया गया। इन सभी औद्योगिक प्रस्तावों के बारे में आप इकाई 9 में पढ़ेंगे।

4.6.2 सार्वजनिक क्षेत्र

जिन उत्पादन इकाइयों का स्वामी सरकार होती है उसे सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयाँ कहते हैं। ये मुख्यत: तीन प्रकार की होती हैं:

1) प्रशासनिक, सामाजिक, सामुदायिक एवं वैयक्तिक सेवाओं का उत्पादन करने वाली इकाइयाँ। (यानि सामान्य सेवाओं का उत्पादन करने वाली इकाइयाँ)

2) विभागीय वाणिज्यिक उद्यम (Departmental Commercial Undertakings)

3) गैर-विभागीय वाणिज्यिक उद्यम (Non-departmental Commercial Undertakings)

सामान्य सेवाओं में ये सेवाएँ आती हैं: राजकोषीय सेवाएँ जैसे कर इकठ्ठा करना; प्रशासनिक सेवाएँ जैसे पुलिस, रक्षा, कानून व न्याय, विदेशी मामले, आदि; सामाजिक और सामुदायिक सेवाएँ जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, परिवहन, आदि। ये सेवाएँ सरकार प्राय: मुफ्त देती है या फिर लागत से काफी कम कीमत पर देती है। ये इकाइयाँ गैर-निगमित क्षेत्रों में आती हैं।

विभागीय वाणिज्यिक उद्यम गैर-निगमित उत्पादन इकाइयाँ है लेकिन व्यापारिक आधार पर उत्पादन करती हैं। इनके स्वामी और प्रबंधक सरकारी विभाग होते हैं। ये व्यापारिक आधार पर अपने उत्पादों की कीमत निश्चित करते हैं।
गैर-विभागिय वाणिज्यिक उद्यम सरकारी कम्पनियाँ व वैधानिक निगमें होती है। एक सरकारी कम्पनी वह होती है जिसकी 51 प्रतिशत प्रदत पूंजी किसी सरकारी विभाग के पास होती है। एक वैधानिक निगम वह होती है जोकि लोकसभा या विधानसभा द्वारा पारित किसी अधिनियम के अधीन स्थापित की जाती है। सभी राष्ट्रीकृत बैंक, जीवन बीमा निगम, तेल व प्राकृतिक गैस कमीशन, भारतीय खाद्य निगम इसके कुछ उदाहरण हैं।

सरकार की सामान्य सेवाओं का उत्पादन करने वाली इकाइयाँ तथा विभागीय वाणिज्यिक उद्यम शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में है लेकिन अधिकतर शहरी क्षेत्रों में। गैर-विभागीय वाणिज्यिक उद्यम प्राय: शहरों में ही है लेकिन इनकी कोई-कोई शाखा गांवों में भी है।

1996 में केन्द्रीय सरकार के उद्यमों की संख्या 243 थी। इसमें बैंक, वित्तीय संस्थाएँ और विभागीय उद्यम शामिल नहीं है। (अत: सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों की संख्या इससे काफी अधिक है)। 1990 के बाद इनकी संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई है। ऐसा 1991 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के कारण हुआ जिसमें सरकारी क्षेत्र की भूमिका बहुत सीमित रखी गयी थी।

केन्द्रीय और राज्य स्तर दोनों पर सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों में लगभग 230 हजार करोड़ रुपया लगा हुआ है। इसका लगभग तीन चौथाई केन्द्रीय सरकार के उद्यमों में है। इसका लगभग 69% वस्तुओं के उत्पादन में, 30% सेवाओं के उत्पादन में तथा केवल 1% निर्माण में लगा है। निवेश के अनुसार केन्द्रीय सरकार के तीन सबसे बड़े उद्यम हैं: नेशनल थर्मल पावर कारपोरेशन (17538 करोड़ रु.), तेल व प्राकृतिक गैस कमीशन (13496 करोड़ रु.) तथा भारतीय इस्पात निगम (12876 करोड़ रु.)

1995 में सार्वजनिक क्षेत्र में कुल रोजगार 2 करोड़ था। इसमें लगभग 50 प्रतिशत सामान्य सेवाओं में और बाकी विभागीय और गैर-विभागीय उद्यमों में था। कुल रोजगार में से 16% परिवहन, भण्डारण और संचार में, 9% विनिर्माण में, 7% वित्तीयन में, 6% निर्माण में तथा 5% बिजली, गैस व जल आपूर्ति में था।

4.6.3 निजी क्षेत्र

इसमें वे सभी इकाइयाँ आती हैं जो निजी व्यक्तियों के स्वामित्व व प्रबंध में होती हैं, चाहे ये घरेलू हो य विदेशी। इन इकाइयों की संख्या का अनुमान लगाना कठिन कार्य है क्योंकि आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। केवल निगमित क्षेत्र के बारे में ही कुछ आंकड़े उपलब्ध हैं। देश का लगभग सारा प्राथमिक क्षेत्र जिसमें कृषि, वन उद्योग, आदि आते है निजी क्षेत्र में है। भारत की लगभग दो तिहाई जनसंख्या इनमें लगी है।

निजी क्षेत्र प्रमुख तौर पर विनिर्माण, निर्माण, व्यापार, होटल, जलपानगृह, सम्पदा में लगा है। रेलवे को छोड़कर परिवहन में इसकी प्रमुख भूमिका है। बैंक और बीमा क्षेत्र में इसकी भूमिका बहुत कम है। खनन, बिजली, गैस तथा जल आपूर्ति में तो यह न के बराबर है। जिस क्षेत्र में भी निजी उद्योगों की भूमिका कम है वह सरकारी प्रतिबंध के कारण है जो इन क्षेत्रों में निजी क्षेत्र को प्रवेश करने की आज्ञा नहीं देता। 1991 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव से यह आशा बनी है कि निजी क्षेत्र इन क्षेत्रों में प्रवेश पा सकेगा।

आंकड़ों से पता चलता है कि निजी निगमित क्षेत्र में 4 लाख से भी अधिक कम्पनियाँ हैं जिनमें 75,000 करोड़ रु. से भी अधिक प्रदत्त पूंजी लगी है। राष्ट्रीय आय का लगभग 80 प्रतिशत भाग निजी क्षेत्र में पैदा होता है। बाकी 20 प्रतिशत सार्वजनिक क्षेत्र में पैदा होता है।

1991 के बाद से उदारीकरण के नीति अपनाने के कारण निजी क्षेत्र पर नियंत्रण धीरे-धीरे कम किये जा रहे हैं। बहुत से उद्योगों में औद्योगिक लायसेंस प्रणाली समाप्त कर दी गयी है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश आसान कर दिया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के शेयर आम जनता को बेचे जा रहे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के फैलाव पर नियंत्रण लगाया जा रहा है। इन सभी के कारण और अधिक आर्थिक सुधारों के आने की आशा के कारण भारत में निजी क्षेत्र का भविष्य काफी अच्छा लगता है।

4.6.4 संयुक्त क्षेत्र

संयुक्त क्षेत्र सरकार और निजी क्षेत्र के बीच एक प्रकार की भागीदारी है। इस बारे में विचारों में विभिन्नता है कि कितने-कितने प्रतिशत भागीदारी होने पर कोई उद्यम संयुक्त क्षेत्र का उद्यम माना जाना चाहिए। हम इस पर चर्चा नहीं करेंगे और इस बारे में सरकार के दृष्टिकोण को स्वीकार करेंगे।

संयुक्त क्षेत्र की अवधारणा प्रथम बार 1969 की औद्योगिक नीति जांच समिति (Industrial Policy Enquiry Committee) जिसे दत्त समिति भी कहते है, ने प्रयोग की थी। सरकार ने 1970 में औद्योगिक लायसेंस नीति (Industrial Licensing Policy) में इस अवधारणा को स्वीकार कर लिया था। संयुक्त क्षेत्र के उद्यम में चार प्रकार के भागीदार हो सकते है: सरकार, निजी भारतीय उद्यमकर्ता, विदेशी उद्यमकर्ता तथा भारतीय जनता। सामान्यत: भारतीय जनता को छोड़कर किसी भी अन्य भागीदार को केन्द्रीय सरकार की आज्ञा के बिना 25% से अधिक प्रदत्त पूंजी में योगदान करने की इजाजत नही है। यह सीमा निवेश करने वाली भारतीय जनता पर लागू नहीं होती।

निगमित क्षेत्र में संयुक्त उद्यमों के बारे में सही-सही आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन एक अनुमान के अनुसार लगभग 1 हजार करोड़ रु० इस क्षेत्र में लगा है। वर्ष 1989-90 में निगमित क्षेत्र में कुल निवेश का यह 8% था।

4.6.5 सहकारी क्षेत्र

भारत में सहकारी क्षेत्र लगभग 100 वर्ष पुराना है। लेकिन 1954 तक इस क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। 1954 में भारतीय रिजर्व बैंक और केन्द्रीय सरकार ने सहकारी आंदोलन में रूचि दिखायी। पिछले 40 वर्षों में इसने काफी उन्नति की है।

शुरू में भारतीय सरकारी समितियाँ इसलिए प्रारम्भ की गयी थी कि लोगों को सस्ती ऋण सुविधा दिलाकर साहूकारों के चंगुल से बचाया जा सके। लेकिन 1954 तक इन समितियों का कोई विशेष योगदान न था। 1954 तक ये समितियाँ ग्रामीण लोगों की मात्र 3 प्रतिशत ऋण आवश्यकता ही पूरी कर पा रही थी।

प्रारम्भ में सहकारी समितियाँ ग्रामीण इलाकों तक केवल ऋण देने तक ही सीमित थी। धीरे-धीरे यह आंदोलन विपणन व संसाधन क्षेत्रों की तरफ भी बड़ा। अब यह ग्रामीण क्षेत्रों से आगे बढ़ शहरी क्षेत्रों की तरफ भी आ चुका है। यह विशेषतया आवास और खुदरा बिक्री में आया है। अधिकतर बड़े शहरों में आवास सहकारी समितियाँ व उपभोक्ता सहकारी समितियाँ देखी जा सकती हैं सुपर बाजार उपभोक्ता सहकारी समिति का एक उदाहरण है। साख और विपणन समितियाँ शहरों में भी होती है लेकिन उतनी नहीं जितनी की ग्रामीण क्षेत्रों में।

एक अनुमान के अनुसार भारत में लगभग साढ़े तीन लाख सहकारी समितियाँ हैं जिनकी सदस्य संख्या 1750 लाख और कार्यकारी पूंजी 76 हजार करोड़ रु. है। इनमें से आधी संख्या कृषि साख समितियों की है। 1981 में ये साख समितियाँ कृषि ऋण की लगभग 30% आवश्यकता पूरी कर रही थी। 30 वर्ष पहले 1954 में यह योगदान केवल 3% था। ये समितियाँ एक वर्ष में लगभग 10 हजार करोड़ रु. का साख प्रदान करती है।

बोध प्रश्न घ

1) संयुक्त क्षेत्र क्या है? इन क्षेत्र में जो पक्ष भागीदार बन सकते हैं। उनके नाम बताइये।

.....

.....

.....

.....

2) एक मिश्रित अर्थव्यवस्था को प्राय: मिश्रित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था क्यों कहते हैं?

.....

.....

.....

.....

4.7 सारांश

इस इकाई में हमने राष्ट्रीय आय, आर्थिक संवृद्धि, आर्थिक विकास, श्रम शक्ति में वृद्धि के संदर्भ में भारतीय अर्थव्यवस्था के ढांचे का वर्णन करने का प्रयत्न किया। राष्ट्रीय आय से यहाँ अभिप्राय वास्तविक राष्ट्रीय आय से है जिसे स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय कहते हैं। इसी में वृद्धि की दर से देश की आर्थिक संवृद्धि की दर मापी जाती है। 1951-52 से प्रारम्भ के पहले तीन दशकों में यह दर 3% थी। पिछले 15 वर्षों (1981-82 से 1995-96) में यह 5 प्रतिशत रही। छठी और सातवीं योजनाओं में संवृद्धि की दर 5 प्रतिशत से अधिक थी। आठवीं योजना के प्रथम चार वर्षों में यह दर 6 प्रतिशत थीं 1991 के आर्थिक सुधार इस वृद्धि के पीछे एक कारण रहा है।

आर्थिक विकास को 'संवृद्धि जमा परिवर्तन' के रूप में वर्णित किया जाता है। इसमें संवृद्धि यानि स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि आर्थिक विकास का मात्रात्मक पहलू है जबकि 'परिवर्तन' गुणात्मक पहलू है। आर्थिक विकास के पीछे मुख्य उद्देश्य प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि लाने का है। अन्य उद्देश्य है: असमानताएँ कम करना, गरीबी दूर करना, उपभोग का एक न्यूनतम स्तर सुनिश्चित कराना, बेरोजगारी कम करना, उत्पादिता बढ़ाना, प्रादेशिक असमानताएँ कम करना, आधुनिक ज्ञान फैलाना, सामाजिक प्रणाली में अवांछित दशाएँ दूर करना तथा कई अन्य।

प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में मुख्य परिवर्तन इस प्रकार हुए हैं:

1) कुल आय की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय 2 प्रतिशत विन्दु कम बढ़ी है क्योंकि जनसंख्या में 2 प्रतिशत की वृद्धि होती रही है;

2) वार्षिक स्तर पर उतार-चढ़ाव +8.3% व -8.2% के बीच में रहे;

3) दस वर्षों की औसत के आधार पर प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि पहले तीन दशकों में 1 से लेकर 2 प्रतिशत तक रही जबकि पिछले 15 वर्षों (1981-82 से 1995-96) में यह 3 प्रतिशत रही। इससे व्यावसायिक वातावरण की अच्छी तस्वीर उभर कर आती है।

गरीबी दूर करने की दिशा में 1973-74 में जो जनसंख्या का 55% गरीबी रेखा के नीचे था घट कर 1993-94 में 36% पर आ गया लेकिन गरीबी रेखा के नीचे व्यक्तियों की संख्या 32 करोड़ ही रही। तालिका 3.7 में दिये गये विकास के अन्य सूचकों से पता चलता है कि भारत में आर्थिक विकास हो रहा है।

एक देश की श्रम शक्ति जनसंख्या की आयु व लिंग सरंचना, कार्य करने की इच्छा और रोजगार की उपलब्धि पर निर्भर है। ऐसा अनुभव है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ दो बातें होती हैं। प्रथम, रोजगार में महिलाओं की भागीदारी बढ़ती है। दूसरे, गैर कृषि व्यवसायों में श्रम शक्ति का प्रतिशत बढ़ता है। भारत में रोजगार में महिलाओं की भागीदारी 1971 में 14.2% से बढ़कर 1991 में 22.7 प्रतिशत हो गयी। यह गुणात्मक विकास का एक चिन्ह है। गैर कृषि व्यवसायों में श्रमिकों का प्रतिशत लगभग स्थिर रहा है हांलाकि 1981 व 1991 के बीच यह थोड़ा बढ़ा है। इसके लिए कृषि क्षेत्र की नीची उत्पादिता तथा गैर कृषि व्यवसाय में रोजगार के अवसर न बढ़ना जिम्मेवार है।

भारत एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है जिसमें उत्पादन प्रक्रिया में निजी व सार्वजनिक क्षेत्र दोनों भाग लेते हैं। भारत में चार प्रकार के स्वामित्व हैं: 1) निजी क्षेत्र; 2) सार्वजनिक क्षेत्र; 3) संयुक्त क्षेत्र तथा 4) सहकारी क्षेत्र। 1951 व 1991 के बीच सार्वजनिक क्षेत्र तेजी से फैला। 1991 की औद्योगिक नीति के बाद इसकी गति मंद पड़ी। इस क्षेत्र में लगभग 230 हजार करोड़ रुपये का निवेश लगा है और लगभग 2 करोड़ लोग रोजगार में लगे हैं।

निजी क्षेत्र विनिर्माण, निर्माण, व्यापार, होटल, जलपानगृह, स्थावर सम्पदा में प्रमुख है। खनन, उत्खनन, बिजली, गैस, तथा जल आपूर्ति में यह न के बराबर है। निजी क्षेत्र में लगभग चार लाख कम्पनियाँ हैं। जिसकी प्रदत्त पूंजी 75 हजार करोड़ से ऊपर है।

संयुक्त क्षेत्र सरकार और निजी क्षेत्र के बीच भागीदारी है। 1970 की औद्योगिक लाइसेंस नीति में इसकी कल्पना की गयी थी। 1989-90 में इस क्षेत्र में लगभग 1 हजार करोड़ रु. की पूंजी लगी थी।

भारत में सहकारी क्षेत्र लगभग 100 वर्ष पुराना है। लेकिन 1954 के बाद ही भारत में इसका फैलाव चालू हुआ जब भारतीय रिजर्व बैंक और सरकार ने इसमें रूचि दिखायी। यह सहकारी समितियाँ ग्रामीण साख, विपणन, संसाधन, आवास, खुदरा बिक्री के क्षेत्र में हैं। भारत में लगभग साढ़े तीन करोड़ सहकारी समितियाँ है जिनकी कुल सदस्यता लगभग 1750 लाख है और कार्यकारी पूंजी 76 हजार करोड़ रुपये है। इनमें से लगभग आधी साख समितियाँ हैं।

4.8 शब्दावली

राष्ट्रीय आय : देश के निवासियों को प्राप्त साधन आयों का योग

वास्तविक राष्ट्रीय आय : कीमतों में परिवर्तन निकाल देने के पश्चात प्राप्त राष्ट्रीय आय जिसे स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय भी कहते हैं।

संवृद्धि दर : वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर

प्रति व्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय आय : कुल वास्तविक रष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से भाग देने पर प्राप्त माप

गरीबी रेखा : सुझाया गया न्यूनतम पौषणिक आवश्यकता स्तर या फिर न्यूनतम प्रति व्यक्ति मासिक व्यय। जो व्यक्ति इस न्यूनतम स्तर के नीचे है वे गरीबी रेखा के नीचे कहलाते हैं।

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

क) (1) (a) ii, (b) i, (c) ii

ख) (2) (a) iii, (b) iv, (c) iv, (d) iii

4.10 स्व-परख प्रश्न

1) मौद्रिक राष्ट्रीय आय और वास्तविक राष्ट्रीय आय में क्या अंतर है? इन दोनों में से कौन सा आर्थिक संवृद्धि का सूचक है और क्यों?

2) आर्थिक संवृद्धि क्या है? 1951 के बाद के भारतीय अर्थव्यवस्था में आर्थिक संवृद्धि के दर में परिवर्तन समझाइए।

3) आर्थिक विकास की परिभाषा दीजिए। आर्थिक संवृद्धि से यह किस मायने में अलग है? आर्थिक विकास का प्रमुख उद्देश्य व अन्य उप-उद्देश्य बताइए।

4) भारत में 1951 के बाद से प्रति व्यक्ति वास्तविक आय और गरीबी में प्रवृत्तियाँ समझाइए।

5) भारत के आर्थिक विकास के बारे में आय की असमानताओं में प्रवृति व अन्य सूचकों के आधार पर आप क्या संभव निष्कर्ष निकाल सकते हैं?

6. श्रम शक्ति के वे पहलू समझाइए जिनके आधार पर आप भारत के आर्थिक विकास के बारे में निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

7. स्वामित्व और संगठन के संदर्भ में भारत की आर्थिक प्रणाली समझाइए।

8. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र की उत्पादन इकाइयों का ढांचा समझाइए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 5 व्यवसाय में सरकार की भूमिका (Role of Government in Business)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 सरकार की चौगुनी भूमिका
5.3 नियामक भूमिका
5.4 उद्यमकर्ता संबंधी भूमिका
5.5 संवर्धनात्मक भूमिका
5.6 योजना संबंधी भूमिका
5.7 नियामक ढांचा
5.8 सरकार की पुनः परिभाषित भूमिका
5.9 सारांश
5.10 शब्दावली
5.11 स्वपरख प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- व्यवसाय के क्षेत्र में सरकार की चौगुनी भूमिका का वर्णन कर सकें
- सरकार की नियामक भूमिका के स्वरूप और उसके निहितार्थों को बता सकें
- यह बता सकें कि सरकार की संवर्धनात्मक भूमिका के आयाम क्या होते हैं
- व्यवसाय के क्षेत्र में सरकार के संवर्धनात्मक स्वरूप को स्पष्ट कर सकें
- यह बता सकें कि किस प्रकार का नियामक ढांचा बनाया जाता है तथा इस ढांचे को बनाने में किन समस्याओं का सामना करना होता है
- यहा बता सकें कि नई आर्थिक नीति (New Economic Policy) के अंतर्गत निजीकरण, उदारीकरण एवं विश्वव्यापीकरण के संबंध में सरकार की क्या भूमिका होती हैं।

5.1 प्रस्तावना

सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में तथा यहां तक कि उन्नीसवीं सदी के शुरू में भी अहस्तक्षेप नीति (Laissez-faire doctrine) का बोलबाला था, जिसमें व्यवसाय के क्षेत्र में सरकार की भूमिका नहीं के बराबर हेती थी। उस समय माना जाता था कि सरकार का काम केवल कानून और व्यवस्था तक ही सीमित होता है। लेकिन धीरे-धीरे इस सिद्धांत का प्रभाव कम होता गया तथा राजकीय पूंजीवाद (State Capitalism) का जन्म हुआ। राजकीय पूंजीवाद के अंतर्गत व्यवसाय सरकार के हाथ में रहा और सरकार को यह जिम्मेदारी सौंपी गई कि वह समाज के व्यापक हित के लिए व्यवसाय को चलाए, उस पर नियंत्रण रखे तथा उसे विनियमित करे। लेकिन तुरंत ही महसूस किया गया कि ये दोनों ही आर्थिक विकास के हित में नहीं हैं। वास्तविकता तो यह है कि विश्व में कोई भी ऐसा देश नहीं है जो पूर्णतः पूंजीवादी या समाजवादी हो। तथाकथित आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ (Mixed Economy) होती है जिसमें एक तिहाई या एक चौथाई अर्थव्यवस्था सरकार के हाथ में होती है। उसी प्रकार तथाकथित समाजवादी देशों में एक चौथाई या पांचवां भाग निजी क्षेत्र के हाथ में होता है। वास्तविकता तो यह है कि सरकार का नियंत्रण या उसकी भागेदारी अलग-अलग प्रकार की होती है। भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेशता यह है कि इसमें सार्वजनिक, निजी, संयुक्त तथा सहकारी क्षेत्र साथ-साथ कार्य कर रहे हैं।

इनमें इनका अनुपात विभिन्न कारकों पर निर्भर करता है। इस इकाई में हम देखेंगे कि व्यवसाय में सरकार की सहभागिता तथा उसकी ओर से हस्तक्षेप के स्वरूप और आयाम किस प्रकार के हैं जिससे व्यष्टि और समष्टि स्तर पर अर्थव्यवस्था की संवृद्धि और उसके विकास में कोई रुकावट नहीं हो पाती।

5.2 सरकार की चौगुनी भूमिका (Fourfold Role of Government)

समस्त अर्थव्यवस्था और व्यवसाय में सरकार की भूमिका में बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा है। परंपरागत अर्थों में सरकार का कार्य होता है कानून और व्यवस्था को बनाए रखना, बाहरी आक्रमण से अर्थव्यवस्था की रक्षा करना, सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना, रक्षा उत्पादन को बढ़ावा देना तथा लोकोपयोगी सेवाओं पर नियंत्रण बनाए रखना। उपर्युक्त सभी व्यवसाय को आधारिक संरचना प्रदान करने के लिए होते थे जिससे वे देश के अंदर का पर्यावरण व्यवसाय के विकास में सहायक बना रहे। लेकिन समय गुजरने के साथ-साथ कुछ ऐसी घटनाएं घटीं जिन्होंने परंपरागत भूमिका में परिवर्तन ला दिया। 1917 की रूस की क्रांति, 1929 की विश्वव्यापी मंदी, द्वितीय विश्व युद्ध तथा योजनाबद्ध आर्थिक विकास ऐसे कुछ प्रमुख कारक थे जिन्होंने इस विचार को जन्म दिया कि व्यवसाय का समाज के प्रति दायित्व होता है और इस दायित्व को पूरा करने का कार्य सरकार के ऊपर सौंपा गया। इस उद्देश्य से व्यवसाय के क्षेत्र में सरकार की निष्क्रिय भूमिका को सक्रिय भूमिका कर दिया गया। इस संबंध में प्रमुख प्रयोजन यह था कि सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास तेजी से किया जाए। फिर भी सक्रिय भूमिका का अर्थ यह नहीं कि सरकार व्यवसाय को पूर्णतः अपने हाथ में ले ले।

सरकार का कर्तव्य अब यह नहीं है कि वह व्यवसाय को स्वयं ही चलाए बल्कि उसकी जिम्मेदारी यह देखना है कि व्यवसाय का संचालन सुचारू रूप से हो सके। इस प्रकार सरकार की भूमिका के चार आयाम हो गये हैं-**नियामक, संवर्धनात्मक, उद्यम संबंधी और योजना**। इन चारों भूमिकाओं संबंधी विचारों के आधार यह हैं कि संवैधानिक ढांचे के अंतर्गत संतुलित आर्थिक विकास इस प्रकार होना चाहिए कि लोकोपोयोगी सुविधाओं और आधारिक संरचना संबंधी सुविधाओं की व्यवस्था की जा सके।

आयाम संबंधी इन चारों भूमिकाओं के अतिरिक्त सरकार व्यवसाय और उद्योगों को प्रत्यक्ष रूप से सहायता देने के लिए भी हस्तक्षेप करती है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिता के होने, वित्तीय संकटों एवं तकनीकी जटिलताओं के होने के कारण ऐसी सहायता देनी पड़ती हैं। प्रत्यक्ष सहायता के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं: संरक्षण प्रदान करना, वित्तीय सहायता देना, तकनीकी सलाह प्रदान करना, अनुसंधान एवं विकास में सहायता, औद्योगिक प्रशिक्षण तथा कर प्रोत्साहन। इस प्रकार की प्रत्यक्ष सहायता अनुकूल औद्योगिक वातावरण के निर्माण के लिए दी जाती है।

सरकार की इन विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं के संबंध में हम अब विस्तार से चर्चा करेंगे।

5.3 नियामक भूमिका (Regulatory Role)

व्यवसाय को विनियमित करने के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:

i) बाजार के ढांचे को एकाधिकारी होने से रोकना,

ii) छोटे-छोटे और नये उद्यमकर्ताओं को विकसित करना, तथा

iii) समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के कल्याण को बढ़ावा देना।

नियामक भूमिका के अंतर्गत व्यवसाय एवं देश की अर्थव्यवस्था का सरकार द्वारा विनियमन करना होता है। विनियमन से अभिप्राय होता है व्यवसाय के कामकाज में सहायता के उद्देश्य से उसका निर्देशन करना। इसके अंतर्गत व्यवसाय का नियंत्रण आता है जिसके द्वारा सरकार सामान्य मानकों और मापदंडों का निर्धारण करती है। यह कार्य सार्वजनिक उपयोगी सेवाओं के लाभ पर सीमा निर्धारित करके, डिविडेंडों की उच्चतम सीमा निर्धारित करके एवं अतिरिक्त लाभ कर लगाकर किया जा सकता है। विनियमन के द्वारा कुछ थोड़े

से लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति के अनुचित संकेन्द्रण एवं कुछ थोड़े से क्षेत्रों में व्यवसाय के संकेन्द्रण पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। इसके लक्ष्यों के अंतर्गत प्रबंधकों एवं श्रमिकों के बीच के झगड़ों को निपटाना भी आता है।

कुल मिलाकर विनियमन का प्रयास होता है व्यवसाय का सही मार्गदर्शन करना जिसमें सामाजिक न्याय के साथ प्रगति हो सके। व्यवसाय का विनियमन करते समय दो सावधानियां रखनी होती है। **प्रथम**, कानूनी विनियमन बहुत कड़े नहीं होने चाहिए और **द्वितीय**, विनियमन का पालन बड़ी कुशलतापूर्वक होना चाहिए। यदि इन दो सावधानियों को ध्यान में नहीं रखा जाता है तो आर्थिक विकास और संवृद्धि के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकेगी।

व्यवसाय पर सरकार का विनियमन **प्रत्यक्ष** हो सकता है या **अप्रत्यक्ष**। **प्रत्यक्ष नियंत्रण** अत्यंत कड़ा होता है और यह करने वाले के विवेक के ऊपर निर्भर करता है। सरकार अपनी इच्छा के अनुसार व्यष्टि स्तर पर व्यवसाय का नियंत्रण फर्म या उद्योग के आधार पर करती है। प्रत्यक्ष नियंत्रण के पक्ष में मुख्य दलील यह है कि चूंकि सामाजिक न्याय की दृष्टि से निजी उद्यम में कुछ कमियां होती हैं। अत: उनके कार्यों पर नियंत्रण की आवश्यकता है जिससे आर्थिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक विचारों से उन्हें सही करार किया जा सके। उदाहरणार्थ औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली का आधार यह है कि चूँकि बाजार तंत्र दुर्लभ साधनों का आबंटन सामाजिक दृष्टि से नहीं कर पाता अत: इन पर नियंत्रण करना आवश्यक है।

अप्रत्यक्ष नियंत्रणों का स्वरूप अप्रत्यक्ष होता है तथा व्यष्टि स्तर पर ये राजकोषीय एवं मौद्रिक प्रोत्साहनों, अप्रोत्साहनों, दंडों और पुरस्कारों द्वारा किए जाते हैं। निर्यात-उन्मुख उद्योगों को विकसित करने की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के राजकोषीय और मौद्रिक प्रोत्साहन दिए जा सकते हैं। उसी प्रकार से आयात के स्तर को घटाने की दृष्टि से आयात शुल्क लगाए जा सकते हैं।

नियामक नियंत्रण के उद्देश्यों को तभी पूरा किया जा सकता है जबकि इस प्रकार के नियंत्रण अत्यधिक न हों तथा इन्हें अत्यंत कुशलतापूर्वक किया जाए। उदाहरणार्थ भारत में नियामक नियंत्रण निम्नलिखित प्रकार से किये जाते हैं:

i) **उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम 1951 (Industrial Development & Regulation) Act 1951:** इसका मुख्य उद्देश्य उद्योगों के विकास को बढ़ावा देना और उनका विनियमन करना है। इस अधिनियम के द्वारा क) उपलब्ध साधनों का समुचित रूप से उपयोग हो पाता है, ख) आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण पर रोक लगाया जाता है, ग) संसाधनों का उचित रूप से आबंटन हो जाता है तथा घ) नए उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

इस अधिनियम के अंतर्गत विभिन्न प्रावधानों को तीन मुख्य वर्गों के अंतर्गत लाया जा सकता है:

क) **प्रतिबंधात्मक प्रावधान (Prohibitive provisions):** अनुसूचित उद्योगों के लाइसेंस और पंजीकरण की व्यवस्था करना और उनका नियंत्रण करना;

ख) **उपचारी प्रावधान (Curative provisions):** सरकार द्वारा प्रत्यक्ष प्रबंध एवं नियंत्रण, तथा आपूर्ति, वितरण प्रणाली और कीमतों पर नियंत्रण;

ग) **रचनात्मक प्रावधान (Constructive provisions):** केन्द्रीय सलाहकार बोर्डों; समीक्षा उपसमितियों, स्थायी समितियों, विकास बोर्डों तथा उद्योग संलाहकार ग्रुपों की नियुक्ति।

ii) **उद्योग लाइसेंस प्रणाली (Industrial Licensing System):** इस प्रणाली का उद्देश्य नये उद्योगों का नियंत्रण करना तथा वर्तमान उद्योगों की क्षमता को बढ़ाना है। 1980 के पश्चात् इस प्रणाली के प्रावधानों को सरल करने और उन्हें उदार बनाने के अनेक प्रयास किए गए हैं

iii) **पूंजी निर्गमन पर नियंत्रण (Control Over Capital Issue) :** 1947 के पूंजी निर्गमन (नियंत्रण) अधिनियम में पूंजी निर्गमन के नियंत्रक की अनुमति की व्यवस्था की गई थी। ऐसा इसलिए किया गया था कि पूंजी सही क्षेत्रों में लगाई जाए। परन्तु 1991-92 में इस नियंत्रण में बहुत कुछ ढील

दी गई। अब पूंजी नियंत्रण प्रावधान भारतीय प्रतिभूति और निवेश बोर्ड के कार्यों के अंतर्गत आ गए हैं

iv) **कीमत नियंत्रण (Price Control) :** केन्द्रीय सरकार और विभिन्न राज्य सरकारें कीमतों का विनियमन करती है जिससे उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सके।

v) **वितरण तंत्र (Distribution Mechanism) :** आवश्यक वस्तु अधिनियम एवं सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) के द्वारा दैनिक आवश्यक वस्तुओं के वितरण का विनियमन और नियंत्रण किया जाता है।

vi) **प्रतिभूति अनुबंध (विनियमन) अधिनियम (Securities Contract Regulation Act.) :** यह अधिनियम 1956 से लागू है और इसका लक्ष्य कंपनियों के शेयरों और डिबेंचरों का विनियमन और नियंत्रण करना है। यह विभिन्न स्टाक एक्सचेंज के कार्यकलापों का भी नियंत्रण करता है। 1995 ई० तक भारत में 25 स्टाक एक्सचेंज (stock exchange) थे। उनके अतिरिक्त भारत सरकार ने ओवर द काउंटर एक्सचेंज ऑफ इंडिया (OTSEI) एवं नेशनल स्टॉक एक्सचेंज (NSE) की स्थापना की है।

vii) **एकाधिकार तथा प्रतिबंधित व्यापारिक व्यवहार अधिनियम 1969, (Monopolies and Restrictive Trade Practices Act. 1969) :** इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य थे

क) आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण पर रोक लगाना, जिससे आम जनता के हितों की रक्षा हो सके तथा

ख) उन एकाधिकारी, प्रतिबंधित एवं अनुचित व्यापारिक व्यवहारों पर नियंत्रण करना जो आम जनता के हितों के विरुद्ध कार्य करते हैं। 1982, 1984 और 1991 में इस अधिनियम में बहुत महत्वपूर्ण संशोधन किए गए।

viii) **विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (FERA) 1973 :** इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य विदेशी मुद्रा को विनियमित करना है।

ix) **विदेशी व्यापार का विनियमन और संवर्धन (Regulation & Promotion of Foreign Trade) :** निर्यात और आयात नीति (EXIM Policy) के द्वारा भारत का विदेशी व्यापार संचालित होता है। इस नीति का कार्यान्वयन मुख्यत: उन नियामक ढांचों से होता है जिनका प्रावधान विदेशी व्यापार (विकास और विनियमन) अधिनियम 1992 द्वारा किया गया है।

x) **औद्योगिक नीति (Industrial Policy) :** 1948, 1956, 1973, 1977, 1980, 1990 और 1991 में भारत की औद्योगिक नीतियां घोषित की गईं। इन नीतियों के द्वारा निजी क्षेत्रक, सार्वजनिक क्षेत्र, सहकारी क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र और छोटे पैमाने के क्षेत्र के उद्योगों के विकास के संबंध में विभिन्न प्रकार की घोषणाएं की जाती हैं।

xi) **कंपनियों का विनियमन (Regulation of Companies) :** कंपनी अधिनियम 1956 के अधीन पूंजी निर्गमन, डिविडेंउ-वितरण, ऋण और अग्रिम, शेयर पूंजी एवं अन्य मामलों के प्रबंध-का नियंत्रण और विनियमन किया जाता है जिससे शेयरधारियों और लेनदारों के हितों की रक्षा की जा सके।

xii) **श्रम मामले (Labour Affairs) :** श्रम के शोषण को रोकने के लिए सरकार ने अनेक कानूनी कदम भी उठाए हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कानून ये हैं : फैक्टरी अधिनियम 1948, श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम 1923, कर्मचारी प्रॉविडेंड फंड अधिनियम 1952, न्यूनतम मजदूरी भुगतान अधिनियम, प्रसूति हितलाभ अधिनियम 1961, बोनस भुगतान अधिनियम 1975 तथा उद्योग विवाद अधिनियम 1947।

xiii) **वाणिज्यिक अधिनियम (Commercial Act) :** व्यापार और वाणिज्य के संचालन पक्ष को विनियमित करने के लिए सरकार ने भारतीय संविदा अधिनियम, वस्तु विक्रय अधिनियम, परक्राम्य प्रपत्र अधिनियम, विवाचन अधिनियम जैसे अनेक कानून बनाए हैं।

xiv) **विविध नियामक कानून (Miscellaneous Regulatory Enactment) :** उपर्युक्त कानूनों के अतिरिक्त व्यवसाय के विभिन्न पक्षों से संबंधित अन्य अनेक कानून भी बनाए गए हैं। ये हैं : व्यापार और वाणिज्य वस्तु विपणन अधिनियम 1959, कृषि उत्पाद (ग्रेडिंग और विपणन) अधिनियम 1959, मानकित भार और माप अधिनियम 1956, बैंकिग अधिनियम और आवश्यक वस्तु अधिनियम, आदि।

बोध प्रश्न क

1) व्यवसाय में सरकार की सक्रिय भूमिका के मुख्य कारण क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) सरकार की भूमिका के चार आयामों का वर्णन कीजिए।

क) .....

ख) .....

ग) .....

घ) .....

3) व्यवसाय के विनियमन के मुख्य उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

4) व्यवसाय के विनियमन के संदर्भ में क्या सावधानियां आवश्यक होती हैं?

.....

.....

.....

.....

5.4 उद्यमकर्ता संबंधी भूमिका (Entrepreneurial Role)

उद्यमकर्ता संबंधी भूमिका का अर्थ होता है कि सरकार स्वयं ही उद्यमी हो जाती है। इससे अभिप्राय है कि स्वामित्व सरकार के हाथ में आ जाता है। इसे सार्वजनिक क्षेत्र का आगमन कहा जाता है। भारी और मूल उद्योगों में जोखिम बहुत होते हैं। इनसे अधिक लाभ होने की संभावना नहीं होती, अत: निजी उद्यम इनकी उपेक्षा कर देते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उद्योग होते हैं जिनकी स्थापना और उनसे उत्पादन होने व उत्पादित वस्तुओं के विक्रय की अवधि में काफी अंतराल होता है। अत: शुरू-शुरू में उनमें हानि होने की भी संभावना हो सकती है। परन्तु समष्टि स्तर राष्ट्रीय हित को देखते हुए ये उद्योग अत्यंत महत्व के होते हैं। अत: सरकार इनके संबंध में उद्यमी की भूमिका निभाती है। ऐसे उद्योगों के कुछ उदाहरण हैं: इस्पात, खनिज पदार्थ, रसायन उद्योग, इंजीनियरी उद्योग, सिंचाई, शक्ति और भारी बिजली प्लांट, आदि। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र को उद्यमकर्ता की भूमिका सौंपी जाती है।

1948 के उद्योग नीति संकल्प में अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रावधान किया गया था कि शस्त्रास्त्रों और गोला-बारूदों के निर्माण, परमाणु ऊर्जा के उत्पादन और नियंत्रण एवं रेलवे परिवहन के स्वामित्व और प्रबंध पर केन्द्रीय सरकार का एकमात्र एकाधिकार होगा। इसमें यह भी प्रावधान किया गया था कि कोयला, लोहा और इस्पात, वायुयानों के निर्माण, जहाजरानी के निर्माण, टेलीफोनों, टेलीग्राफों और वायरलैस के पुर्जों के निर्माण तथा खनिजों जैसे अन्य छः उद्योगों के संबंध में नई उद्यम इकाइयों की स्थापना केवल सरकार द्वारा ही की जाएगी।

1956 के उद्योग नीति संकल्प में सरकार की भूमिका में और भी विस्तार कर दिया गया। 1956 के संकल्प की अनुसूची ए में 17 उद्योग दिए गए थे जिनके भविष्य में विकास का अधिकार केवल सरकार को ही दिया गया था। इसके अतिरिक्त अनुसूची बी में 12 उद्योगों की सूची दी गई थी जिनका स्वामित्व क्रमशः सरकार के हाथों में आना था तथा सरकार से आशा की गई थी कि वह इनसे संबंधित नई इकाइयों की स्थापना के संबंध में पहल करेगी। तभी से सरकार की उद्यमकर्ता की भूमिका बढ़ती गई है।

1951 में केन्द्रीय सरकार का निवेश पांच उद्यम इकाइयों में 29 करोड़ रु. था। आठवीं योजना के शुरू होने तक यह निवेश बढ़कर 237 इकाइयों में 1.18 लाख करोड़ रु. हो गया। इनके अतिरिक्त राज्य स्तर के 1,100 सार्वजनिक उद्यम भी थे जिनमें लगभग 50,000 करोड़ रु. का निवेश हुआ है। उद्यमकर्ता की भूमिका के अंतर्गत केवल नये उद्योगों की स्थापना ही नहीं है। इसके अतिरिक्त कोयला, तांबा बीमा एवं वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा अनेक रुग्ण इकाइयों को सरकार द्वारा अपने हाथ में लेने के कारण भी सरकार द्वारा उद्यमकर्ता की भूमिका में विस्तार हुआ है।

सरकार की उद्यमकर्ता की भूमिका की भलीभांति छानबीन करना आवश्यक है। भारत में अनेक सार्वजनिक क्षेत्रक की इकाइयों को अत्यधिक मात्रा में हानि हो रही है। हानि का वहन करने वाली अत्यधिक इकाइयां या तो गैर-प्राथमिक क्षेत्र में हैं या वे उन क्षेत्रों में हैं जिनमें निजी उद्यम अधिक कुशल सिद्ध होते हैं। हानि का वहन करने वाली इकाइयां रूग्ण भी हैं। स्थिति के बिगड़ने के अनेक कारण दिए जाते हैं। सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्यमों का कुशलतापूर्वक न काम करने के कारणों में से कुछ यों है : साधनों का आबंटन, उच्च अधिकारियों के पदों पर नियुक्ति में विलंब, निवेश संबंधी कड़े नियम-कानून तथा स्वायत्तता पर प्रतिबंध। इन इकाइयों को सरकारी इकाइयों जैसी नहीं बल्कि व्यवसाय इकाइयों जैसा कार्य करना चाहिए, इनको चलाने वालों में नौकरशाही जैसी प्रवृत्ति नहीं बल्कि उन्हें व्यवसायी व्यक्तियों जैसा होना चाहिए।

क्योंकि ऐसे उद्यमों को अपर्याप्त प्रायोजना प्रबंध, आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों के होने, तकनीकी कुशलता की कमी तथा अनुसंधान एवं विकास की ओर अपर्याप्त ध्यान देने का शिकार होना पड़ा है अतः इन उद्यमों में और वृद्धि होने से सरकार पर भार बढ़ता है। इसीलिए कोई व्यावहारिक मार्ग ढूंढने के लिए गंभीर रूप से विचार करने की आवश्यकता पड़ी। जुलाई 1991 में घोषित नई उद्योग नीति में सरकार की उद्यम संबंधी भूमिका को पुनः परिभाषित किया गया। इस नीति के अनुसार निम्नलिखित को सार्वजनिक क्षेत्र का प्राथमिकता क्षेत्र माना गया :

क) आवश्यक आधारिक संरचना वस्तुएं और सेवाएं,

ख) तेल और खनिज संसाधनों का पता लगाना और उन्हें उपयोग में लाना,

ग) प्रौद्योगिकीय विकास तथा उन क्षेत्रों में विनिर्माण क्षमता लाना जो अर्थव्यवस्था के दीर्घकालीन विकास के लिए महत्वपूर्ण तो है परन्तु उनमें निजी क्षेत्र का निवेश पर्याप्त मात्रा में नहीं है, तथा

घ) उन क्षेत्रों में उत्पादन करना जो सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। सरकारी क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की संख्या को घटा कर केवल आठ कर दिया गया है। निजीकरण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से अनेक उद्योगों में सार्वजनिक क्षेत्र के एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया है। ये उद्योग हैं: लोहा और इस्पात, शक्ति, जहाज-निर्माण, टेलीफोन, वायुयान, भारी प्लांट और मशीनरी।

कुछ ऐसे क्षेत्रों के संबंध में विचार किया जा रहा है जिनमें कुछ शर्तों के पूरा होने के स्थिति में उनमें से सरकारी निवेश को घटा दिया जाए तथा उनमें निजी क्षेत्र के निवेश को आने दिया जाए। उपर्युक्त शर्तें हैं:

क) कम मात्रा में प्रौद्योगिकी पर आधारित उद्योग,

ख) अकुशल और अनुत्पादक क्षेत्र, वे क्षेत्र जिनमें सामाजिक दायित्व शून्य या बहुत ही कम होता है,

ग) वे क्षेत्र जिनमें निजी क्षेत्रक ने पर्याप्त उद्यम दक्षता विकसित कर लिया है, और

घ) लघु एवं असामरिक क्षेत्र।

इस प्रकार नई आर्थिक नीति के अंतर्गत सरकार की उद्यम-भूमिका के क्षेत्र में अत्यधिक संशोधन कर दिया गया है। अब कार्य-निष्पादन को बढ़ाने पर जोर दिया जाता है और सरकार को सुनिश्चित करना होता है कि सार्वजनिक उद्यमों का संचालन व्यवसाय की भांति किया जाए। इस नीति के अधीन उदारीकरण, संस्थाओं की क्षमता को विकसित करने के लिए नियम-कानून में छूट देने, शेयरधारियों के बीच आम सहमति और साझेदारी की भावना बनाने की दिशा में भारत सरकार प्रयास कर रही है।

5.5 संवर्धनात्मक भूमिका (Promotional Role)

सरकार की संवर्धनात्मक भूमिका अप्रत्यक्ष रूप में होती है। सरकार न तो व्यवसाय के कार्यों में हस्तक्षेप करती है और न ही उन्हें विनियमित करने का प्रयास करती है। वह एक टीम के सदस्य की तरह कार्य नहीं करती बल्कि उसका लक्ष्य तो पर्याप्त आधारिक संरचनाओं की व्यवस्था करके, उपर्युक्त पर्यावरण बनाकर तथा विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहनों को देकर व्यवसाय का संवर्धन करना होता है, जिससे व्यवसाय के कार्यकलापों में वृद्धि हो सके। सभी प्रकार की आर्थिक प्रणालियां, चाहे वे विकसित हों या विकासोन्मुख हों, सरकार की ओर से संवर्धनात्मक प्रयासों की अपेक्षा करती हैं। अपनी इस भूमिका के अंतर्गत सरकार कुछ विकासोन्मुख मूल ढांचों का निर्माण करती है, जिसके अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं: सड़कों और पुलों का निर्माण, जलपूर्ति, बिजली की व्यवस्था, कुशल परिवहन सुविधाएं, औद्योगिक क्षेत्रों और बस्तियों का निर्माण, जिला उद्योग केन्द्र, परामर्श केन्द्र, विकास केन्द्र, संचार प्रणाली, उद्योग प्रशिक्षण की व्यवस्था, बैंकिंग की सुविधा तथा विपणन-जल की व्यवस्था। सरकार अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक, निजी, संयुक्त एवं सहकारी जैसे अनेक क्षेत्रों में समायोजन करने का कार्य करती है और ऐसा करने के दौरान वह विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन प्रदान करने के उपायों का आश्रय लेती है।

व्यवसाय-कार्यों के संवर्धन के लिए सरकार की ओर से विभिन्न प्रकार के कार्य होते हैं। ये कार्य निम्नलिखित हैं।

i) लोक उपयोगी सेवाओं की देखभाल करना

ii) विभिन्न क्षेत्रों में विकास की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना

iii) आर्थिक संसाधनों को उत्पादक और प्रगतिशील बनाना

iv) विभिन्न संसाधनों का सही ढंग से उपयोग करना

v) संपत्ति और आय के न्यायोचित वितरण को सुनिश्चित करना

vi) विभिन्न क्षेत्रों में उचित संतुलन कायम करना

vii) विकास की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए मुद्रा की उपलब्ध मात्रा पर नियंत्रण रखना

viii) देश में निवेश का वातावरण बनाना

ix) विदेश व्यापार के संवर्धन के लिए प्रोत्साहन की व्यवस्था करना

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार की संवर्धनात्मक भूमिका के अंतर्गत राजकोषीय, मौद्रिक एवं बजट संबंधी प्रोत्साहन आ जाते हैं जो अर्थव्यवस्था के प्राथमिकता क्षेत्रकों के तेजी से प्रसार एवं विकास के लिए आवश्यक होते हैं। इकाई 6 में इन नीतियों के संबंध में विस्तार से चर्चा की जाएगी।

5.6 योजना संबंधी भूमिका (Planning Role)

भारत जैसे विकासशील देश में योजनाकार के रूप में सरकार की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। ऐसा इसलिए कि आधुनिक समय में सरकार को समाज के कल्याण का अभिरक्षक माना जाता है। सबके कल्याण के लिए संतुलित संपन्नता को लाना आवश्यक होता है। उद्देश्य अलग-अलग होते हैं एवं उन्हें प्राप्त करने के लिए साधन भी अलग-अलग होते हैं, अत: उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना आवश्यक होता है। संसाधन सदा ही सीमित होते हैं, अत: उनका आबंटन इस प्रकार करना होता है कि इष्टतम उपयोग के इष्टतम परिणाम हों। इसके लिए प्राथमिकताओं का निर्धारण करना आवश्यक होता है। ये सभी कार्य योजना द्वारा किए जाते हैं। अन्य शब्दों में योजना संबंधी भूमिका का अर्थ होता है कि सरकार को योजना इसलिए बनानी पड़ती है कि सीमित संसाधनों का उपयोग सही कार्यों के लिए किया जाए जिससे सभी के हित में सुपरिभाषित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

योजना विश्वव्यापी होती है। प्रत्येक आर्थिक इकाई को व्यष्टि स्तर पर अपने कार्यकलापों की योजना बनानी होती है। उसी प्रकार समष्टि स्तर पर देश के लिए सामूहिक रूप में योजना बनानी होती है तथा सरकार द्वारा निर्धारित सीमाओं के अंतर्गत व्यष्टि स्तर की योजना बनाई जाती है। इस प्रकार सरकार की योजना संबंधी भूमिका का अर्थ है सरकार द्वारा उन बाह्य सीमाओं या विस्तृत सीमाओं का निर्धारण जिनके अंतर्गत व्यष्टि स्तर के कार्यकलापों की योजना बनाई जाएगी और उनका संपादन होगा।

योजना की भूमिका के संदर्भ में व्यापक योजना हो सकती है या खंडश: योजना हो सकती है। व्यापक योजना के अंतर्गत समस्त अर्थव्यवस्था के लिए एक दी हुई अवधि में कार्यकलापों की एक श्रेणी होती है। उदाहरणार्थ हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाएं ऐसी योजना के दृष्टांत हैं। इसके विपरीत खंडश: योजना अस्थायी या तदर्थ होती है जिसका उद्देश्य किसी आकस्मिक या अस्थायी परिस्थिति का सामना करना होता है। उदाहरणार्थ, किसी युद्ध के बाद पुनर्निर्माण की योजना बनाना, या सामाजिक सुरक्षा की योजना या 20-सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम।

अवधि की दृष्टि से दीर्घकालीन योजना हो सकती है या अल्पकालीन योजना हो सकती है। दीर्घकालीन योजना में भी लघुकालीन कार्यक्रम हो सकते हैं। योजना का वर्गीकरण संगठनात्मक आयाम की दृष्टि से भी किया जा सकता है। केन्द्रीकृत या विकेन्द्रीकृत योजना हो सकती है। केन्द्रीकृत योजना ऊपर से होती है तथा यह राज्य स्तर को और फिर उससे भी नीचे की ओर आती है। विकेन्द्रीकृत योजना नीचे से ऊपर की ओर जाती है, अर्थात् व्यक्तिगत इकाइयों जैसे पंचायत स्तर, क्षेत्रीय स्तर और क्षेत्रीय स्तर से होकर राष्ट्रीय स्तर तक। योजना का प्रकार कुछ भी हो, इससे संबंधित कार्यों को बड़ी सावधानी से करना होता है।

योजना के संबंध में कुछ स्पष्ट कदम उठाने होते हैं क्योंकि योजना के कार्यक्रमों के दौरान अर्थव्यवस्था के निर्बाध बाजार कार्यों में हस्तक्षेप करना होता है। सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों को ध्यान रखते हुए लक्ष्यों को निर्धारित करना होता है। ये उद्देश्य राजनैतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा ऐसे व्यापक ढांचे को दर्शाते हैं जिसके अंतर्गत प्राथमिकताएं दी गई होती हैं। ये उद्देश्य आर्थिक संवृद्धि, सामाजिक न्याय, पूर्ण रोजगार, स्थिरता और पारिस्थितिक संतुलन से संबंधित हो सकते हैं। सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों को जब ज्ञात कर लिया जाता है तब विभिन्न क्षेत्रों के लिए भौतिक लक्ष्यों को निर्धारित कर दिया जाता हैं इन लक्ष्यों को निर्धारित करने के बाद इन्हें प्राप्त करने के साधनों को निर्दिष्ट किया जाता है। साधनों का अर्थ होता है नीति-मिश्रण की विस्तृत रूपरेखा। नीति-मिश्रण के अंतर्गत आती हैं मौद्रिक, भौतिक और राजकोषीय नीतियां। इस प्रकार ये साधन उद्देश्यों और लक्ष्यों को कार्यात्मक अर्थ प्रदान करते हैं। कार्यान्वयन की विधियों की भी योजना बनानी होती है। कार्यान्वयन यदि गलत ढंग से किया गया, तो योजना प्राय: असफल रहती है। अंतत: योजना की प्रक्रिया के कार्य संपादन के संबंध में समय-समय पर समीक्षा भी करना होता है, जिससे कार्य संपादन की प्रतिपुष्टि ज्ञात की जा सके। ऐसी समीक्षा के द्वारा लचीलापन बना रहता है एवं भविष्य में परिवर्तन की गुंजाइश बनी रहती है।

सरकार की योजना संबंधी भूमिका संतुलित एवं इष्टतम होनी चाहिए। यहां इष्टतम और संतुलित से अभिप्राय होता है आर्थिक क्षमता और सामाजिक वांछनीयता से।

बोध प्रश्न ख

i) नई आर्थिक नीति 1991 के अनुसार सार्वजनिक क्षेत्र के लिए प्राथमिक क्षेत्रों का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

ii) व्यवसाय कार्यों के संवर्धन संबंधी सरकार के विभिन्न कार्यों का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iii) सरकार की उद्यमकर्ता संबंधी भूमिका के नये आयामों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

.....

.....

.....

.....

iv) व्यवसाय कार्यों के संवर्धन के संबंध में सरकार के किन्हीं पांच कार्यों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

.....

5.7 नियामक ढांचा (Regulatory Framework)

निर्माण और कार्यान्वयन विकास के दो पक्ष हैं। नियामक ढांचा इन दोनों के बीच सेतु का काम करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि योजनाओं की प्रभाविता केवल इसी बात पर निर्भर नहीं करती कि इनका निर्माण किस प्रकार किया जाता है बल्कि अधिकतर इस बात पर निर्भर करती है कि इनका कार्यान्वयन किस प्रकार किया जाता है। कार्यान्वयन के लिए कानून की सहायता की आवश्यकता होती है। इस कानूनी सहायता से आर्थिक और कानूनी-राजनैतिक पर्यावरण में आदान-प्रदान होता है। अनुच्छेद 5.3 में विभिन्न प्रकार के नियामक विधियों के संबंध में चर्चा की गई है। नीचे उन विभिन्न प्रकार के मूलभूत अधिनियमों की चर्चा की गई है जिन्हें इसलिए बनाया गया है कि सरकार का कार्य अधिक उत्पादक और सार्थक हो सके।

1) **एकाधिकार तथा प्रतिबंधित व्यापारिक व्यवहार MRTP अधिनियम 1969 :** इस अधिनियम के तीन उद्देश्य हैं : i) व्यवसाय और उद्योग के कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति के

संकेन्द्रण पर नियंत्रण और विनियमन, ii) एकाधिकारों एवं एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहारों पर नियंत्रण करना, तथा iii) कोई प्रतिबंधित व्यापारिक व्यवहार जब तक लोक हित में न हो तब तक उस पर रोक लगाना।

2) **कंपनी अधिनियम, 1956 :** भाभा समिति की सिफारिशों के आधार पर कंपनी अधिनियम के पांच उद्देश्य हैं: i) कंपनियों के संवर्धन और प्रबंध के संदर्भ में व्यवसाय में ईमानदारी और आचरण के न्यूनतम स्तर को बनाए रखना, ii) कंपनी के कार्यकलापों के संबंध में सभी समुचित सूचनाओं का उचित और पूर्णत: प्रकट, iii) यह सुनिश्चित करना कि कंपनी के कार्यों में शेयरधारियों की प्रभावी सहभागिता तथा उनका नियंत्रण हो एवं उनके हितों की रक्षा हो, iv) यह सुनिश्चित करना कि कंपनी के प्रबंधक अपने कर्त्तव्यों का पालन सही ढंग से करें, तथा v) जिन कंपनियों का प्रबंध शेयरधारियों एवं जनता के हित में नहीं हो रहा है उनके कार्यों में हस्तक्षेप करना तथा जांच-पड़ताल करना।

3) **विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1947 :** इस अधिनियम में 1957, 1965, और 1973 में संशोधन किए गए तथा अंतिम संशोधन के अनुसार इसका उद्देश्य निम्नलिखित पर नियंत्रण करना है: i) बहुराष्ट्रीय व्यवसाय के कार्यकलाप, ii) विदेशी पूंजी, प्रौद्योगिकी और प्रबंध उद्यमों के प्रवाह, और iii) विदेशी सहयोग और संयुक्त उद्यम।

4) **पूंजी निर्गमन नियंत्रण अधिनियम, 1956 और प्रतिभूति अनुबंध विनियमन अधिनियम :** इन दो अधिनियमों द्वारा यह माना गया है कि सरकार पूंजी बाजार का संवर्धक होती है एवं शेयरधारियों का रक्षक होती है। इन अधिनियमों का लक्ष्य है उत्पादक निवेश उद्यमों में दुर्लभ पूंजी संसाधनों का कुशलतापूर्वक आबंटन करना।

5) **आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1974 :** इसका लक्ष्य है आवश्यक वस्तुओं की उचित ढंग से पूर्ति एवं वितरण को सुनिश्चित करना। यह अधिनियम खाद्यानों के जमाखोरों, मुनाफाखोरों एवं चोर बाजारी करने वालों के विरोध में लागू किया जाता है।

6) **बैंकिंग सेवा आयोग अधिनियम, 1975 :** इस अधिनियम में राष्ट्रीयकृत बैंकों के अधिकारियों और कर्मचारियों के चयन के लिए एक आयोग की स्थापना की व्यवस्था की गई है।

7) **औद्योगिक संबंध अधिनियम, 1978 :** इस अधिनियम का उद्देश्य देश में औद्योगिक संबंधों में सुधार लाना है।

8) **रुग्ण कपड़ा उपक्रम (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम, 1974 :** इस अधिनियम के द्वारा 103 रुग्ण कपड़ा मिलों के राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था की गई है जिससे विभिन्न किस्म के कपड़ा के उत्पादन को बढ़ाया जा सके तथा उचित दाम पर उन्हें बेचा जा सके।

9) **नगर भूमि (अधिनियम सीमा और विनियमन) अधिनियम, 1976 :** इस अधिनियम का मुख्य प्रयोजन अनर्जित आय और संपत्ति के वितरण में बढ़ती हुई असमानता पर रोक लगाना है। इस अधिनियम के द्वारा भविष्य में बनने वाले मकानों के वास्तविक निर्माण क्षेत्र (plinth area) के संबंध में उच्चतम सीमा निर्धारित कर दी गई है तथा नगरी संपत्ति के विक्रय एवं हस्तांतरण पर सरकारी नियंत्रण की व्यवस्था कर दी गई है।

10) **कंपनी (लाभांशों पर अस्थायी निर्बंधन) अधिनियम, 1974 :** इस अधिनियम का उद्देश्य है उपभोक्ताओं के खर्च पर रोक लगाना तथा देश में बचत को बढ़ावा देना। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए व्यवस्था की गई है कि कुछ कंपनियों द्वारा घोषित लाभांशों के कर के बाद के लाभों के एक तिहाई से अधिक नहीं होना चाहिए या कंपनी के ईक्विटी शेयरों के अंकित मूल्य पर 12 प्रतिशत की रकम से अधिक नहीं होना चाहिए।

11) **प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी बिल, 1990 :** इसके अंतर्गत प्रयास किया गया है कि कानूनी उपायों द्वारा प्रबंध के विभिन्न स्तरों पर श्रमिकों की भागीदारी को लोकप्रिय बनाया जाए।

12) **रुग्ण औद्योगिक कंपनी अधिनियम, 1985 :** इस अधिनियम ने औद्योगिक एवं वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) की स्थापना की व्यवस्था की। इसका लक्ष्य है उन कंपनियों के प्रबंध एवं उनकी वास्तविक स्थिति की जांच पड़ताल की व्यवस्था करना जो अपने को रुग्ण होने का दावा करते हैं।

13) **उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1976 :** इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना है। यह कार्य उपभोक्ता परिषदों एवं अन्य संबंधित प्राधिकारों की स्थापना करके किया जाता है जहां उपभोक्ताओं के विवादों का निपटारा किया जाता है।

14) **उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 :** इस अधिनियम के द्वारा उद्योगों के विकास और विनियमन के नियामक ढांचे की व्यवस्था की गई है, जिसमें उन्हें देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रणाली के अनुकूल बनाया जा सके।

इस अधिनियम के अंतर्गत सरकार को अधिकार है कि वह देश के उपलब्ध संसाधनों का प्रभावी ढंग से उपयोग कर सके, छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगों को विकसित कर सके तथा संतुलित ढंग से देश के क्षेत्रीय विकास संबंधी कदम उठा सके।

नियामक प्रावधानों के तीन भाग हैं - i) प्रशासनिक, ii) नियंत्रण संबंधी, एवं iii) परामर्श संबंधी।

i) **प्रशासनिक प्रावधानों** को प्राय: प्रतिबंधित कहा जाता है तथा उनका पालन करना उद्योगों के लिए आवश्यक होता है। चूक करने की स्थिति में दंड संबंधी कार्यवाहियां की जा सकती हैं।

ii) **नियंत्रण संबंधी प्रावधानों** का स्वरूप उपचारी होता है और इनके द्वारा उद्योगों के कार्यों के नियंत्रण की व्यवस्था होती है। सरकार पूर्ति, वितरण, कीमतों और प्रबंध तक पर नियंत्रण करती है।

iii) **परामर्श संबंधी प्रावधानों** में विभिन्न सलाहकार संस्थाओं की स्थापना की व्यवस्था है। इन संस्थाओं में विभिन्न पक्षों के प्रतिनिधि होते हैं जो विशिष्ट समस्याओं का विश्लेषण करते हैं तथा संभव समाधानों का सुझाव देते हैं। ऐसी कुछ सलाहकार संस्थाएं निम्नलिखित हैं: **केन्द्रीय सलाहकार परिषद्, केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की स्थायी समिति, समीक्षा उप-समिति** और **विकास परिषद्**। यदि किन्ही स्थितियों में विकास परिषदों की स्थापना करना संभव नहीं है तो उद्योग पैनलों को बनाने का भी प्रावधान किया गया है।

कुछ प्रमुख विधायी उपायों की समीक्षा करने पर हम पाते हैं कि भारत में व्यवसाय के विनियमन के लिए अत्यंत स्वस्थ, व्यापक और पूर्ण नियामक ढांचे की व्यवस्था की गई है। परन्तु मुख्य समस्या उठ खड़ी होती है उनके प्रभावी ढंग से कार्यान्वयन के निर्देशन के संबंध में। कानून तो अनेकों हैं परन्तु इस संबंध में संदेह है कि उनका पालन हो रहा है या नहीं। कानूनों के बनने के बावजूद उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं हो पाई है। अत: किसी ऐसे तंत्र को विकसित करने की आवश्यकता है जिससे इन कानूनों का पालन कराया जा सके।

5.8 सरकार की पुन: परिभाषित भूमिका (Redefined Role of Government)

भारत के संविधान में दिए गए राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों में प्रावधान है कि राज्य आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करेगा। लेकिन किसी जिम्मेदारी को तब तक पूरा नहीं किया जा सकता जब तक कि उस संबंध में पर्याप्त अधिकार प्राप्त न हों। अत: अर्थव्यवस्था के नियंत्रण के संबंध में सरकार के पास पर्याप्त अधिकार होता हैं तदनुसार सरकार अपनी चार भूमिकाओं-नियामक, संवर्धन संबंधी, उद्यमकर्ता संबंधी और योजना संबंधी - को निभाने में अत्यंत सक्रिय रही है। फिर भी हाल के वर्षों में यह प्रश्न

उठाया जाने लगा है कि सरकार की इन चार भूमिकाओं के फलस्वरूप गुणात्मक और मात्रात्मक रूप में वांछित आर्थिक संवृद्धि कहां तक हो पाई है। साम्यवादी देशों में हो रहे अनेक क्रांतिकारी परिवर्तनों से स्पष्ट हो गया है कि इन देशों की सरकारें आर्थिक कष्टों को दूर करने में असफल रही हैं। विभिन्न देशों के अनुभवों से चार महत्वपूर्ण तथ्य सामने आए हैं: i) निर्देशित अर्थव्यवस्था (command economy) व्यवसाय को कुशलतापूर्वक चलाने में असफल रही है, ii) लोगों की आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन करने और न्यायोचित ढंग से उनका वितरण करने में बाजार अर्थव्यवस्था केन्द्रीय आयोजित प्रणाली की तुलना में अधिक प्रभावी साधन सिद्ध हुई है; iii) विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण एवं विकास के कार्य के लिए विदेशी प्रौद्योगिकी और निवेश को अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है, तथा iv) बाजार निर्देशित प्रणाली की ओर संक्रमण को पुरानी प्रणाली के घनात्मक सामाजिक पक्ष के अनुरूप माना जाता है।

बहुत पहले से ही भारत में सरकार की भूमिका अत्यंत अव्यवस्थित स्थिति में रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आर्थिक संवृद्धि बहुत कुछ हुई है। लेकिन ये परिवर्तन केवल मात्रात्मक रूप में ही हुए हैं। मात्रात्मक रूप में भी हम पाते हैं कि कोरिया, मलेशिया, जापान एवं सिंगापुर की तुलना में भारत की आर्थिक संवृद्धि की दर अत्यंत असंतोषजनक रही है। जैसे-जैसे यह महसूस किया जाने लगा कि राज्य की भूमिका अपर्याप्त होती है एवं उसके परिणाम प्रभावी नहीं हो पाते वैसे-वैसे राज्य की भूमिका की पुन: परिभाषा देना आवश्यक समझा गया और इसी संदर्भ में 1980 के दशक के प्रारंभ में उदारीकरण के कदम उठाए गए। यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर 1991 में पहुंची जबकि नई आर्थिक नीति की घोषणा की गई तथा निजीकरण, उदारीकरण और विश्वव्यापीकरण के रूप में प्रमुख परिवर्तन किए गए। इन क्रांतिकारी परिवर्तनों के प्रमुख उद्देश्य हैं- i) आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना, ii) पूंजी का उपयोग और अच्छी तरह से करना. iii) बड़े पैमाने के लाभों को प्राप्त करना, iv) पिछड़े हुए क्षेत्रों को विकसित करना एवं विकास के रूप में क्षेत्रीय असमानताओं को दूर करना, v) निर्यात को एवं आयात-प्रतिस्थापन को बढ़ावा देना, vi) लागत को कम करके, बरबादी को दूर करके एवं दक्षता में वृद्धि करके गुणवत्ता एवं प्रभाविता के रूप में प्रतिस्पर्धा को बढ़ाना, तथा vii) विश्वव्यापी व्यवसाय में भारत के लिए आदरणीय स्थान प्राप्त करना।

नई आर्थिक नीति में यह माना गया है कि आर्थिक संवृद्धि के होने एवं औद्योगिक ढांचे और पर्यावरण में जटिलताओं के बढ़ने के साथ-साथ आवश्यक होता है कि कानूनी कार्यवाहियों के रूप में सरकार की ओर से होने वाले हस्तक्षेपों में काफी कमी की जाए। 1991 की नई आर्थिक नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं: i) लाइसेंस प्रणाली को समाप्त करना, ii) आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण के संबंध में एकाधिकार तथा प्रतिबंधित व्यापारिक व्यवहार (MRTP) विनियमों को समाप्त करना, iii) विदेशी निवेश एवं प्रौद्योगिकीय सहयोग को उदार बनाना, तथा iv) सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका को पुन: परिभाषित करना।

नई नीति में उद्यमों के चयनात्मक निजीकरण पर जोर दिया गया है। यह भी निर्णय लिया गया है कि जो सार्वजनिक उद्यम सक्षमतापूर्वक नहीं चल रहे हैं उन्हें बंद कर दिया जाए और सार्वजनिक क्षेत्र के जिन रुग्ण इकाइयों को कुशलतापूर्वक चलाया जा सकता है उन्हें औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) के अंतर्गत लाया जाए। नीति यह है कि सामजिक एवं सैनिक महत्व के क्षेत्रों को छोड़कर विनिर्माण के सभी क्षेत्रों में, वह निजी क्षेत्र हो या सार्वजनिक क्षेत्र, एकाधिकार को समाप्त कर दिया जाए तथा सभी प्रकार के विनिर्माण कार्यकलापों को प्रतियोगिता के लिए मुक्त कर दिया जाए। इस नीति के अंतर्गत शेयरों को म्युचुअल फंडों, श्रमिकों एवं आम जनता के बीच बेचकर उनका निजीकरण करने का भी प्रस्ताव है।

सार्वजनिक निवेश की वर्तमान सूची में भी परिवर्तन किया जा रहा है ताकि ऐसे कुछ क्षेत्रों से सार्वजनिक निवेश को हटा लिया जाए जिनमें कुछ विशेष स्थितियां पाई जाती हैं। ये स्थितियां निम्नलिखित हैं:

i) कम मात्रा की प्रौद्योगिकी पर आधारित उद्योग,

ii) छोटे पैमाने के और गैर सामरिक क्षेत्र,

iii) अकुशल और अनुत्पादक क्षेत्र,

iv) कम मात्रा या शून्य मात्रा में सामाजिक उत्तरदायित्व वाले क्षेत्र, और

v) वे क्षेत्र जिनमें निजी क्षेत्रों ने पर्याप्त मात्रा में निपुणता हासिल कर लिया है।

सरकार की नई भूमिका में निजीकरण के लिए पर्यावरण की व्यवस्था पर जोर दिया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र में निजी क्षेत्र के सहयोग से संयुक्त-क्षेत्र उपक्रमों को स्थापित करने का काम भी शुरू किया गया है। सरकार उन क्षेत्रों से अपना निवेश वापस कर रही है जिनमें निजी उद्यम अधिक कुशल सिद्ध होगा। इस प्रकार क्रमिक रूप से निजीकरण की प्रक्रिया की शुरूआत की जा चुकी है। इस नई भूमिका के फलस्वरूप जनता पर बजट भार कम होगा, विकास कार्यों के लिए अधिक संसाधनों को उपलब्ध कराया जा सकेगा, सरकार आवश्यक सरकारी कार्यों और प्राथमिकता के क्षेत्रों पर अधिक ध्यान दे पाएगी तथा उपभोक्ता सार्वजनिक क्षेत्र के उदासीन और अहंकारी व्यवहार से मुक्त हो पाएंगे। इस प्रकार पुन: परिभाषित रूप में यह कहना आवश्यक होगा कि भविष्य में सरकार की भूमिका में देश की अर्थव्यवस्था की न्यायसम्मत रूप में संवृद्धि के लिए आधारिक संरचना और पर्यावरण की व्यवस्था करनी होगी। इस भूमिका में इस बात पर जोर दिया गया है कि सरकार को चाहिए कि वह आवश्यक कार्यकलापों और प्राथमिकता वाली समस्याओं पर अपना ध्यान दे, तथा अपनी शक्ति दु:साध्य कार्यों पर न लगाए, दुर्लभ साधनों को बरबाद न करें और आम जनता के भार को और अधिक न करे।

बोध प्रश्न ग

i) नई उद्योग नीति 1991 के प्रमुख उद्देश्यों का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) उपर्युक्त नीति के मुख्य विशेषताएं बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

5.9 सारांश

व्यवसाय को प्रोत्साहित करने के संबंध में सरकार की भूमिका में सदा परिवर्तन होता रहता है। अहस्तक्षेप नीति के बाद अर्थव्यवस्था में सरकारी प्रभुत्व का समय आया तथा व्यवसायों की संवृद्धि और विकास का समस्त भार सरकार के कंधे पर आ गया। इसके फलस्वरूप सर्वाधिकारी प्रकार की (totalitarian type) आर्थिक व्यवस्था का उदय हुआ। पर शीघ्र ही महसूस किया गया कि सर्वाधिकारी प्रणाली वांछित परिणाम नहीं ला सकती। अत: सरकार की भूमिका को विनियमों, संवर्धन, सहयोग एवं कानून के अर्थ में अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया। परन्तु शीघ्र ही यह भी स्पष्ट हो गया कि हस्तक्षेप के इन क्षेत्रों में भी कुछ मात्रा में उदारीकरण की आवश्यकता होती है। इस अनुभूति के फलस्वरूप निर्देशित अर्थव्यवस्था ने बाजार अर्थव्यवस्था का रूप ले लिया। इस प्रकार अन्य देशों के अनुभवों एवं अपने ही देश के अनुभव के आधार पर लक्ष्य को पुन: परिभाषित करके उदारीकरण और निजीकरण पर जोर दिया जाने लगा। फिर भी सामाजिक न्याय के साथ संवृद्धि लाने को अब भी अच्छा माना जाता है।

5.10 शब्दावली

व्यवसाय (Business): लाभ का अर्जन करने की दृष्टि से किया जाने वाला कोई भी कार्यकलाप।

पूंजीवाद (Capitalism) : वह आर्थिक प्रणाली जिसमें उत्पादन और वितरण के साधन निजी क्षेत्रक के हाथों में होते हैं।

सहकारी क्षेत्र (Cooperative Sector) : इसके अंतर्गत उत्पादन के स्वामित्व का अत्यधिक बिखराव हो जाता है और विकास कार्यों में लोगों का सक्रिय योगदान होता है।

विकेन्द्रित योजना (Decentralised Planning) : वह योजना जिसके अंतर्गत निर्णय करने का कार्य एवं कार्यान्वयन नीचे से ऊपर की ओर जाता है।

उद्यमवृत्ति (Entrepreneurship) : वह स्थिति जिसमें व्यवसाय क्रियाओं के साथ जोखिम-वहन भी शामिल होता है।

राजकोषीय उपाय (Fiscal Measures) : मुद्रा और राजस्व से संबंधित उपाय और कार्यकलाप।

आयात शुल्क (Import Duty) : किसी देश में आयातित माल पर लगाया जाने वाला कर।

प्रोत्साहन (Incentive) : किसी कार्य को प्रोत्साहित करने के लिए मौद्रिक या गैर-मौद्रिक रूप में दिया जाने वाला प्रोत्साहन।

अहस्तक्षेप नीति (Laissez–faire policy) : सरकारी नियंत्रण या हस्तक्षेप के बिना ही स्वतंत्र रूप से आर्थिक विकास लाने का सिद्धांत।

लाइसेंस प्रणाली (Licensing System) : वह प्रणाली जिसमें किसी उद्योग को स्थापित करने या उसकी शुरूआत करने के लिए सरकार से अनुमति लेने की आवश्यकता होती है।

बाजार तंत्र (Market Mechanism) : मांग, पूर्ति एवं कीमतों में अन्योन्यक्रिया तथा कीमतों में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप लोगों की ओर से प्रत्युत्तर।

मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) : वह आर्थिक प्रणाली जिसमें निजी क्षेत्र एवं सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही साथ-साथ कार्य करते हैं।

निजी क्षेत्र (Private Sector) : वह क्षेत्र जिसमें उत्पादन और वितरण के साधन निजी व्यक्तियों के स्वामित्व और नियंत्रण में होते हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) : वह क्षेत्र जिसमें उत्पादन और वितरण के साधन सरकार के स्वामित्व और नियंत्रण में होते हैं

लोकोपयोगी सेवाएं (Public Utilities) : वे उपक्रम जो सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं का निर्माण तथा उनका वितरण करते हैं।

रुग्ण इकाइयां (Sick Units) : वे इकाइयां जो लाभप्रदता एवं निवेश पर आय की दर की दृष्टि से सुचारू रूप से नहीं चल रही हैं।

समाजवाद (Socialism) : वह आर्थिक प्रणाली जिसमें उत्पादन और वितरण के साधन सरकार के स्वामित्व में होते हैं तथा समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर कार्य किए जाते हैं।

5.11 स्व-परख प्रश्न

1) सरकार की संवर्धनात्मक भूमिका से आप क्या समझते हैं? विवेचन कीजिए।

2) सरकार की नियामक भूमिका के स्वरूप और उसके निहितार्थों की व्याख्या कीजिए।

3) व्यवसाय के क्षेत्र में सरकार की भूमिका के उद्यम संबंधी स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

4) व्यवसाय में सरकार की नियामक भूमिका के मार्ग में क्या समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इनका समाधान कैसे किया जा सकता है?

5) भारत के औद्योगिक विकास में सरकार अपनी योजना भूमिका का निष्पादन जिस प्रकार कर रही है उसकी व्याख्या कीजिए।

6) 1991 में नई उद्योग नीति की घोषणा के बाद व्यवसाय के संदर्भ में सरकार की भूमिका के स्वरूप और उसके आयामों का परीक्षण कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 6 समष्टि आर्थिक नीतियाँ

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 समष्टि आर्थिक नीति का अर्थ
6.3 राजकोषीय नीति का अर्थ
6.4 भारत में राजकोषीय नीति के उपकरण
  6.4.1 मुद्रा जुटाने की विधियां
  6.4.2 मुद्रा व्यय करने की विधियां
6.5 भारत का बजटीय रूपरेखा
  6.5.1 बजट का संक्षिप्त प्रारूप
  6.5.2 घाटे के माप
  6.5.3 सकल राजकोषीय घाटे के वित्तीयन के साधन
6.6 राजकोषीय नीति के उद्देश्य
6.7 मौद्रिक नीति का अर्थ
  6.7.1 केन्द्रीय बैंक क्या है?
  6.7.2 भारत में मुद्रा आपूर्ति की अवधारणा
6.8 भारत में मौद्रिक नीति के उपकरण
  6.8.1 मात्रात्मक उपकरण
  6.8.2 गुणात्मक उपकरण
6.9 मौद्रिक नीति के उद्देश्य
6.10 भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका
6.11 सारांश
6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर
6.14 स्व-परख प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- समष्टि आर्थिक नीति का अर्थ समझा सकें
- रोजकोषीय नीति का अर्थ और उद्देश्य समझा सकें
- राजकोषीय नीति के उपकरण बता सकें
- मौद्रिक नीति का अर्थ व उद्देश्य समझा सकें
- केन्द्रीय बैंक का अर्थ और उसके कार्य बता सकें
- भारत में मुद्रा आपूर्ति की अवधारणा समझ सकें
- मौद्रिक नीति के मात्रात्मक तथा गुणात्मक उपकरणों के बीच अंतर बता सकें
- भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका समझा सकें

6.1 प्रस्तावना

अर्थशास्त्र में समष्टि शब्द से अर्थ 'देश के संबंध में' लिया जाता है। अत: समष्टि आर्थिक नीति का अर्थ है देश के आर्थिक पहलूओं के बारे में नीति। राष्ट्रीय स्तर की कोई भी नीति केन्द्रीय सरकार बनाती है। इसे अमल में लाने के लिए इसके बहुत से विभाग हैं या फिर इस उद्देश्य से स्थापित की गयी विशिष्ट संस्थाएं हैं

देश की केन्द्रीय सरकार कृषि, उद्योग, सेवाओं, रोजगार, मुद्रा आपूर्ति, साख, कर, सरकारी व्यय, ऋण आदि के बारे में विशेष नीतियां अपनाती हैं। ये सभी समष्टि आर्थिक नीतियां हैं। इन नीतियों में से कुछ का प्रभाव तो किसी क्षेत्र विशेष पर पड़ता है और कुछ का अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों पर एक साथ पड़ता है। उदाहरण के लिए कृषि के बारे में कोई भी नीति कृषि क्षेत्र के विकास पर प्रभाव डालती है। अब एक और नीति कर नीति का उदाहरण लीजिए। इसका प्रभाव अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों पर एक साथ पड़ सकता है। यही वास्तव में राष्ट्रीय स्तर की नीति कहलायगी। मुद्रा आपूर्ति, साख, रोजगार, शिक्षा आदि के बारे में नीतियां राष्ट्रीय स्तर की नीतियों के अन्य उदाहरण हैं।

इस इकाई में आप राष्ट्रीय स्तर की दो नीतियों के बारे में पढ़ेंगे। ये हैं राजकोषीय और मौद्रिक नीतियां। राजकोषीय नीति का उद्देश्य सरकारी व्यय और कर प्रणाली में परिवर्तन लाकर देश के विभिन्न क्षेत्रों की कार्यप्रणाली को नियमित करना और इन क्षेत्रों का विकास करना है। मौद्रिक नीति, यही उद्देश्य मुद्रा आपूर्ति को नियंत्रण में रख कर और इसके माध्यम से अर्थव्यवस्था की साख और निवेश दशाओं पर नियंत्रण पूरा रखती है।

6.2 समष्टि आर्थिक नीति का अर्थ

समष्टि आर्थिक नीति से अभिप्राय राष्ट्रीय स्तर पर सोच समझ कर लिए गए ऐसे उपायों से है जो कि अर्थव्यवस्था और उसके क्षेत्रों की कार्यकारी प्रणाली और विकास पर प्रभाव डालते हैं। यह नीति सरकार बनाती है। सरकार द्वारा नियंत्रित संस्थाएँ इसको अमल में लाती हैं। समष्टि नीतियों में दो महत्वपूर्ण नीतियां राजकोषीय और मौद्रिक नीतियाँ हैं।

राजकोषीय नीति सरकार की आय और व्यय नीति है। सरकार को देश का प्रशासन चलाने, जनता और व्यवसाय को सुविधाएँ प्रदान करने, विकास कार्यों आदि के लिए पैसे की आवश्यकता होती है। सरकार की आय का प्रमुख साधन कर है। सरकार किस किस प्रकार के कर लगाती है इसका अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। नीतिगत उद्देश्यों को ध्यान में रख सरकार देश की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करने हेतु कराधान (taxation) को एक उपकरण के रूप में प्रयोग में लाती है। सरकारी व्यय एक और उपकरण है। सरकारी व्यय का लोगों के जीवन स्तर, व्यावसायिक वातावरण, विभिन्न क्षेत्रों के विकास, आदि पर प्रभाव पड़ता है। राजकोषीय नीति की झलक सरकारी बजट में मिलती है।

मौद्रिक नीति का विस्तृत उद्देश्य देश में मुद्रा आपूर्ति को नियंत्रित करना है। मुद्रा आपूर्ति के नियंत्रण से ब्याज, साख, निवेश, कीमतों, विदेशी मुद्रा के प्रवाह, आदि प्रभावित होते हैं। यह नीति देश का केन्द्रीय बैंक बनाता है और वाणिज्य बैंकों के माध्यम से यह अमल में आती है। भारतीय रिर्जव बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है। भारतीय स्टेट बैंक, पंजाब नेशलन बैंक, कनारा बैंक, यूनियन बैंक ऑफ इंडिया, यू. टी. आई बैंक आदि भारत में वाणिज्य बैंकों के उदाहरण हैं। व्यवहार में तो सभी वित्तीय संस्थाएँ, बैंकिंग हो या गैर-बैंकिंग, पत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मौद्रिक नीति को अमल में लाने में सहायक होती हैं।

मौद्रिक और राजकोषीय नीतियों के अधिकतर उद्देश्य एक जैसे हैं। दोनों का मूलभूत उद्देश्य तो दो देश की आर्थिक संवृद्धि और विकास है। आगे भागों में हम भारत में राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों के विभिन्न उद्देश्य, उपकरण और इनको अमल में लाने वाली सरकारी संस्थाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

6.3 राजकोषीय नीति का अर्थ

राजकोषीय शब्द से अभिप्राय एक राज्य के कोष से सम्बंधित सभी मामलों से है, विशेषतया राजस्व के साधनों और व्यय के ढांचे से। तदनुसार, राजकोषीय नीत सरकार के कर लगाने और व्यय करने की शक्ति से सम्बंधित है। यह शक्ति कीमतों, उत्पादन तथा रोजगार जैसे नीतिगत उद्देश्यों को पूरा करने हेतु प्रयोग में लायी जाती है।

राजकोषीय नीति दो मूलभूत विषयों से सम्बंधित है। प्रथम, कर कम किये जाएँ या बढ़ाए जाएँ? दूसरे, सरकारी खर्चे कम हो या बढ़ें? कर कम करने से और सरकारी व्यय में वृद्धि से मांग बढ़ती है। इससे अर्थव्यवस्था का विस्तार होता है। कर अधिक करने से और सरकारी व्यय कम करने से मांग घटती है और अर्थव्यवस्था का संकुचन होता है। राजकोषीय नीति में प्रमुखता इस बात की रहती है कि सरकार राजस्व कैसे उगाहती है और इसे खर्च कैसे करती है। सरकार, कर लगा कर, उधार लेकर या फिर नोट छाप कर पैसा उगाहती है। राजस्व के हर स्त्रोत के अर्थव्यवस्था पर अलग-अलग प्रभाव पड़ते हैं। सरकार पैसा सार्वजनिक कार्यों पर व्यय करती है या फिर हस्तांतरण भुगतान करती है। सार्वजनिक कार्यों में सडकें, पार्क, पुल, सरकारी भवन, जल आपूर्ति, बिजली आपूर्ति, शिक्षा संस्थाएँ आदि होती हैं। हस्तांतरण भुगतान में वृद्धावस्था पैन्शन, ब्याज भुगतान आदि आते हैं।

राजकोषीय गतिविधि **विवेकाधीन** (discretionary) व **गैर-विवेकाधीन** (non-discretionary) दो प्रकार की हो सकती है। **विवेकाधीन गतिविधि** कर लगाने और व्यय करने के बारे समझबूझ कर निर्णय लेती हैं। ये निर्णय अर्थव्यवस्था में स्फीतिक (inflationary) या **अपस्फीतिक** (deflationary) प्रवृत्तियों के कारण उत्पन्न स्थिति को ठीक करने और देश के उत्पादन और रोजगार पर प्रभाव डालने हेतु ली जाती है। **गैर-विवेकाधीन गतिविधि** से अभिप्राय सरकारी व्ययों और करों में होने वाले उन परिवर्तनों से है जो स्वय हो जाते हैं और वित्त मंत्री इनके बारे में स्वयं कोई निर्णय नहीं लेता। उदाहरणत: प्रगामी (progressive) आय कर नीति स्फीति की दशा में स्वयं ही लोगों की क्रय शक्ति पर प्रभाव डालती है। विवेकाधीन और गैर-विवेकाधीन राजकोषीय गतिविधियों का यह अंतर राजकोषीय नीति की परिभाषा और स्पष्ट करने में सहायक हैं।

सही तौर पर, आधुनिक अर्थ में राजकोषीय नीति से अभिप्राय अपने व्ययों और कर लगाने के बारे में सोच समझ कर सरकार द्वारा लिए गए उन निर्णयों से है जो निश्चित उद्देश्यों को पूरा करने हेतू लिए जाते हैं, जैसे कीमत में स्थिरता लाना, उत्पादन व रोजगार को एक निश्चित स्तर तक पहुँचाना, आदि। इस प्रकार आधुनिक राजकोषीय नीति एक विवेकाधीन राजकोषीय नीति है।

6.4 भारत में राजकोषीय नीति के उपकरण

यह हम बता ही चुके हैं कि राजकोषीय नीति से अभिप्राय अपने व्ययों और कर लगाने के बारे में सरकार द्वारा समझबूझ कर लिए गये निर्णयों से है। भारतीय संदर्भ में मोटे तौर पर अभिप्राय इस बात से है कि सरकार राजस्व किस प्रकार उगाहती है और खर्चे किस प्रकार करती है। इन दो पहलुओं को हम अब विस्तार से देखते हैं।

6.4.1 मुद्रा जुटाने की विधियाँ

मुद्रा के स्त्रोत का चुनाव सरकार किस प्रकार करती है? सार्वजनिक वित्त में इसे "राजस्व के स्त्रोत" (sources of revenue) कहा जाता है। राजस्व के ये स्त्रोत राजकोषीय नीति के एक प्रकार के उपकरण हैं। सरकार के पास राजस्व के तीन मूलभूत स्त्रोत होते हैं: (क) कराधान, (ख) ऋण लेना, तथा (ग) नयी मुद्रा छापना। भारत में कर भिन्न राजस्व (non-tax revenue) के रूप में एक और स्त्रोत है। इनमें से नयी मुद्रा छापने का सहारा अंतिम उपकरण के रूप में लिया जाता है। भारत में सरकार के पास पैसे के तीन स्त्रोत है

1) कर राजस्व (Tax revenue)
2) कर भिन्न राजस्व (Non-tax revenue)
3) पूंजी प्राप्तियाँ (Capital receipts)

इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है:

1) कर राजस्व (Tax Revenue)

कर सरकार को किया गया एक अनिवार्य भुगतान है। करों को कई वर्गों में बांटा जा सकता है।

किसी भी प्रणाली में तीन मुख्य प्रकार के कर होते हैं : आयों पर, सम्पत्ति पर तथा उत्पादन व उपभोग क्रियाओं पर कर। भारत में केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये गय मुख्य कर ये है:

1) निगम कर
2) आय कर
3) ब्याज कर
4) व्यय कर
5) धन कर
6) दान कर
7) सीमा शुल्क
8) संघ उत्पादन शुल्क
9) सेवा कर
10) अन्य कर और शुल्क
11) संघ राज्य क्षेत्रों के कर

इनमें से वर्ष 1997-98 के बजट में संघ उत्पादन शुल्क को कुल कर प्राप्तियों का 34% भाग था, सीमा शुल्क का 34% आय कर का 14% तथा निगम कर का 14% भाग था। केन्द्रीय सरकार के कुल कर राजस्व लगभग इन्ही चार मदों से आता है। बाकी सभी मदों का योग केवल 3 प्रतिशत था। आय कर व्यक्तियों की आयों पर लगा कर है। निगम कर कम्पनियों के लाभ पर लगा कर है। कम्पनियों के स्वामियों को लाभ बांटने से पूर्व यह कर लगता है। इन दोनों करों से प्राप्त राजस्व कुल कर राजस्व का 28% था।

आय के वितरण में असामानताएँ कम करने का आय कर एक उपयोगी उपकरण है। संघ उत्पादन शुल्क वस्तुओं के विनिर्माण पर लगाया जाता है। सीमा शुल्क आयात व निर्यात पर लगता है। भारत में यह मुख्यत: आयात पर लगता है। भारत सरकार का लगभग दो तिहाई कर राजस्व संघ उत्पादन शुल्क और सीमा शुल्क से आता है।

2) कर-भिन्न राजस्व (Non-Tax Revenue)

इसमें निम्नलिखित मदें आती हैं:

i) राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों को दिये ऋण पर ब्याज
ii) सरकारी उद्यमों द्वारा देय ब्याज
iii) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के प्राप्त लाभांश व लाभ
iv) विदेशी अनुदान
v) संघ राज्य क्षेत्रों की प्राप्तियाँ

कुल कर-भिन्न राजस्व का 60% से ऊपर प्रथम दो स्त्रोतों से आता है। तीसरे स्त्रोत का योगदान लगभग 15 प्रतिशत है।

3) पूंजी प्राप्तियाँ

इसमें मुख्य मदें ये हैं :

i) सरकार द्वारा जनता से लिए गए ऋण जिसे 'बाजार ऋण' कहते हैं;
ii) राजकोष बिल (treasury bills) बेचकर भारतीय रिजर्व बैंक व अन्य स्त्रोतों से ऋण;
iii) विदेशी सरकारों व संस्थाओं से प्राप्त ऋण, तथा

iv) केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों और संघ राज्यों व अन्य संस्थाओं को दिये गए ऋणों की वसूलियाँ।

पूंजी प्राप्तियों में मोटे तौर पर नये ऋण और दिये गए ऋणों की वसूलियाँ आती है। इन ऋणों में से भारतीय रिजर्व बैंक से ऋण लेना 'घाटे की वित्त व्यवस्था' (deficit financing) कहलाता है। इस व्यवस्था का अर्थ यह है कि ऋण की मात्रा के बराबर नये नोट मुद्रा आपूर्ति में शामिल हो जाते हैं। 1997-98 के बजट में 'घाटे की वित्त व्यवस्था' 16000 करोड़ रु. के बराबर थी जो कि कुल राजकोषीय घाटे का एक चौथाई भाग है। सरकारी क्षेत्र के उद्यमों के शेयरों को पुन: बिक्री पूंजी प्राप्तियों का एक और स्त्रोत है।

केन्द्रीय सरकार के 1997-98 के बजट में राजस्व प्राप्तियों के उपरोक्त तीन वर्गों की तुलनात्मक स्थिति तालिका 6.1 में दिखायी गयी है।

तालिका 6.1 : भारत की केन्द्रीय सरकार की प्राप्तियाँ (बजट अनुमान 1997-98)

राजस्व के स्त्रोत	राशि (करोड़ रु.)	कुल प्राप्तियों का प्रतिशत
कर राजस्व	153143	56%
कर-भिन्न राजस्व	39750	15%
पूंजी प्राप्तियाँ	79033	29%
योग	271926	100%

तालिका 6.1 से स्पष्ट है कि सरकार ऋणों (पूंजी प्राप्तियाँ) पर 29% तक निर्भर है। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार को अपने प्रत्येक रुपये का खर्चा पूरा करने के लिए 29 पैसे का ऋण लेना पड़ता है। यह सरकार पर एक वास्तविक भार है क्योंकि सरकार को इस ऋण को भविष्य में ब्याज सहित वापिस करना पड़ता है।

6.4.2 मुद्रा व्यय करने की विधियाँ

यह राजकोषीय नीति का दूसरा पहलू है। केन्द्रीय सरकार के बजट में सार्वजनिक व्यय को क) आयोजना व्यय व ख) आयोजना-भिन्न व्यय में बांटा गया है। इनमें से प्रत्येक को फिर i) राजस्व और ii) पूंजी व्ययों में बांटा गया है।

आयोजना व्यय (Plan expenditure) में एक वर्ष की केन्द्रीय योजना में शामिल विभिन्न परियोजनाओं, कार्यक्रमों और स्कीमों पर व्यय का प्रावधान होता है।

आयोजना-भिन्न व्यय (Non-plan expenditure) में केन्द्रीय सरकार के वे सभी व्यय आते हैं जो योजनाओं पर होने वाले व्यय के अलावा होते हैं। इसमें ये व्यय शामिल होते है:

क) आवश्यक प्रकार का व्यय जैसे ब्याज भुगतान, रक्षा व आंतरिक सुरक्षा पर व्यय, आदि;

ख) पिछली योजनाओं में निर्मित परिसम्पत्तियों के रखरखाव पर व्यय, तथा

ग) योजना अवधि में एक स्तर पर पंहुची सतत सेवाओं व कार्यों पर होने वाला व्यय। इस तरह जैसे-जैसे योजनाएँ पूरी होती जाती हैं आयोजना-भिन्न व्यय बढ़ता जाता है।

राजस्व व्यय (Revenue expenditure) वह व्यय है जिससे परिसम्पत्तियां का निर्माण नहीं होता। यह व्यय सरकारी विभागों के सामान्य कामकाज सेवाओं, सरकार द्वारा लिए गए ऋण पर ब्याज, आर्थिक सहायता, राज्य सरकारों व अन्यों को अनुदान पर होता है।

पूंजी व्यय (Capital expenditure) परिसम्पत्तियों के अभिग्रहण जैसे भूमि, भवन, मशीनरी, साज समान, शेयर आदि पर होता है।

केन्द्रीय सरकार के 1997-98 के बजट अनुमानों में आयोजना और आयोजना-भिन्न व्ययों की तुलनात्मक स्थिति तालिका 6.2 में दी गयी है।

तालिका 6.2 : केन्द्रीय सरकार के व्यय (1997-98 के बजट अनुमान)

व्यय के प्रकार	राशि (करोड़ रु.)	कुल व्यय का प्रतिशत
1) आयोजना-भिन्न		
क) राजस्व व्यय	145,854	63%
ख) पूंजी व्यय	23,470	10%
कुल (क + ख)	**169,324**	**73%**
2) आयोजना व्यय		
ग) राजस्व व्यय	37,554	16%
घ) पूंजी व्यय	25,298	11%
कुल (ग + घ)	**62,852**	**27%**
3) कुल व्यय (1+2)	**232,176**	**100%**

आयोजना व्यय कुल बजट व्यय का लगभग एक चौथाई जबकि आयोजना भिन्न व्यय तीन चौथाई है। यह सब इस कारण से है कि हम आठ पंचवर्षीय याजनाएँ पूरी कर चुके हैं, यानि कुल 46 वर्ष और जैसे-जैसे योजनाएँ पूरी होती जाती हैं अयोजना भिन्न व्यय बढ़ता चला जाता है।

पूंजी व्यय कुल व्यय का लगभग 1/5 भाग है। शेष 4/5 भाग सामान्य काम-काज पर होने वाला राजस्व व्यय है। इसका काफी बड़ा भाग हस्तांतरण भुगतान जैसे पैन्शन, ब्याज भुगतान, आर्थिक सहायता, आदि पर होता है। यदि इसे प्राप्त करने वाले इसे वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करें तो इससे आय और रोजगार बढ़ता है। कुछ भी हो हस्तांतरण भुगतान समाज के गरीब वर्गों के पक्ष आय का पुन: वितरण करने का एक अच्छा साधन है। दूसरी ओर, पूंजी व्यय राष्ट्र की पूंजी बढ़ाता है, समाज उपयोगी वस्तुएँ जैसे पार्क, सड़कें, स्कूल, हस्पताल आदि उपलब्ध करवाता है और रोजगार पैदा करता है। यह देश के पूंजी आधार बनाने, बुनियादी सुविधाएँ दिलाने, और समाज की आय कमाने के क्षमता बढ़ाने का अच्छा साधन है।

.....

.....

.....

2. भारत सरकार द्वारा मुद्रा छापने के तरीकों के नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

1. वस्तुत: आर्थिक नीति क्या होती है?

बोध प्रश्न क

6.5 भारत का बजटीय रूपरेखा

6.5.1 बजट का संक्षिप्त प्रारूप

भारत की केन्द्रीय सरकार के 1997-98 के बजट का संक्षिप्त प्रारूप तालिका 6.3 में दिया गया है। इसमें बजट में घाटे की स्थिति दिखायी गयी है। घाटे की बहुत सी अवधारणाएँ है: राजस्व घाटा, बजट घाटा, राजकोषीय घाटा तथा प्रारंभिक घाटा। इनमें से राजकोषीय घाटा एक व्यापक माप है। आइए देखें कि इन घाटों के क्या अर्थ हैं।

तालिका 6.3 : भारत सरकार के वर्ष 1997-98 के बजट अनुमान

1) राजस्व प्राप्तियाँ	1) **Revenue Receipts**	**153143**
2) कर राजस्व *(केन्द्र को निवल)*	2) Tax Revenue *(Net to Centre)*	113394
3) कर-भिन्न राजस्व	3) Non-Tax Revenue	39749
4) पूंजी प्राप्तियां	4) **Capital Receipts**	**79033**
5) ऋणों की वसूली	5) Recoveries of Loans	8779
6) अन्य प्राप्तियां	6) Other Receipts	4800
7) उधार और अन्य देयताएं (91-दिवसीय राजकोषीय हुंडियों सहित	7) Borrowings and other liabilities (including 91-days Treasury Bills)	65454
8) कुल प्राप्तियां (1+4)	8) **Total Receipts (1+4)**	**232176**
9) आयोजना-भिन्न व्यय	9) **Non-Plan Expenditure**	**169324**
10) राजस्व खाते पर जिसमें	10) On Revenue Account of which,	145854
11) ब्याज अदायगियां	11) Interest Payments	68000
12) पूंजी खाते पर	12) On Capital Account	23470
13) आयोजना व्यय	13) **Plan Expenditure**	**62852**
14) राजस्व खाते पर	14) On Revenue Account	37554
15) पूंजी खाते पर	15) On Capital Account	25298
16) कुल व्यय (9+13)	16) **Total Expenditure (9+13)**	**232176**
17) राजस्व व्यय (10+14)	17) Revenue Expenditure (10+14)	183408
18) पूंजी व्यय (12+15)	18) Capital Expenditure (12+15)	48768
19) राजस्व घाटा (1-17)	19) **Revenue Deficit (1-17)**	**30266**
20) बजटीय घाटा (8-16)	20) **Budgetary Deficit (8-16)**	#
21) राजकोषीय घाटा (1+5+6)-16	21) **Fiscal Deficit (1+5+6)-16**	**65454**
22) मुद्राकृत राजकोषीय घाटा $	22) **Monetised Fiscal Deficit $**	**16000**
23) प्रारंभिक घाटा (21-11)	23) **Primary Deficit (21-11)**	**-2546**

\# तदर्थ राजकोषीय हुंडियों और निरन्तर उपलब्ध 91-राजकोषीय हुंडियों की समाप्ति से पारम्परिक बजट घाटे की अपनी प्रासंगिकता समाप्त हो जाती है।

$ केन्द्रीय सरकार के उधार को भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा समर्थन दिए जाने का प्रत्याशित स्तर।

स्रोत: बजट का सार: 1997-98; वित्त मंत्रालय, भारत सरकार

6.5.2 घाटे के माप

घाटा उस स्थिति में होता है जब बजट व्यय बजट प्राप्तियों से अधिक हों। घाटे की बहुत सी अवधारणाएँ हैं जो इस बात पर निर्भर है कि कौन-कौन से व्यय और कौन-कौन सी प्राप्तियां ली जाती हैं। भारत के केन्द्रीय सरकार के बजट में चार प्रकार के घाटे दिखाये गये है।

1). **राजस्व घाटा (Revenue Deficit :** राजस्व व्यय की राजस्व प्राप्तियों पर अधिकता राजस्व घाटा कहलाती है। घाटे का यह माप बजट के केवल एक भाग पर आधारित है। राजस्व प्राप्ति सामान्य प्रकार की प्राप्तियाँ हैं और इनसे सरकार के देयताओं (liabilities) में कोई वृद्धि नहीं होती। राजस्व व्यय भी सामान्य किस्म का व्यय है और इससे परिसम्पत्तियों में कोई वृद्धि नहीं होती। अत: राजस्व घाटे से यह पता चलता है कि सामान्य प्रकार कि प्राप्तियाँ सामान्य प्रकार का व्यय पूरा करने में कितनी अपर्याप्त हैं।

2) **बजटीय घाटा (Budgetary Deficit) :** कुल व्यय की कुल प्राप्तियों पर अधिकता बजटीय घाटा कहलाता है। इनमें राजस्व और पूंजी दोनों प्रकार की मदें शामिल हैं। भारत में 1997-98 के बजट में प्राप्तियाँ कुछ इस प्रकार से दर्ज की गयी है कि कुल प्राप्तियाँ कुल व्यय के बराबर ही हों। अत: इस बजट में यह घाटा शून्य है। (तालिका 6.3 का फुट नोट देखिए)

3) **सकल राजकोषीय घाटा (Gross Fiscal Deficit) :** कुल व्यय की 'उधार व अन्य देयताएँ' निकाल कर कुल प्राप्तियों पर अधिकता सकल राजकोषीय घाटा कहलाता है। 1997-98 के बजट में यह उधार व अन्य देयताओं (91 दिवसीय राजकोषीय हुंड़ियों सहित) के बराबर है। यह माप केन्द्रीय सरकार की ऋण आवश्यकताओं का माप है। 1997-98 के बजट में यह घाटा 64,454 करोड़ रु. था।

   राजकोषीय घाटा घाटे के सभी मापों में से एक व्यापक माप है। व्यय पूरा करने की समस्या की मात्रा का यह एक वास्तविक माप है। इससे यह पता चलता है कि बजट के वर्ष के दौरान देयताएं कितनी बढ़ेगी और इससे ये भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आगे आने वाले वर्षों ब्याज का भुगतान करने के कारण देयताएँ और कितनी बढ़ेंगी।

4) **प्रारम्भिक घाटा (Primary Deficit) :** सकल राजकोषीय घाटे में से ब्याज अदायगियाँ घटा देने के पश्चात् प्रारम्भिक घाटा ज्ञात होता है। सकल राजकोषीय घाटा ऋण आवश्यकता का एक माप है। अत: ऋण आवश्यकता में से ब्याज अदायगियां घटा देने पर प्रारम्भिक घाटा ज्ञात होता है। यह ब्याज भुगतान को छोड़ अन्य ऋण आवश्यकताओं का माप है। बयाज भुगतान पिछले वर्ग की देयताओं का परिणाम है। अत: प्रारम्भिक घाटा यह दिखाता है कि इस वर्ष के व्यय को पूरा करने हेतू कितनी नयी देयताएँ होंगी।

6.5.3 सकल राजकोषीय घाटे के वित्तीयन के साधन

भारत में राजकोषीय घाटे से अभिप्राय 'उधार और अन्य देयताओं' से है। यह घाटे की सबसे व्यावहारिक धारणा है जिससे केन्द्रीय सरकार के सामने घाटा पूरा करने की समस्या की तीव्रता का पता चलता है। घाटा पूरा करने (वित्तियन) के प्रमुख स्त्रोत, महत्व के अनुसार, यह हैं:

1) **अन्य (यानि बाजार ऋण से अन्य, दीर्घवधिक एवं मध्यावधिक उधार :** ये ऋण राजकोषीय हुंडियों को बेच कर प्राप्त होते है।

2) **लघु बचतें, लोक भविष्य निधि, सेवा निवृत्त होने वाले कर्मचारियों के लिए जमा योजना:** इसमें उन जमा राशियों का संग्रहण आता है जो डाकघर बचत योजनाओं, लोक भविष्य निधि, और सेवा निवृत होने वाले कर्मचारियों के माध्यम से किया जाता है।

3) **विशेष जमा योजनाएँ:** ये गैर-सरकारी भविष्य निधियों, अधिवर्षिता और उपदान निधियों और

जीवन बीमा निगम, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, आदि की अधिशेष निधियों में से निवेश के रूप में होती है।

4) **बाजार ऋण** : ये ऋण सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचकर प्राप्त किये जाते हैं।

5) **अल्पावधिक उधार** : ये वित्तीय संस्थाओं और अन्य पक्षों को 364-दिवसीय राजकोषीय हुंडियां देकर प्राप्त किए जाते हैं।

6) **राज्य भविष्य निधियाँ** : ये सरकार कर्मचारियों की विभिन्न भविष्य निधियों से सम्बद्ध हैं।

7) **स्वर्ण बांड** : इन बांडों के माध्यम से आम जनता के पास पड़े सोने का संग्रहण किया जाता है। यह सरकारी रिजर्व में वृद्धि लाता है।

8) **विदेशी सहायता** : इसमें विदेशों से लिए गये ऋण आते हैं।

इन सभी स्त्रोतों का पारस्परिक महत्व तालिका 6.4 में दिखाया गया है।

तालिका 6.4 : राजकोषीय घाटे की वित्तियन के स्त्रोत (1997-98 बजट के अनुमान)

वित्तीयन के स्त्रोत	राशि (करोड़ रु.)	कुल का प्रतिशत
1) अन्य अल्पावधिक, मध्यावधिक एवं दीर्घावधिक उधार	29,750	45.5
2) लघु बचतें, लोक भविष्य निधि, सेवानिवृत होने वाले कर्मचारियों के लिए जमा योजना	14,000	21.4
3) विशेष जमा योजनाएँ	10,006	15.3
4) बाजार ऋण	4,070	6.2
5) राज्य भविष्य निधियाँ	2,550	3.9
6) विदेशी सहायता	2,435	3.7
7) अन्य प्राप्तियां	2,643	4.0
कुल योग	**65,454**	**100.0**

ऊपर दिए गए स्त्रोतों में से 1-5 व 7 नम्बर की मदें आंतरिक ऋण है। 6 नम्बर की मद विदेशों से उधार है। अत: 96% से भी अधिक घाटा आंतरिक साधनों से पूरा होता है और बाकी लगभग 4% विदेशों से। केन्द्रीय सरकार का 1950-51 से कुल संचित सार्वजनिक ऋण तथा अन्य देयताएँ तालिका 6.5 में दिखाया गया है।

तालिका 6.5 : भारत सरकार का संचित सार्वजनिक ऋण व अन्य देयताएँ

	1950-51		1997-98	
स्त्रोत	राशि (करोड़ रु.)	कुल का प्रतिशत	राशि (करोड़ रु.)	कुल का प्रतिशत
आंतरिक	2830	99	677,290	92
विदेशी	30	1	56,000	8

इस ऋण से इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता है कि सरकार को कितनी बड़ी राशि केवल ब्याज भुगतान पर खर्च करनी पड़ती है। 1997-98 के बजट अनुमानों में 68,000 करोड़ रु केवल ब्याज का भुगतान है। यह वर्ष में कुल व्यय का लगभग 30 प्रतिशत है।

6.6 राजकोषीय नीति के उद्देश्य

राजकोषीय नीति से अभिप्राय सरकार की कर लगाने और व्यय करने की शक्ति से है। यह शक्ति सरकार अपने घोषित नीतिगत उद्देश्यों को पूरा करने के लिए करती है। यह शक्ति सरकार समझबूझ कर प्रयोग करती है। सरकार की राजकोषीय नीति के पीछे तीन आधारभूत उद्देश्य होते हैं। ये हैं आर्थिक संवृद्धि, रोजगार और कीमत में स्थिरता लाना। कुछ अन्य उद्देश्य भी है। आइए इन उद्देश्यों के बारे में जानें।

1) **आर्थिक संवृद्धि लाना** : आर्थिक संवृद्धि का अर्थ है वास्तविक उत्पादन के स्तर में वृद्धि लाना। सरकार आर्थिक संवृद्धि कई प्रकार से ला सकती है। यह उत्पादन बढ़ाने के लिए परिस्थितियाँ पैदा करती है। इस उद्देश्य से सरकार अपने व्यय इस प्रकार करती है- प्रभावशाली प्रशासन के लिए उचित बुनियादी सुविधाएँ के लिए आदि। ये उत्पादन कार्यों को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक सहायता और करों में रियायतें देती है। सरकार सार्वजनिक उद्यमों के माध्यम से उत्पादन में सीधा भाग भी लेती है।

2) **रोजगार के अवसर पैदा करना** : सार्वजनिक उद्यम खोल कर व सार्वजनिक लोक निर्माण उपक्रमों, जैसे सड़कें, पुल, सरकारी भवनों का निर्माण करना, आदि के माध्यम से रोजगार के अवसर पैदा करती है। भारत सरकार ने बहुत सी रोजगार पैदा करने वाली योजनाएँ चालू की है। अप्रत्यक्ष रूप से भी सरकार रोजगार के अवसर पैदा करती है। ऐसा वे श्रम प्रधान उद्योगों को आर्थिक सहायता व करों में रियायतें देकर उत्साहित करके करती है। भारत सरकार लघु व कुटीर उद्योगों जैसी रियायतें देती है।

3) **कीमतों में स्थिरता सुनिश्चित करना** : कीमतों में उतार-चढ़ाव को रोकने में राजकोषीय नीति महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। कीमतों में अनावश्यक वृद्धि आम आदमी के लिए कठिनाइयां पैदा करती है। कीमतों में अनावश्यक गिरावट देश में उत्पादन और रोजगार में कमी लाती है। सरकार उपभोग और उत्पादन के लिए आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में स्थिरता लाने का प्रयत्न करती है। ऐसा वह सुरक्षित भण्डार रख के, कर रियायतों और आर्थिक सहायता के रूप में राजकोषीय प्रोत्साहन देकर करती है।

4) **आय की असमानताओं को कम करना** : सरकार द्वारा सोच समझकर किए गये राजकोषीय उपाय ही आर्थिक असमानताएँ कम करने में सहायक हो सकते हैं। करों के मामले में सरकार प्रगामी (progressive) कर प्रणाली अपनाती है। इससे ऊंची आयों पर और धनी व्यक्तियों द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं पर ऊँचे कर लगाती है। व्ययों के मामले में सरकार करों द्वारा इकठ्ठे किए गए पैसे को गरीबों के लिए कल्याणकारी योजनाओं पर लगाती है।

5) **विदेशी व्यापार और विदेशी मुद्रा का नियंत्रण करना** : सीमा शुल्क की दरों में परिवर्तन कर सरकार आयात और निर्यात पर प्रभाव डालती है। पिछले कुछ वर्षों से भारत सरकार उत्पादन बढ़ाने हेतु आयातों में उदारीकरण की नीति अपना रही है। ऐसा वह आयात शुल्क में कमी लाकर कर रही है। साथ-साथ सरकार विदेशी निवेश को आकर्षित कर रही है, घरेलू बाजार को और प्रतियोगी बना रही है तथा निर्यातों को प्रोत्साहन दे रही हैं। विदेशी व्यापार के उदारीकरण से विदेशी विनिमय का प्रवाह भी बढ़ता है। इससे देश के भुगतान संतुलन की समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिलती है।

बोध प्रश्न ख

1) सरकार के आयोजना और आयोजना-भिन्न व्ययों में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

2) केन्द्रीय सरकार के बजट में प्रयोग की गयी सकल राजकोषीय घाटे की अवधारणा की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) राजकोषीय नीति की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

6.7 मौद्रिक नीति का अर्थ

मौद्रिक नीति मुद्रा-प्राधिकारियों द्वारा सोच समझकर उपयोग में लायी गयी मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि लाने या कमी लाने की शक्ति है। यह शक्ति सरकार की आर्थिक नीति उद्देश्यों की विस्तृत रूपरेखा को ध्यान में रख निवेश, आय व रोजगार को प्रभावित करने और कीमतों में स्थिरता लाने के लिए प्रयोग की जाती है। एक देश का केन्द्रीय बैंक उस देश का मुद्रा प्राधिकारी होता है। भारत में भारतीय रिजर्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक है। हर देश का अपना एक केन्द्रीय बैंक होता है जिनके अपने-अपने अलग नाम होते हैं।

मौद्रिक नीति के उद्देश्य लगभग वही है जो राजकोषीय नीति के। लेकिन उपाय और इन उपायों को अमल में लाने वाली संस्थाएँ भिन्न हैं। राजकोषीय नीति सरकार परिचालित करती है जबकि मौद्रिक नीति केन्द्रीय बैंक परिचालित करता है। राजकोषीय नीति में करों और सरकारी व्ययों में परिवर्तन किए जाते है। मौद्रिक नीति में मुद्रा आपूर्ति, ब्याज दरों, वाणिज्य बैंकों द्वारा ऋणों में परिवर्तन किए जाते हैं।

मौद्रिक नीति का अर्थ समझने से पहले यह आवश्यक है कि हम मौद्रिक आपूर्ति और केन्द्रीय बैंक का अर्थ समझें।

6.7.1 केन्द्रीय बैंक क्या है?

देश के बैंकिंग ढांचे में दो प्रकार के बैंक होते हैं: केन्द्रीय बैंक और वाणिज्य बैंक। वाणिज्य बैंक लोगों से जमाएँ स्वीकार करते हैं और ऋण देते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपने जमाकर्ताओं को अन्य सुविधाएँ भी देते हैं, जैसे रुपया निकलवाना, पैसे का एक बैंक से दूसरे बैंक में हस्तांतरण आदि।

केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों पर एक पर्यवेक्षी (supervisory) संस्था है। यह इन बैंकों के, विशेषता बैंकिंग कार्यों के, बारे में नियम बनाती है। यदि आपको कुछ बैंकों से काम पड़ा है तो आपने देखा होगा कि सभी बैंकों में पैसा जमा कराने और ऋण लेने के लगभग एक जैसे नियम होते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि ये सभी नियम भारतीय रिजर्व बैंक बनाता है। लेकिन केंन्द्रीय बैंक आम जनता से कोई सीधा लेन-देन नहीं करता। यह सरकार व वाणिज्य बैंकों से लेन-देन करता है। एक केन्द्रीय बैंक के निम्नलिखित मुख्य कार्य है।

- करंसी जारी करने का एकमात्र अधिकार
- सरकारी लेखा-जोखा की देखभाल और आर्थिक मामलों पर सरकार को सलाह
- वाणिज्य बैंकों की जमाओं और ऋण देने के कार्यों का नियमन।

- आवश्यकता पड़ने पर वाणिज्य बैंकों को उधार (अंतिम उधारदाता का कार्य)
- अंतर-बैंक हस्तांतरण की व्यवस्था (समाशोधन गृह कार्य)
- विदेशी विनिमय के प्रवाह का नियमन
- आर्थिक मामलों पर शोध

6.7.2 भारत में मुद्रा आपूर्ति की अवधारणा

लोग अपने पास पैसा नकद रूप में रखते है या फिर बैंकों में मांग जमाओं के रूप में रखते है। हम कोई भी भुगतान नकद करते हैं या फिर चैक काट कर करते है। **जो कुल पैसा लोग अपने पास रखते हैं और जो लेनदेन के, वस्तुएं खरीदने के या फिर कोई और भुगतान करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है देश की मुद्रा आपूर्ति कहलाता है।** मुद्रा आपूर्ति की सामान्य परिभाषा के अनुसार इसके निम्नलिखित घटक होते है:

मुद्रा आपूर्ति = जनता के पास नोट व सिक्के + वाणिज्य बैंकों के पास मांग जमाएँ

मुद्रा आपूर्ति का यह माप एक सामान्य माप है और इसे M_1 नाम दिया जाता है। भारत में भारतीय रिजर्व बैंक ने मुद्रा आपूर्ति के चार माप - M_1, M_2, M_3, व M_4- अपनाये हैं। ये इस प्रकार है:

M_1 = जनता के पास करंसी + वाणिज्य बैंकों के पास जनता की मांग जमाएँ

M_2 = M_1 + डाकघर की बजत जमाएँ

M_3 = M_1 + वाणिज्य बैंकों के जनता की मीयादी जमाएँ

M_4 = M_3 + डाक घरों में सभी जमाएँ

इन चार मापों में से भारतीय रिजर्व बैंक सामान्यत: M_1 व M_3 का प्रयोग करता है। दोनों में प्रमुख अंतर इस प्रकार है। M_1 में केवल मांग जमाएँ शामिल होती हैं, यानि वे जमाएँ जो चैकों द्वारा निकलवादी जा सकती है, जबकि M_3 में सभी जमाएँ, यानि मीयादी जमाएँ भी शामिल होती है।

6.8 भारत में मौद्रिक नीति के उपकरण

मुद्रा आपूर्ति, ब्याज दर आदि को प्रभावित करने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक तत्वत: पांच उपकरणों पर निर्भर करता है। ये है:

- आरक्षित निधि अनुपात
- बैंक दर
- खुले बाजार के कार्यकलाप
- मार्जिन सम्बंधी अपेक्षाएँ
- नैतिक अभिप्रेरण

ऊपर दी गयी सूची एक सम्पूर्ण सूची नहीं है। केन्द्रीय बैंक और भी अन्य उपाय अपना सकता है जैसा भारतीय रिजर्व बैंक भारत में करता है। प्रथम तीन उपकरण तो सामान्य प्रकार के उपकरण है जो देश की मुद्रा आपूर्ति और साख की आम उपलब्धि पर प्रभाव डालते है। उन्हें **मात्रात्मक उपकरण** (Quantitative instruments) की संज्ञा दी जाती हैं अंतिम दो **उपकरण चयनात्मक** (selective) या गुणात्मक (Qualitative) उपकरण कहलाते हैं। इनका उद्देश्य अर्थव्यवस्था के विशेष या चुने हुए क्षेत्रों में ऋण उपलब्धता पर प्रभाव डालना है। मात्रात्मक उपकरण मात्रात्मक इसलिए कहलाते हैं क्योंकि ये देश की मुद्रा आपूर्ति और साख के परिमाण पर प्रभाव डालते हैं। चयनात्मक उपकरण चयनात्मक इसलिए कहलाते हैं क्योंकि इनके पीछे उद्देश्य देश के चुने हुए क्षेत्रों में ऋण के प्रवाह को प्रभावित करना होता है। आइए अब उपकरणों के प्रत्येक वर्ग के बारे में अलग से पढ़े।

6.8.1 मात्रात्मक उपकरण (Quantitative Instruments)

1) **आरक्षित निधि आवश्यकता में परिवर्तन** : केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों के लिए कानूनी तौर पर यह अनिवार्य कर देता है कि अपने पास जमाओं का एक न्यूनतम प्रतिशत आरक्षित निधि के रूप में रखें। ये आरक्षित निधियाँ दो प्रकार की होती हैं: क) नकदी आरक्षित निधि, तथा ख) चल आरक्षित निधि। नकदी आरक्षित निधि तो वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक के पास रखते हैं। चल आरक्षित निधि चल परिसम्पत्तियों के रूप में होती है जैसे नकदी, सोना, प्रतिभूतियाँ, आदि। ये वाणिज्य बैंक अपने पास ही रखते हैं। जमाओं से जो इनका न्यूनतम अनुपात भारतीय नकदी निधि अनुपात (Cash Reserve Ratio) व सांविधिक चल निधि अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) कहा जाता है।

   यह आरक्षित निधि अनुपात जैसे कार्य करती है? मान लीजिए एक वाणिज्य बैंक के पास कुल 100 करोड़ रु० की जमाएँ हैं। आगे मान लीजिए कि आरक्षित नकदी निधि व सांविधिक चल निधि दोनों अनुपातों का योग 20 प्रतिशत है। इसका अर्थ यह हुआ कि वाणिज्य बैंक को कानूनी तौर पर अपनी जमाओं में 20 करोड़ रुपया अपने पास आरक्षित निधि के तौर पर रखना होगा। इसका अर्थ यह भी हुआ कि बैंक की ऋण देने की क्षमता 80 करोड़ रु० तक सीमित है। अब यदि यह न्यूनतम आरक्षित निधि आवश्यकता 30 प्रतिशत हो तो बैंक की ऋण देने की क्षमता घट कर 70 करोड़ रु० हो जाएगी। अत: यदि केन्द्रीय बैंक ऋण की उपलब्धि कम करना चाहता है तो न्यूनतम आरक्षित निधि का प्रतिशत बढ़ा सकता है।

2) **बैंक दर (Bank rate)** : केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को ब्याज पर वैसे ही उधार देता है जैसा कि वाणिज्य बैंक जनता को उधार देते हैं। **वाणिज्य बैंको को दिए गए ऋण पर जो ब्याज दर केन्द्रीय बैंक वसूल करता है उसे बैंक दर या बट्टा दर (discount rate) कहते हैं।**

   बैंक दर में परिवर्तन से देश में साख की स्थिति प्रभावित होती है। बैंक दर में वृद्धि वाणिज्य बैंकों के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना महंगा हो जाता है। इससे उस ब्याज की दर पर ऊपर की ओर दबाव पड़ता है जिस पर वाणिज्य बैंक जनता को उधार देते हैं। इस दर को 'उधार की ब्याज दर' (lending rate) कहते हैं। इससे सारी अर्थव्यवस्था में ऋण उपलब्धता कम हो जाती है। बैंक दर कम करने पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अर्थव्यवस्था ऋण की स्थिति आसान हो जाती है। स्फिति की स्थिति में ऋण कठिन करने और अपस्फिति की स्थिति में ऋण आसान करने की आवश्यकता होती है।

3) **खुले बाजार के कार्यकलाप (Open market-operation)** : इससे अभिप्राय है केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय और विक्रय। जब ये प्रतिभूतियां भारतीय रिजर्व बैंक वाणिज्य बैंकों को या जनता को बेचता है तो पैसा वाणिज्य बैंकों से निकल कर भारतीय रिजर्व बैंक की ओर प्रवाहित होता है। इससे वाणिज्य बैंकों के पास जमाएँ कम हो जाती है जिससे उनकी ऋण देने की क्षमता कम हो जाती है। प्रतिभूतियां खरीदने का विपरीत प्रभाव पड़ता है। पैसा भारतीय रिजर्व बैंक से बाहर निकल कर वाणिज्य बैंकों की ओर प्रवाहित होता है। इससे इनकी जमाओं में वृद्धि होती है और परिणामस्वरूप ऋण देने की क्षमता में वृद्धि होती है।

6.8.2 गुणात्मक (या चयनात्मक) उपकरण

गुणात्मक उपकरण साख की दिशा को प्रभावित करते है न कि साख के कुल परिमाण को। इस संदर्भ में मार्जिन सम्बंधी आवश्यकता तथा नैतिक अभिप्रेरण दो प्रमुख उपकरण हैं। भारतीय रिजर्व बैंक इन दो के अलावा और भी उपकरण प्रयोग में लाता है।

1) **मार्जिन सम्बंधी आवश्यकताएँ (Margin requirements) :** वाणिज्य बैंक जमानत रख कर उधार देते हैं। यह जमानत सम्पत्ति, माल या फिर वित्तीय परिसम्पत्तियों जैसे शेयर, बांड आदि के रूप में हो सकती है। जब बैंक इनको जमानत के रूप में रख कर उधार देता है तो एक मार्जिन रख कर उधार देता है। जमानत का वर्तमान बाजार मूल्य 10 लाख रु. है। बैंक यदि 20% मार्जिन रखता तो अधिकतम 8 लाख रु. का उधार दे सकता है। केन्द्रीय बैंक इस मार्जिन सम्बंधी आवश्यकता को ऋण नियंत्रण के एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करता है। उसके पास न्यूनतम मार्जिन निश्चित करने की शक्ति होती है। यह न्यूनतम मार्जिन जितना अधिक होगा, उतना ही कम ऋण किसी जमानत के पीछे दिया जा सकेगा। यह मार्जिन ऊँचा हो या नीचा चुनाव के आधार पर निश्चित किया जा सकता है।

2) **नैतिक अभिप्रेरण (Moral Suasion) :** इसमें केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों साख नीति के अनुसार ऋण कम देने या अधिक देने की मौखिक या लिखित अपील करता है। कोई लिखित नियम लागू नहीं किए जाते हैं। बैंकों को ऋण कम देने या अधिक देने की केवल सलाह दी जाती है। यह केवल एक मनोवैज्ञानिक उपाय है जो व्यक्तिगत बातचीत और आम राय पर निर्भर है।

3) **साख की उच्चतम सीमाएँ (Ceilings on credit) :** साख के फैलाव को कुछ विशेष दिशाओं में आवश्यकता से अधिक फैलने से रोकने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए ऋण की उच्चतम सीमाएँ निर्धारित कर देता है। इस उपकरण का उपयोग इस उद्देश्य से भी किया जा सकता है कि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में ऋण उपलब्धता एक समान हो।

4) **ब्याज की विभेदक दरें (Discriminatory rates of interest) :** भारतीय रिजर्व बैंक के पास ये अधिकार है कि वे वाणिज्य बैंकों को ये आदेश दें कि वे विभिन्न क्षेत्रों का अलग-अलग ब्याज दरों पर उधार दें। प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्राय: रियायती ब्याज दर पर उधार दिया जाता हैं प्राथमिकता वाले क्षेत्रों की पहचान सरकार की विस्तृत आर्थिक नीति के अनुसार की जा सकती है। वर्तमान में कृषि, लघु उद्योग, छोटे व्यापारी, स्वनियोजित पेशेवर, शिक्षित बेरोजगार प्राथमिकता वाले क्षेत्रों के कुछ उदाहरण हैं।

6.9 मौद्रिक नीति के उद्देश्य

भारत में आयोजन प्रारम्भ होने के बाद से भारतीय रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास में तेजी लाना और स्फीति की प्रवृत्तियों पर पर नियंत्रण रखना रहा है। आर्थिक विकास कोई एक उद्देश्य नहीं है बल्कि बहुत से उद्देश्यों का एक मिश्रण है जैसे कि आर्थिक संवृद्धि, रोजगार, आर्थिक असमानता, आदि। विदेशी व्यापार का परिमाण बढ़ने के साथ-साथ विदेशी विनिमय के प्रवाह पर भी नियंत्रण रखता है। ये उद्देश्य नीचे समझाये गए है।

1) **आर्थिक संवृद्धि :** आर्थिक संवृद्धि से अभिप्राय वास्तविक आय और उत्पादन में वृद्धि से है। ऐसा करने के लिए निवेश की आवश्यकता होती है। बैंकिंग प्रणाली निवेश हेतु ऋण के लिए बहुत बड़ा स्त्रोत है। वांछित दिशाओं में ऋण उपलब्ध करा कर भारतीय रिजर्व बैंक देश की आर्थिक संवृद्धि में योगदान देता है।

2) **कीमतों में उतार-चढ़ाव को नियत्रण में रखना :** अर्थव्यवस्था के स्वास्थ्य के लिए स्फीति और अपस्फीति दोनों ही अच्छे नहीं है। अपस्फीति बेरोजमारी लाती है और वास्तविक उत्पादन कम करती है। मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि स्फीति का एक बहुत बड़ा कारण है। लोगों के हाथ में अधिक पैसे का अर्थ अधिक मांग होता है। यदि मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि के साथ-साथ वास्तविक उत्पादन न बढ़े तो कीमतें अवश्य ही बढ़ेंगी। भारतीय रिजर्व बैंक अपने मौद्रिक नीति उपायों के माध्यम से मुद्रा आपूर्ति पर नियंत्रण रख बहुत उपयोगी भूमिका अदा करता है।

3) **रोजगार** : अधिक निवेश से रोजगार के अधिक अवसर पैदा होते हैं। आज के युग में निवेश के लिए वित्त के स्त्रोत के रूप में बैंक बहुत महत्वपूर्ण है। वाणिज्य बैंकों की ऋण देने की क्षमता भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा अपनाए जाने वाले मात्रात्मक व गुणात्मक साख नियंत्रण उपायों पर निर्भर करती है। भारतीय रिजर्व बैंक यह क्षमता आरक्षित निधि आवश्यकताओं को कम कर, बैंक दर को घटा कर, बाजार से सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीद कर, आदि उपायों से बढ़ा सकती है। इस प्रकार देश में रोजगार के अवसर बढ़ाने में बहुत उपयोगी भूमिका अदा कर सकता है।

4) **आर्थिक समानता** : आयों के वितरण में असामानता एक आर्थिक और सामाजिक दोष है। सभी सरकारें इस बात का निश्चय दोहराती है कि आय का वितरण समान हो। भारतीय रिजर्व बैंक इस निश्चय को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। यह चयनात्मक साख नियंत्रण उपायों के माध्यम से इस बात का प्रयत्न करता है कि प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को उचित मात्रा में ऋण प्राप्त हों। इन क्षेत्रों को रियायती दरों पर और आसान शर्तों पर ऋण मिलता है। बड़े उद्योगों को आवश्यकता से अधिक ऋण न मिलें इसके लिए वह बैंक ऋण की उच्चतम सीमा निर्धारित कर सकता है।

5) **विदेशी विनिमय** : विदेशी विनिमय की दरों में उतार-चढ़ाव से विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे घरेलू करंसी में निर्यातों की कीमत घट सकती है और आयातों की बढ़ सकती है। इससे निर्यातकों और आयातकों को हानि हो सकती है। भारतीय रिजर्व बैंक इन उतार-चढ़ावों को नियंत्रण में रखने में उपयोगी भूमिका अदा करता है। ये विदेशी मुद्रा के आने-जाने पर कुछ शर्तें लगा कर तथा कुछ और अन्य उपाय कर विनिमय दरों में स्थिरता सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है। भारत में विदेशी विनिमय का एकमात्र अधिकार भारतीय रिजर्व बैंक को है।

6.10 भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका

भारतीय रिजर्व बैंक तीन प्रकार की भूमिकाएँ अदा करता है: 1) केन्द्रीय बैंक की पारम्परिक भूमिका जिसकी इससे आशा की जाती है; 2) पर्यवेक्षी भूमिका यानि भारत में वाणिज्य बैंकों के कार्य पर नियंत्रण; तथा 3) विकास भूमिका यानि देश के विकास कार्यों में सहायता करना। इन तीनों भूमिकाओं का वर्णन नीचे किया गया है:

1) **पारम्परिक भूमिका** : पारम्परिक तौर पर, विश्व के किसी भी अन्य केन्द्रीय बैंक की तरह, भारतीय रिजर्व बैंक निम्नलिखित कार्य करता है:

- भारत में करंसी नोट और सिक्के जारी करने का एकमात्र अधिकार।
- सरकार के लेखा (accounts) संभालता है।
- सरकार को आर्थिक मामलों पर सलाह देता है।
- वाणिज्य बैंकों के बैंकिंग कार्यों पर नियंत्रण रखता है। इन बैंकों को अपने पास जमाओं का एक न्यूनतम अनुपात भारतीय रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है। बदले में भारतीय रिजर्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर इन बैंकों को ऋण देता है।
- मुद्रा आपूर्ति पर नियंत्रण रखने हेतू वाणिज्य बैंकों द्वारा उधार देने पर नियंत्रण रखता है।
- विदेशी विनिमय को बनाये रखने और विनिमय दरों में स्थिरता लाने हेतु विदेशी विनिमय लेनदेन पर नियंत्रण रखता है।

2) **पर्यवेक्षी (Supervisory) भूमिका** : भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना 1934 में अपने पारम्परिक कार्यों को करने के लिए की गयी थी। लेकिन 1949 में पास हुए बैंककारी विनियमन अधिनियम (Banking Regulation Act) ने भारतीय रिजर्व बैंक को वाणिज्य बैंकों पर पर्यवेक्षण और नियंत्रण

का अधिकार भी दे दिया। इन अधिकारों में नये बैंकों को लायसेंस देना, नयी शाखाएँ खोलने के लिए इजाजत देना, प्रबंधन और कार्यों के बारे में नियम बनाना आदि शामिल है। यह भूमिका यह सुनिश्चित करने के लिए है कि भारत में वाणिज्य बैंक ठीक प्रकार से कार्य करें।

3) विकास भूमिका **(Promotional role)**

क) **ग्रामीण ऋण में** : भारतीय रिजर्व बैंक ग्रामीण ऋण में प्रत्यक्ष रूचि लेता है। 1982 से पहले यह सरकारी संस्थाओं और राज्य सरकारों के माध्यम से कृषि क्षेत्र को ऋण उपलब्ध करवाता था। बाद में यह कार्य 1982 में स्थापित राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) को सौंप दिया गया। ऐसा करने के बाद भारतीय रिजर्व बैंक की विकास भूमिका समाप्त नहीं हो गयी थी। ग्रामीण साख की समस्याओं से निपटने के लिए एक नया विभाग खोला। इसका नाम ग्रामीण आयोजन और ऋण विभाग है।

ख) **औद्योगिक वित्त** : भारतीय रिजर्व बैंक ने उद्योगों को पैसा दिलाने हेतु सस्थाओं की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इनमें से कुछ सस्थाएँ ये है: भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI), राज्य वित्तीय निगमें, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय औद्योगिक ऋण और निवेश निगम (ICICI)।

ग) **प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को वित्त** : भारतीय रिजर्व बैंक प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को ऋण देने पर विशेष ध्यान देने के लिए निर्देश देता है। कृषि, लघु उद्योग, छोटे व्यापारी, स्वनियोजित पेशेवर, शिक्षित बेरोजगार कुछ प्राथमिकता वाले क्षेत्र हैं। इसने इन क्षेत्रों के लिए कुछ योजनाएँ बनायी है जो कि वाणिज्य बैंकों के माध्यम से लागू की जाती है।

बोध प्रश्न ग

सही विकल्प चुनिए:

1) मौद्रिक नीति प्रचालित करता है:
   - क) वित्त मंत्री
   - ख) वाणिज्य बैंक
   - ग) केन्द्रीय बैंक
   - घ) भारत सरकार

2) निम्नलिखित में से एक मौद्रिक नीति का उपकरण नहीं है:
   - क) नैतिक अभिप्रेरण
   - ख) मार्जिन सम्बंधी आवश्यकताएँ
   - ग) खुले बाजार के कार्यकलाप
   - घ) घाटे की वित्त व्यवस्था

3) बैंक दर वह ब्याज की दर है जो कि भारतीय रिजर्व बैंक इसको ऋण देने पर वसूल करता है:
   - क) भारत सरकार
   - ख) वाणिज्य बैंक
   - ग) कृषि क्षेत्र
   - घ) औद्योगिक क्षेत्र

4) बैंक दर का वैकल्पिक नाम यह है:
   क) उधार की ब्याज दर
   ख) खुले बाजार की दर
   ग) कटौती दर
   घ) विभेदक दर

5) निम्नलिखित में से एक भारतीय रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति का गुणात्मक उपकरण है:
   क) ब्याज की विभेदक दरें
   ख) बैंक दर
   ग) आरक्षित निधि
   घ) खुले बाजार के कार्यकलाप

6) मौद्रिक नीति का उद्देश्य इसको नियंत्रण करना है:
   क) मुद्रा आपूर्ति
   ख) ऋण की उपलब्धता
   ग) विदेशी विनिमय का प्रवाह
   घ) उपरोक्त सभी

7) सरकार को आर्थिक मामलों में सलाह देना भारतीय रिजर्व बैंक की निम्नलिखित भूमिका है:
   क) पारम्परिक
   ख) विकास
   ग) पर्यवेक्षक
   घ) उपरोक्त में से कोई भी नहीं

6.11 सारांश

समष्टि आर्थिक नीति से अभिप्राय राष्ट्रीय स्तर पर सोच समझकर लिए गये ऐसे उपायों से है जो कि अर्थव्यवस्था और उसके क्षेत्रों की कार्यकारी प्रणाली, संवृद्धि और विकास पर प्रभाव डालते हैं। समष्टि नीतियों में राजकोषीय और मौद्रिक नीतियाँ महत्वपूर्ण नीतियाँ है।

राजकोषीय नीति से अभिप्राय कुछ निश्चित उद्देश्य प्राप्त करने के लिए अपने व्यय और करों के बारे में सोच समझ कर लिए गए निर्णयों से है। सरकार करों, ब्याज, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों से प्राप्त लाभांशों, विदेशी सहायता और ऋणों से पैसा उगाहती है। सरकार रुपया सरकार के सामान्य काम काज (राजस्व व्यय) और परिसम्पत्तियाँ प्राप्त करने पर (पूंजी व्यय) व्यय करती है। 1997-98 के बजट अनुमानों में लगभग तीन चौथाई राजस्व व्यय था और एक चौथाई पूंजी व्यय।

राजकोषीय नीति के मुख्य उद्देश्य है: 1) आर्थिक संवृद्धि लाना, 2) रोजगार के अवसर पैदा करना, 3) कीमतों में स्थिरता सुनिश्चित करना, 4) आय में असमानताएँ कम करना, तथा 5) विदेशी व्यापार और विदेशी विनिमय पर नियंत्रण रखना।

मौद्रिक नीति मुद्रा प्राधिकारियों द्वारा सोच समझ कर उपयोग में लायी गयी मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि लाने या कमी लाने के अधिकारों से है। मौद्रिक केन्द्रीय बैंक (भारतीय रिजर्व बैंक) परिचालित करता है। केन्द्रीय बैंक देश का शीर्ष बैंक होता है और वाणिज्य बैंकों पर निगरानी रखता है। ये कई कार्य करता है, जैसे करंसी जारी करना, सरकारी लेखा रखना, ऋण के प्रवाह को नियंत्रित करना, विदेशी विनिमय के प्रवाह को नियंत्रित करना आदि।

मौद्रिक नीति उपकरण दो प्रकार के होते है: मात्रात्मक और गुणात्मक। आरक्षित निधि अनुपात, बैंक दर तथा खुले बाजार के कार्यकलाप मात्रात्मक उपकरण हैं। मार्जिन संबंधी आवश्यकताएँ, नैतिक अभिप्रेरण, ऋण की उच्चतम सीमाएँ, विभेदक ब्याज दरें ये सभी गुणात्मक उपकरण हैं। मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्य लगभग वही है जो राजकोषीय नीति के हैं। ये हैं 1) आर्थिक संवृद्धि, (1) कीमतों के उतार-चढ़ाव पर नियंत्रण, 3) रोजगार, 4) आर्थिक समानता तथा
5) विदेशी विनिमय।

भारतीय रिजर्व बैंक तीन प्रकार की भूमिकाएँ निभाता है: पारम्परिक, पर्यवेक्षक तथा विकास की। अपनी पारम्परिक भूमिका में एक केन्द्रीय बैंक के आम कार्य जैसे करंसी जारी करना, सरकारी लेखा रखना, वाणिज्य बैंकों के कार्यों पर नियंत्रण रखना आदि आता है। अपनी विकास भूमिका में यह राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) के माध्यम से ग्रामीण ऋण में प्रत्यक्ष रूचि रखता है। औद्योगिक वित्त में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय औद्योगिक ऋण और निवेश निगम (ICICI), भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI) के माध्यम से रूचि रखता है। प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में यह वाणिज्य बैंकों के माध्यम से रूचि रखता है।

6.12 शब्दावली

समष्टि नीति : सरकार की राष्ट्रीय स्तर की नीति

राजकोषीय नीति : अपने व्यय और कर लगाने के बारे में सरकार द्वारा समझ बूझ कर लिए गए निर्णय

योजना व्यय : केन्द्रीय योजना में परियोजनाओं और कार्यक्रमों पर सरकार द्वारा किया गया व्यय।

योजना-भिन्न व्यय : सरकार के सामान्य कार्यों पर होने वाला व्यय जिससे कोई परिसम्पत्तियाँ नहीं बनती

पूंजी व्यय : सरकार द्वारा परिसम्पत्तियाँ बनाने पर व्यय

सकल राजकोषीय घाटा : सरकार के कुल व्यय की उधार व अन्य देयताओं को छोड़कर कुल प्राप्तियों पर अधिकता

राजस्व बजट : राजस्व व्यय की राजस्व प्राप्तियों पर अधिकता

बजटीय घाटा : सरकार के कुल व्यय की कुल प्राप्तियों पर अधिकता

विदेशी सहायता : विदेशों से ऋण

मौद्रिक नीति : मुद्रा आपूर्ति पर प्रभाव डालने हेतु मुद्रा-प्राधिकारियों द्वारा सोच समझ कर लिए गए निर्णय

नकदी आरक्षित निधि अनुपात : जमाओं का वह प्रतिशत जो वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक के पास रखता है

चल आरक्षित निधि अनुपात : जमाओं को वह प्रतिशत जो वाणिज्य बैंक अपने पास रखते हैं

बैंक दर : वह ब्याज दर जो वाणिज्य बैंकों को उधार देने पर केन्द्रीय बैंक वसूल करता है

6.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

ग: 1. (ग), 2. (घ), 3. (ख), 4. (ग), 5. (क), 6. (घ), 7. (क)

6.14 स्व-परख प्रश्न

1) निम्नलिखित का अर्थ बताइए:

   क) समष्टि आर्थिक नीति, ख) मौद्रिक नीति।

2) सरकार द्वारा अपने कार्यों के लिए पैसा उगाहने के विभिन्न स्त्रोत समझाइए

3) भेद कीजिए:

   क) योजना और योजना भिन्न व्यय

   ख) राजस्व और पूंजी व्यय

4) सरकारी बजट में घाटे के विभिन्न माप बताइए। इन्हें कैसे ज्ञात करते हैं?

5) सकल राजकोषीय घाटा क्या होता है? इसे कैसे पूरा किया जाता है?

6) राजकोषीय नीति के उद्देश्य समझाइए।

7) केन्द्रीय बैंक क्या होता है? इसके कार्य बताइए।

8) मुद्रा-आपूर्ति से क्या अभिप्राय है? मुद्रा आपूर्ति के विभिन्न माप बताइए।

9) मौद्रिक नीति के मात्रात्मक उपकरण समझाइए।

10) मौद्रिक नीति के मात्रात्मक और गुणात्मक उपकरणों के बीच अंतर बताइए। गुणात्मक उपकरण समझाइए।

11) मौद्रिक नीति के उद्देश्य समझाइए।

12) भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका समझाइए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 7 उपभोक्ता संरक्षण

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 उपभोक्ता आंदोलन का विकास तथा उपभोक्ता संरक्षण कानून
7.3 उपभोक्ता के अधिकार और दायित्व
  7.3.1 उपभोक्ता के अधिकार
  7.3.2 कुछ अन्य अधिकार
  7.3.3 उपभोक्ताओं के कर्तव्य और दायित्व
7.4. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986
  7.4.1 प्रस्तावना
  7.4.2 उपभोक्ता सरंक्षण अधिनियम, 1986 की कुछ प्रमुख विशेषताएं
  7.4.3 इस अधिनियम में दिए गए कुछ शब्दों की परिभाषाएं
  7.4.4 अनुचित एवं अवरोधक व्यापारिक व्यवहारों की स्थिति में उपभोक्ताओं को कोई राहत नहीं
  7.4.5 वे व्यक्ति जो इस अधिनियम के अंतर्गत शिकायत फाइल कर सकते हैं
7.5 एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) अधिनियम, 1969
  7.5.1 एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहार
  7.5.2 अवरोधक व्यापारिक व्यवहार
  7.5.3 अनुचित व्यापारिक व्यवहार
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 स्व-परख प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- उपभोक्ता संरक्षण कानूनों सहित उपभोक्ता आंदोलन के विकास के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकें
- यह बता सकें कि उपभोक्ताओं के अधिकार और दायित्व क्या होते हैं
- उपभोक्ता सरंक्षण अधिनियम, 1986 की मुख्य विशेषताएं बता सकें, और
- एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) अधिनियम, 1969 के अंतर्गत एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहारों, अवरोधक व्यापारिक व्यवहारों और अनुचित व्यापारिक व्यवहारों की संकल्पनाओं की व्याख्या कर सकें।

7.1 प्रस्तावना

व्यवसाय के सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण पर उपभोक्ता-आंदोलन का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। उत्पाद बाजारों (product markets) और उपादान बाजारों (factor markets) में अपूर्णताओं के कारण प्राय: उपभोक्ताओं का किसी न किसी प्रकार से शोषण होता रहता है। भारत जैसे देश में जनता का बहुत बड़ा भाग अशिक्षित है, उन्हें जानकारी कम है एवं उनकी क्रय शक्ति सीमित है। बाजार में अनेक प्रकार की महत्वपूर्ण वस्तुओं की पूर्ति सदा ही कम बनी रहती है। अत: सरकार की जिम्मेदारी हो जाती है कि वह उचित प्रतियोगिता के वातावरण को बढ़ाकर एवं व्यवसाय के निर्णयों को प्रभावित करके उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करें। इस देश के उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार ने पहले से ही कुछ कानूनी कदम उठाए हैं। उपभोक्ताओं के संरक्षण के संबंध में दिन प्रतिदिन जागरुकता बढ़ती जा रही है और इस संबंध में अनेकों कानून बनाए गए हैं। इस इकाई में आप उपभोक्ता आंदोलन के विकास एवं

उपभोक्ता संरक्षण कानूनों के संबंध में पढ़ेंगे। उपभोक्ताओं के अधिकारों एवं दायित्वों से भी आपको अवगत कराया जाएगा।

7.2 उपभोक्ता आंदोलन का विकास तथा उपभोक्ता संरक्षण कानून (Evolution of Consumer Movement including Consumer Protection Laws)

अनुचित व्यापारिक व्यवहारों के द्वारा उपभोक्ताओं का शोषण कोई नई बात नहीं है। औद्योगिक क्रांति के आने, जनसंख्या का गांवों से नगरों की ओर प्रवाह एवं नगर वासियों के अज्ञात हो जाने से व्यवसायियों के लिए उपभोक्ताओं का शोषण करना सरल हो गया है।

भारत में उपभोक्ताओं के शोषण ने गंभीर रूप धारण कर लिया है। जनसंख्या में लगातार वृद्धि होने एवं वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए मांग के बढ़ते जाने के फलस्वरूप विक्रेता बाजार (seller's market) की स्थिति आ गई है। उपभोक्ताओं की सौदा-शक्ति कम होती है अत: वे अपने अधिकारों को अच्छी तरह नहीं समझ पाते। इसके फलस्वरूप व्यवसायी वर्ग कुछ ऐसे व्यवहारों को अपनाता है जिन्हें उपभोक्ताओं के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। अनेकों विनिर्माता एवं व्यापारी विदेशी सहयोग के संबंध में झूठे दावे पेश करते हैं। उपभोक्ता वर्ग अपनी शिकायतों के संबंध में न्यायालयों का दरवाजा खटखटाने से इसलिए कतराता है कि वहां पर मुकदमों का फैसला होने में काफी समय लग जाता है।

व्यवसायी वर्ग के बेईमानी पूर्ण एवं अनैतिक व्यवहारों से उपभोक्ताओं के संरक्षण के लिए भारत सरकार ने समय-समय पर अनेक कानून बनाए हैं। इनमें से कुछ कानून निम्नलिखित हैं:

1) माल विक्रय अधिनियम, 1930
2) औषधि और प्रसाधन सामग्री अधिनियम, 1940
3) खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954
4) आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955
5) भारतीय मानक संस्था प्रमाणन अधिनियम, 1952
6) कृषि उपज श्रेणीकरण और चिन्हांकन अधिनियम, (AGMARK),1937
7) बाट और माप मानक अधिनियम, 1956
8) चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980

उपर्युक्त कानून इसलिए बनाए गए हैं कि कीमत, गुणवत्ता, सेवा, सूचना, सुरक्षा आदि के संबंध में उपभोक्ताओं को संरक्षण प्रदान किया जा सके। परन्तु इनके कार्यान्वयन के संबंध में अभी भी बहुत कुछ करना शेष है।

इन सभी कानूनों का उद्देश्य मुख्यत: दंडात्मक है, हालांकि इनमें से कुछ स्वरूप निरोधक भी है। जो लोग इन अधिनियमों के प्रावधानों का उल्लंघन करते हैं उन पर मुकदमा चलाने और उन्हें दंडित करने की व्यवस्था इनमें की गई है। दंड का प्रावधान इसलिए किया गया है कि व्यवसायी वर्ग उपभोक्ताओं के साथ भ्रष्टाचार करने से डरें। फिर भी इनमें से किसी भी कानून में उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष रूप से राहत देने की व्यवस्था नहीं है। वह दोषी व्यापारी, विनिर्माता और सेवा प्रदान करने वाले के खिलाफ क्षतिपूर्ति का दावा नहीं कर सकता। और न ही किसी वस्तु या सेवा में कोई दोष होने पर उसे हर्जाना मिल सकता है।

MRTP अधिनियम, 1969 में 1984 में हुए संशोधन के बाद इस अधिनियम को विशिष्ट उपभोक्ता संरक्षण विधान का दर्जा प्राप्त हो गया। 1984 तक अनुचित व्यापारिक व्यवहार (UTP) की संकल्पना नहीं थी। MRTP अधिनियम में इन परिवर्तनों के बावजूद इन अधिनियम की कमियों के कारण और अधिक व्यापक उपभोक्ता संरक्षण विधान की आवश्यकता महसूस की गई। इसके फलस्वरूप उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 बनाया गया। उपभोक्ताओं को संरक्षण प्रदान करने के संबंध में भारत में यह एक महत्वपूर्ण कानून है।

सरकार द्वारा बनाए जाने वाले कानूनों के साथ-साथ ऐसे उपाय करने भी आवश्यक हैं कि सामूहिक कार्यवाहियां करने के लिए ऐसे उपभोक्ताओं को शिक्षित किया जा सके। इस संबंध में भारत में उपभोक्ता आंदोलन में बहुत प्रगति नहीं हो पाई है। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में इस संबंध में बहुत बड़ा आंदोलन चल रहा है। वहां पर उपभोक्ता वर्ग अपनी शक्ति के संबंध में अवगत हो चुका है और इसके फलस्वरूप वह अत्यंत सक्रिय हो गया है। समाचार पत्रों के संपादकों, विधायकों एवं कंपनियों के अध्यक्षों को सामूहिक रूप से पत्र लिखते हैं। वे उपभोक्ता-उन्मुख राजनैतिक प्रत्याशियों को समर्थन देते हैं तथा प्रदर्शनों और धरना के द्वारा समाचार माध्यमों का ध्यान आकर्षित करते हैं

उपभोक्ता आंदोलन प्रसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो चुका है। नार्वे, स्वीडन, नीदरलैंड, ऑस्ट्रेलिया तथा इंग्लैंड जैसे देशों में तो यह बहुत ही शक्तिशाली हो गया है। पिछले दो दशकों में अनेक अंतर्राष्ट्रीय संगठन उपभोक्ता संरक्षण के क्षेत्र में सक्रिय रहे हैं। 1985 में संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने उपभोक्ता संरक्षण के संबंध में मार्गनिर्देशों के एक सेट को पारित किया। इन मार्गनिर्देशों में निम्नलिखित हैं:-

क) उपभोक्ताओं की शारीरिक सुरक्षा

ख) उपभोक्ताओं के आर्थिक हित की रक्षा

ग) चयन सबधा आवश्यक सूचना तक उपभोक्ताओं की पहुँच

घ) उपभोक्ताओं की शिकायतों को दूर करने संबंधी सांविधिक उपाय

च) आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का वितरण

छ) संतोषजनक उत्पाद और कार्य संपादन मानक

ज) उचित व्यावसायिक व्यवहार

झ) उपभोक्ता संरक्षण के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग

भारत सहित अन्य विकासोन्मुख देश अपने उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने के संबंध में पीछे नहीं है। विभिन्न प्रकार के कानूनों के अंतर्गत इस संबंध में अनेक एजेंसियों का निर्माण हुआ है तथा इनके साथ ही साथ इस संबंध में लगभग पांच सौ स्वैच्छिक उपभोक्ता संस्थाएं भी कार्य कर रही हैं। ये संस्थाएं उपभोक्ताओं में जागरुकता लाने का कार्य करती हैं तथा उनके मामलों को केवल विभिन्न प्रकार की सरकारी संस्थाओं के सम्मुख ही नहीं बल्कि व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के सम्मुख भी पेश करती हैं। इसके बावजूद विकसित देशों की तुलना में भारत में उपभोक्ता आंदोलन अभी भी विकास की आरंभिक अवस्था में ही है। फिर भी इसमें बड़ी तेजी से प्रगति हो रही है और आशा की जाती है निकट भविष्य में ही यह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। इस संबंध में उपभोक्ता की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। उपभोक्ता आंदोलन को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि उपभोक्ता वर्तमान उपभोक्ता संरक्षण कानूनों से अच्छी तरह से अवगत हों। सच्चाई तो यह है कि उपभोक्ता संरक्षण संबंधी कानूनों के उद्देश्यों को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब उपभोक्ता अपने अधिकारों के संबंध में पूर्णत: अवगत हों और उन्हें यह भी ज्ञात हो कि इस अधिनियम के अंतर्गत सस्ते और शीघ्र उपचार उपलब्ध हैं। उन्हें जानना चाहिए कि 'आत्मनिर्भरता ही सबसे अच्छी सहायता' होती है (self help is the best help)। उपभोक्ताओं के दायित्वों और अधिकारों के संबंध में हम अनुच्छेद 7.3 में पढ़ेंगे।

7.3 उपभोक्ता के अधिकार और दायित्व (Consumer Rights & Responsibilities)

उन विभिन्न अधिकारों के संबंध में जानना आवश्यक है जो उपभोक्ताओं को इसलिए दिए गए हैं कि वे उनकी सहायता से अपनी रक्षा कर सकें। ये अधिकार केवल सामाजिक संहिता ही नहीं होते बल्कि इनमें से अधिकतर की कानूनी मंजूरी भी होती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि उपभोक्ता संरक्षण कानून और अदालतों के निर्णय का लक्ष्य उपभोक्ताओं के अधिकारों की रक्षा करना होता है।

7.3.1 उपभोक्ता के अधिकार

काफी लम्बी अवधि से समस्त विश्व में उपभोक्ताओं के कुछ मूल अधिकारों को माना गया है। भारत में

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 ने उपभोक्ताओं के कुछ अधिकारों को कानूनी स्वीकृति दी है। इस अधिनियम की धारा 6 ने उपभोक्ताओं के निम्नलिखित छः अधिकारों को मान्यता दी है।

क) सुरक्षा का अधिकार

ख) सूचना पाने का अधिकार

ग) चयन का अधिकार

घ) सुने जाने का अधिकार

च) क्षतिपूर्ति का अधिकार

छ) उपभोक्ता-शिक्षा का अधिकार

इन अधिकारों के संबंध में नीचे विस्तार से चर्चा की जा रही है।

क) **सुरक्षा का अधिकार** : सुरक्षा के अधिकार से आशय उन वस्तुओं और सेवाओं के विपणन से है जो सुरक्षा, जीवन और संपत्ति के लिए खतरनाक होती है। ऐसी वस्तुओं के उपभोग और उपयोग के संबंध में अनेकों जोखिमें होती हैं। जैसे दवाओं, प्रेशर कूकरों आदि से संबंधित वस्तुएं व सेवाएं। इन वस्तुओं के उपयोग में जरा सी असावधानी से जीवन का भी खतरा हो सकता है।

ख) **सूचना पाने का अधिकार** : वस्तुओं और सेवाओं की गुणवत्ता, मात्रा, सक्षमता, शुद्धता, मानक और कीमत के संबंध में सूचना मिलना जिससे अनुचित व्यापारिक व्यवहारों से उपभोक्ताओं की रक्षा हो सके। उपभोक्ता को अधिकार होता है कि उत्पाद, उसके संघटकों, उसके निर्माण की तिथि, तकनीकी विशिष्टि, आदि के संबंध में उसे जानकारी मिले। इसके अतिरिक्त उसको यह भी बताना आवश्यक है कि किसी उत्पाद के उपयोग के संबंध में उसे क्या सावधानियां रखनी है तथा उसकी देखभाल किस प्रकार से करनी होती है। उसे यह भी बताना होता है कि उत्पाद की शक्ति, टिकाऊपन, उपयोगिता एवं पुनः उपयोग क्या है; उसके प्रभाव क्या होते हैं (विशेषतः दवाओं के संदर्भ में) तथा उपकरणों एवं बच्चों के खिलौनों के उपयोग के संदर्भ में क्या खतरे होते हैं।

ग) **चयन का अधिकार** : जहाँ तक संभव हो उपभोक्ताओं के सामने प्रतिस्पर्धी कीमतों पर विभिन्न प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं होनी चाहिए। उपभोक्ता को अधिकार होने चाहिए कि वह वैकल्पिक उत्पादों का मूल्यांकन करे और अपनी पसंद की वस्तु को खरीदे। क्रय के संबंध में उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए।

घ) **सुने जाने का अधिकार** : उपभोक्ता को विश्वास होना चाहिए कि उपयुक्त फोरम में उसके हितों के संबंध में समुचित रूप से विचार किया जाएगा। इसमें उपभोक्ता का यह अधिकार भी शामिल होता है कि वस्तु या सेवा में किसी प्रकार की कमी या त्रुटि के संबंध में अपना विरोध प्रकट कर सके। अपने इस अधिकार का प्रयोग वह स्वयं ही या उपभोक्ता संघों के माध्यम से कर सकता है।

च) **क्षतिपूर्ति का अधिकार** : उपभोक्ता को अधिकार होता है कि उसके सही दावे का उचित रूप से निपटान किया जाए। इसके अंतर्गत मिथ्या बयानी या घटिया वस्तुओं या दोषपूर्ण सेवा के लिए क्षतिपूर्ति प्राप्त करने का अधिकार भी शामिल होता है।

छ) **उपभोक्ता-शिक्षा का अधिकार** : इसके अंतर्गत उपभोक्ता द्वारा ज्ञान और कौशल प्राप्त करने का अधिकार शामिल होता है जिससे वह अपने समस्त जीवन प्रबुद्ध उपभोक्ता बना रहे। यह शिक्षा उन कारकों को प्रभावित करने की कार्यवाही करने के लिए आवश्यक होती है जो उपभोक्ता के निर्णयों को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी शिक्षा की सहायता से उपभोक्ता कपटपूर्ण, छलपूर्ण और भ्रमकारी सूचनाओं, विज्ञापनों तथा ऐसे अन्य व्यवहारों से अपनी रक्षा कर सकते हैं। ऐसी सूचना से उपभोक्ता जान सकेगा कि विभिन्न प्रकार के उपभोक्ता संरक्षण कानूनों के अंतर्गत उसके कानून, अधिकार और उपचार क्या हैं।

7.3.2 कुछ अन्य अधिकार

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 की धारा 6 में दिए गए अधिकारों के अतिरिक्त उसके कुछ अन्य अधिकार भी हैं। वे निम्नलिखित हैं:

1) **स्वस्थ पर्यावरण का अधिकार** : इस अधिकार से नागरिकों के जीवन में सुधार होगा। इससे पर्यावरण के प्रदूषण से रक्षा हो सकेगी जिसके संबंध में कोई उपभोक्ता व्यक्तिगत स्तर पर कुछ नहीं कर सकता।

2) **मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार** : प्रत्येक उपभोक्ता को पर्याप्त मात्रा में खाद्य पदार्थों, वस्त्र, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई जैसी आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करने का अधिकार है।

7.3.3 उपभोक्ताओं के कर्तव्य और दायित्व

सामाजिक जीवन की सच्चाई यह है कि अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं। उपभोक्ता के रूप में आपके कुछ अधिकार तो हैं परन्तु साथ ही साथ आपके कुछ कर्तव्य भी होते हैं। उपभोक्ता के रूप में दो प्रकार के कर्तव्य होते हैं:

i) अधिकारों के प्रवर्तन संबंधी कर्तव्य, तथा
ii) अन्य उपभोक्ताओं के संबंध में कर्तव्य। पहले प्रकार के कर्तव्यों के संबंध में ध्यान में रखने की बात यह है कि इन्हें व्यक्ति के अधिकारों से अलग नहीं किया जा सकता। ऊपर दिए गए उपभोक्ता के अधिकारों संबंधी कर्तव्यों और दायित्व का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

- वस्तु को खरीदते समय उपभोक्ता का कर्तव्य होता है कि उन वस्तुओं की गुणवत्ता के संबंध में वह सावधान रहे। उसे देख लेना चाहिए कि वह वस्तु खतरनाक नहीं है और विक्रेता से आश्वासन प्राप्त कर लेना चाहिए कि खरीदी जाने वाली वस्तु दोष से मुक्त है। इस संबंध में उसे विक्रेता से गारंटी प्राप्त कर लेनी चाहिए।

- वस्तु या सेवा का चयन करने से पूर्व उपभोक्ता को चाहिए कि वह इनके संबंध में सभी सूचनाएं प्राप्त कर ले। ऐसा करने से उसे यह निर्णय लेने में सहायता मिलेगी कि वह किसी विशेष विक्रेता से क्रय करे या न करे। इसके अतिरिक्त यह सूचना उसे विक्रय तकनीकों के दबाव से अपने को बचाने में भी सहायता करेगी।

- उपभोक्ता को चाहिए कि खरीदारी करने के पूर्व वह विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निरीक्षण कर ले। इसके साथ ही साथ उसे विभिन्न विनिर्माताओं की वस्तुओं की माप, किस्म, कीमत, टिकाऊपन आदि दृष्टि से भी तुलना कर लेनी चाहिए। ऐसा वह प्रतिस्पर्धी बाज़ार में ही कर सकता है जहाँ विभिन्न प्रकार की वस्तुएं प्रतिस्पर्धी कीमतों पर उपलब्ध है।

- उपभोक्ताओं को चाहिए कि उपभोक्ता संघों की स्थापना करें। सभी उपभोक्ताओं को उपभोक्ता संघों के संबंध में किसी न किसी प्रकार से अवगत अवश्य होना चाहिए।

- प्रत्येक उपभोक्ता का कर्तव्य होता है कि यदि वह किसी वस्तु या सेवा में कोई कमी या त्रुटि पाता है तो इसकी शिकायत वह संबंधित अधिकारी से अवश्य ही करे। कभी-कभी लगता है कि कोई शिकायत बहुत ही कम मूल्य के संबंध में होती है, परन्तु बाद में पता चलता है कि समस्त समाज पर उसका प्रभाव बहुत ही अधिक होता है।

- अंततः प्रत्येक उपभोक्ता का कर्तव्य होता है कि विभिन्न कानूनों में दिए गए उपभोक्ता के अनेक प्रकार के अधिकारों और कर्तव्यों के संबंध में जानकारी प्राप्त करे इस प्रकार वह उन उपभोक्ताओं की भी सहायता कर सकेगा जिन्हें कुछ मामलों में जानकारी नहीं है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त, उपभोक्ताओं के कुछ कर्तव्य अन्य उपभोक्ताओं के प्रति भी होते है। इन्हें सामाजिक और पारिस्थितिक दायित्व कहा जाता है। उपभोक्ताओं को चाहिए कि समाज और पर्यावरण का ध्यान रखते हुए वे अपने क्रय और उपभोग के संबंध में उत्तरदायित्वपूर्ण चयन करें। गैर-जिम्मेदार उपभोग के कारण जो समस्याएं होती हैं वो हैं : प्राकृतिक संसाधनों और ऊर्जा की बरबादी और पर्यावरण का प्रदूषण। यदि आप घटिया किस्म का कोई ऐसा वाहन खरीदते हैं जिससे बहुत अधिक धुआँ निकलता है तो आप दूसरों को उनके स्वच्छ पर्यावरण से वंचित करते हैं। किसी वस्तु की कम पूर्ति के समय उसे अपने पास जमा करके रखने से दूसरे लोग उसे उचित कीमत पर प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं। अत: उपभोक्ताओं को याद रखनी चाहिए कि उपभोक्ता के रूप में वे जो चयन करते हैं उसका प्रभाव अन्य उपभोक्ताओं और पर्यावरण पर भी पड़ता है।

बोध प्रश्न क

1) कम से कम तीन अधिनियमों के नाम बताइए जिन्हें सरकार ने व्यवसायियों के बेईमानीपूर्ण और अनैतिक व्यवहारों से उपभोक्ताओं की रक्षा के लिए बनाया।

i) .....

ii) .....

iii) .....

2) उपर्युक्त अधिनियम के उद्देश्य और आशय क्या हैं। वे चूक करने वालों को दंडित करने के लिए हैं या पीड़ित पक्ष को क्षतिपूर्ति कराने के लिए?

.....

.....

.....

.....

3) उपर्युक्त अधिनियमों की कम से कम तीन सीमाएं बताइए जिनके कारण वे उपभोक्ताओं की बहुत अधिक सहायता नहीं कर सके

.....

.....

.....

.....

4) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए कानूनों को बनाने के अलावा क्या कोई अन्य भी विधि है। यदि ऐसी कोई विधि है तो उनका नाम बताइए।

.....

.....

.....

.....

7.4 उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 (Consumer Protection Act, 1986)

7.4.1 प्रस्तावना

अनुच्छेद 7.1 में अनेक कानूनों के संबंध में जिक्र किया गया है जिनका संबंध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने से होता है। इन सभी कानूनों का प्रयोजन केवल किन्ही विशेष

स्थितियों में ही राहत पहुंचाने से होता है। उदाहरणार्थ इनमें से कोई भी उपभोक्ताओं के अधिकारों की रक्षा नहीं करता या उनकी शिकायतों पर कार्यवाही के लिए किसी न्यायिक तंत्र की व्यवस्था नहीं करता। क्रेता सावधान रहे (caveat emptor) के सिद्धांत का बोलबाला बना रहा। असहाय उपभोक्ताओं को वास्तव में कोई राहत नहीं मिल पाती थी। केवल अर्थशास्त्र की पुस्तकों में ही उपभोक्ता को बादशाह का दर्जा प्राप्त था। लेकिन वास्तव में तो वस्तुओं और सेवाओं का विक्रेता/विनिर्माता/पूर्तिकर्ता ही अग्रणी बना रहा। परन्तु उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के बनने के बाद स्थिति में काफी परिवर्तन आया है। अब व्यवसायी वर्ग के खिलाफ शिकायतों के संबंध में उपभोक्ताओं को बहुत कुछ राहत मिलने लगी हैं

7.4.2 उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 की कुछ प्रमुख विशेषताएं

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 की कुछ प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

i) इसका उद्देश्य उपभोक्ताओं का भली-भांति और पूरी तरह से संरक्षण करना है।

ii) जम्मू और कश्मीर राज्य को छोड़ कर समस्त भारत पर यह लागू होता है।

iii) केन्द्रीय सरकार द्वारा स्पष्ट रूप से अधिसूचित वस्तुओं और सेवाओं को छोड़कर शेष सभी वस्तुओं और सेवाओं पर यह लागू होता है।

iv) समाज के कल्याण संबंधी यह अत्यंत अनूठा और प्रगतिशील कानून है तथा भारत के उपभोक्ताओं के लिए इसे **मेग्ना कार्टा** कहा जाता है। इस अधिनियम के चलते उपभोक्ता आंदोलन में नई जान आई है, तथा यह आन्दोलन अधिक शक्तिशाली, व्यापक, प्रभावी और जन-उन्मुख हुआ है। सच्चाई तो यह है कि इस अधिनियम के चलते भारतीय उपभोक्ताओं में पुनः आशा का उभार हुआ है। यह एक मात्र कानून है जिसका सीधे बाज़ार से संबंध है तथा बाज़ार में उत्पन्न शिकायतों के उपचार की जो व्यवस्था करता है।

v) दोषपूर्ण मालों, अधूरी सेवाओं एवं अनुचित व्यापारिक व्यवहारों जैसे विभिन्न प्रकार के शोषणों के खिलाफ यह प्रभावी संरक्षण प्रदान करता है।

vi) उपभोक्ताओं के अधिकारों को दिलाने के लिए इस अधिनियम ने विशेष उपभोक्ता न्यायालयों की व्यवस्था की है। इस अधिनियम में तीन स्तरीय उपभोक्ता शिकायत निवारण तंत्र (consumer grievance redressal machinery) का प्रावधान है, जिसके अंतर्गत आधार स्तर पर जिला फोरम, मध्य स्तर पर राज्य आयोग तथा शिखर स्तर पर राष्ट्रीय आयोग होते हैं। राज्य और राष्ट्रीय स्तर के आयोग अपील प्राधिकारी का भी कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय आयोग के किसी निर्णय के खिलाफ उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

उपर्युक्त निवारण फोरमों में शिकायतें करने की कसौटी वस्तुओं या सेवाओं की लागतें तथा मांगे गए हर्जाने की रकम होती हैं। जिला फोरम के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत 5 लाख रु० से कम की शिकायतें आती हैं, राज्य आयोग के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत 5 लाख रु० से 20 लाख रु० तक की शिकायतों की सुनवाई आती है तथा राष्ट्रीय आयोग का वित्तीय अधिकार क्षेत्र 20 लाख रु० से अधिक के दावे होते हैं। उपभोक्ताओं की शिकायतों पर शीघ्रताशीर्ष फोरम (redressal forum) अर्धन्यायिक तंत्र स्थापित किया है।

निवारक फोरम कार्यपद्धतियों या जटिल एवं विस्तृत प्रक्रियाओं के नियमों से बंधे हुए नहीं होते। उनका कार्य तो केवल नैसर्गिक न्याय के मूलभूत नियमों का पालन करना होता है। रकम कितनी भी बड़ी क्यों न हो, परन्तु शिकायत करने, उनके संबंध में अपील करने या पुनरीक्षण के लिए आवेदन करने के संबंध में कोर्ट फीस या अन्य कोई प्रभार नहीं देना होता।

vii) दोषपूर्ण माल या अधूरी सेवाओं संबंधी उपभोक्ता की शिकायतों को दूर करने के लिए इस अधिनियम के अधीन सरल, शीघ्र और कम खर्चीले निवारण की व्यवस्था की गई है।

viii) उपभोक्ता द्वारा अपनी शिकायतें अत्यंत सरल शब्दों में करनी होती है। जिस पक्ष की वह शिकायत करता है उसके नाम और पते देने होते हैं। संबंध निवारण फोरम को वह अपनी शिकायत पत्र के

रूप में भेज सकता है तथा इस संबंध निवारण फोरम को वह अपनी शिकायत पत्र के रूप में भेज सकता है तथा इस संबंध में उसे कोई औपचारिकता नहीं करनी पड़ती। निवारण फोरम के सम्मुख वह स्वयं ही उपस्थित हो सकता है या अपने विधिवत् अधिकृत अपने एजेंट को भेज सकता है। किसी वकील को रखना उसके लिए आवश्यक नहीं होता। अत: यह कानून अत्यंत सरल एवं उपभोक्ताओं के लिए सहायक है।

ix) अधिनियम में 'सेवा' शब्द की परिभाषा अत्यंत व्यापक रूप में दी गई है। किसी भी व्यक्ति या संगठन द्वारा की गई किसी भी प्रकार की सेवा इसके अंतर्गत आ जाती है तथा इसके अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों और सरकारी एजेन्सियों द्वारा की गई सेवाऐं भी शामिल होती हैं परन्तु नि:शुल्क सेवा या व्यक्तिगत सेवा की संविदा के अंतर्गत की गई सेवा इसमें शामिल नहीं होती। अत: निम्नलिखित दो प्रकार की सेवाएं इसके क्षेत्र में नहीं आती: क) सरकारी अस्पतालों में की गई चिकित्सा तथा ख) नगर पालिका प्राधिकारियों द्वारा दी गई जन सुविधाएं।

निजी क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र एवं सहकारी क्षेत्र में वस्तुओं और सेवाओं के सभी पूर्तिकर्ता इस अधिनियम के अतंर्गत आते हैं।

x) इस अधिनियम की विशेषता यह है कि एक निश्चित समय-अवधि के अंतर्गत मुकदमें का फैसला करना होता है।

xi) इस अधिनियम में प्रावधान है कि समान हित वाले उपभोक्ताओं का समूह संयुक्त शिकायतें फाइल कर सकता है।

xii) इस अधिनियम के अंतर्गत अनुचित व्यापारिक व्यवहारों से संबंधित शिकायतें की जा सकती हैं। इस प्रकार कोई उपभोक्ता खाद्य पदार्थों की मिलावट, कम तौल और अधिक कीमत लेने संबंधी शिकायतें सीधे जिला फोरम को कर सकता है। उदाहरणार्थ कोई उपभोक्ता किसी दुकान से खाद्य पदार्थ का नमूना लेकर और किसी केमिस्ट से उसकी जांच कराकर उस आधार पर अपनी शिकायत फाइल कर सकता है कानून या नियम द्वारा निर्धारित कीमत या किसी वस्तु के पैकेज पर दी गई कीमत से अधिक कीमत यदि कोई विक्रेता लेता है तो इस अधिनियम के अंतर्गत शिकायत की जा सकती है।

xiii) उपभोक्ताओं के प्रतिरोध को संगठित रूप देने एवं उन्हें शिक्षित करने की दृष्टि से इस अधिनियम में प्रत्येक राज्य में उपभोक्ता संरक्षण परिषदों की स्थापना की व्यवस्था भी की गई है। इस अधिनियम के अंतर्गत इन परिषदों को कोई कानूनी अधिकार नहीं दिया गया है। इनका काम तो उपभोक्ता संरक्षण कार्यों को बढ़ावा देना तथा अधिनियम की धारा 6 में दिए गए उपभोक्ताओं के छ: अधिकारों के संबंध में कार्यवाही करना है।

7.4.3 इस अधिनियम में दिए गए कुछ शब्दों की परिभाषाएं

इस अधिनियम में अनेक शब्दों और पदों का प्रयोग किया गया है। अधिनियम के प्रावधानों को समझने के लिए इन शब्दों और पदों के अर्थ जानना आवश्यक है।

उपभोक्ता (Consumer): अधिनियम में केवल उपभोक्ताओं को ही राहत देने की व्यवस्था है। धारा 2(1)(d) में उपभोक्ता शब्द की परिभाषा है। उपभोक्ता का अर्थ निम्नलिखित में से कोई व्यक्ति होता है:

i) **वह व्यक्ति जो किसी प्रतिफल के बदले कोई माल खरीदता है:** इसके अंतर्गत ऐसे माल का कोई अन्य उपभोक्ता भी आता है जब ऐसा उपयोग क्रेता की अनुमति से होता है। लेकिन इसके अंतर्गत वह व्यक्ति नहीं आता जो ऐसे माल को पुनर्विक्रय के लिए या किसी व्यापारिक प्रयोजन के प्राप्त करता है। लेकिन 'व्यापारिक प्रयोजन' के अंतर्गत उस उपभोक्ता द्वारा किया गया उपयोग नहीं आता जो माल का क्रय स्वनियोजन द्वारा केवल अपनी जीविका कमाने के लिए करता है।

ii) **वह व्यक्ति जो प्रतिफल के बदले किसी सेवा को किराए पर लेता है या उसका उपयोग करता है:** ऐसी सेवाओं को प्रतिफल के बदले किराए पर लेने या उनका उपयोग करने वाले व्यक्तियों के अलावे इसके अंतर्गत हिताधिकारी भी आ जाते हैं जब ऐसी सेवाओं का उपयोग प्रथम प्रकार के

व्यक्तियों की अनुमति से किया जाता है। वस्तुओं को खरीदने या सेवाओं को किराए पर लेने या उनका उपयोग करने के प्रतिफल का भुगतान किया जा सकता है, या ऐसा करने का वचन दिया जा सकता है, या अंशत: भुगतान हो सकता है और अंशत: वचन दिया जा सकता है या आस्थगित भुगतान की प्रणाली हो सकती है।

उपभोक्ता विवाद (Consumer Dispute) : धारा 2(1)(c) के अनुसार 'उपभोक्ता विवाद' का अर्थ है वह विवाद जिसमें जिस व्यक्ति के खिलाफ शिकायत की गई है वह लगाए गए दोषों को मानने से अस्वीकार करता है या उनका खंडन करता है।

दोष (Defect) : धारा 2(1)(c) के अनुसार दोष का अर्थ है उसकी गुणवत्ता, मात्रा, सक्षमता, शुद्धता या मानक में कोई कमी, अपूर्णता या त्रुटी जिसे वर्तमान में किसी कानून के अंतर्गत या किसी व्यक्त या अव्यक्त संविदा के अंतर्गत या व्यापारी द्वारा वस्तु के संबंध में किए गए दावे के अनुसार बनाए रखना आवश्यक है।

कमी (Deficiency) : वस्तुओं के 'दोष' के ही अनुरूप 'कमी' शब्द का प्रयोग सेवाओं के संदर्भ में किया जाता है। धारा 2(1)(g) के अनुसार 'कमी' का अर्थ है वर्तमान कानून के अनुसार या अन्यथा जिस स्तर की सेवा करनी है उसमें कोई दोष या अपूर्णता का होना या उसकी गुणवत्ता, स्वरूप या प्रकार में कोई कमी आना।

जिला फोरम (District Forum) : जिला फोरम का अर्थ है उपभोक्ता विवाद निवारण फोरम जिसकी स्थापना राज्य सरकार धारा 9(a) के अधीन राज्य के सभी जिलों में करती है। राज्य सरकार यदि आवश्यक समझे तो वह एक जिले में एक से अधिक फोरम की स्थापना कर सकती है।

माल (Goods) : इस अधिनियम के अंतर्गत माल शब्द का वही अर्थ है जो वस्तु विक्रय अधिनियम 1930 के अंतर्गत है। इसके अनुसार 'माल' के अंतर्गत अनुयोज्य दावों (actionable claims) और मुद्रा के अतिरिक्त सभी प्रकार की चल संपत्ति आ जाती है तथा इसके अंतर्गत स्टॉक एवं शेयर तथा भूमि पर होने वाली फसल, घास आदि आ जाते हैं।

विनिर्माता (Manufacturer) : अधिनियम की धारा 2(1)(i) के अनुसार विनिर्माता की परिभाषा के अंतर्गत निम्नलिखित में से कोई भी व्यक्ति आ जाते है:

i) वह व्यक्ति जो किसी वस्तु या उसके भाग का निर्माण या विनिर्माण करता है

ii) वह व्यक्ति जो किसी वस्तु का निर्माण या विनिर्माण नहीं करता लेकिन किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निर्मित या विनिर्मित उस वस्तु के पुर्जों का संयोजन करता है तथा दावा करता है कि अंतिम उत्पाद उसका बनाया हुआ है। लेकिन यदि कोई विनिर्माता अपने ब्रांच कार्यालय को किसी माल या उसके पुर्जों को भेजता है तथा उस ब्रांच कार्यालय में यदि पुर्जों का संयोजन किया जाता है तथा उस माल को बेचा जाता है तो भी वह ब्रांच कार्यालय में उस वस्तु का विनिर्माता होने का दावा नहीं कर सकता।

iii) वह व्यक्ति जो किसी अन्य विनिर्माता द्वारा विनिर्मित माल पर अपना चिन्ह लगाता है और दावा करता है कि उस माल को उसने स्वयं ही बनाया है।

राष्ट्रीय आयोग (National Commission) : इस शब्द का अर्थ है राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद निवारण आयोग जिसकी स्थापना केन्द्रीय सरकार ने धारा 9(c) के अधीन की हैं

व्यक्ति (Person) : 'व्यक्ति' शब्द के अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं:

i) कोई फर्म, वह पंजीकृत हो या न हो

ii) हिन्दु अविभक्त कुटुम्ब

iii) व्यक्तियों के प्रत्येक अन्य संघ, वे सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत हों या न हों।

अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (Restrictive Trade Practice) : इसका अर्थ वह व्यापारिक व्यवहार होता है जिसके अंतर्गत किसी उपभोक्ता के लिए आवश्यक होता है कि वह किसी वस्तु को खरीदने या किसी सेवा का उपयोग करने के पूर्व किसी उन्य वस्तु को खरीदें या किसी सेवा का उपयोग करे।

सेवा (Service) : धारा 2(1)(o) में प्रावधान है कि 'सेवा' के अंतर्गत ऐसी किसी भी प्रकार की सेवा आती है जो संभावी उपयोगकर्ताओं को उपलब्ध कराई जाती है तथा जिसके अंतर्गत बैंकिंग, वित्त, बीमा, परिवहन, प्रक्रमण, बिजली की पूर्ति, भवन निर्माण, मनोरंजन, समाचार एकत्र करने के सुविधाओं आदि की व्यवस्था होती है लेकिन इसके अंतर्गत नि:शुल्क रूप में की गई सेवा या व्यक्तिगत सेवा संविदा के अंतर्गत की गई सेवा शामिल नहीं होती।

राज्य आयोग (State Commission) : इसका अर्थ है धारा 9(b) के अधीन राज्य सरकार द्वारा स्थापित उपभोक्ता विवाद निवारण आयोग।

व्यापारी (Trader) : किसी वस्तु के संबंध में व्यापारी का अर्थ होता है वह व्यक्ति जो किसी वस्तु को बेचता है या बिक्री के लिए किसी वस्तु का वितरण करता है तथा इसके अंतर्गत उस वस्तु का विनिर्माता भी आ जाता है जब वस्तुओं का विक्रय या वितरण पैकेज के रूप में हो तब व्यापारी' शब्द के अतर्गत पैक करने वाला व्यक्ति भी आ जाएगा।

अनुचित व्यापारिक व्यवहार (Unfair Trade Practice) : MRTP अधिनियम, 1969 के अंतर्गत के अनुचित व्यापारिक व्यवहार की परिभाषा के लगभग समान ही उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अंतर्गत इसकी परिभाषा है। इसका अर्थ ऐसे व्यापारिक व्यवहार से होता है जो किसी वस्तु की बिक्री को बढ़ाने के लिए किसी वस्तु का उपयोग करने के लिए या किसी वस्तु की पूर्ति करने के लिए या किसी सेवा का प्रावधान करने के लिए किसी अनुचित या कपटपूर्ण व्यवहार का प्रयोग करता है तथा जिसके अतर्गत निम्नलिखित में से कोई भी आ जाता है:

1) मौखिक, लिखित या स्वयं उपस्थित होकर ऐसा बयान देने का व्यवहार जिसमें

   i) झूठमूठ ही बताया जाता है कि माल किसी विशेष मापदंड, किस्म, मात्रा, ग्रेड, बनावट, स्टाइल या मॉडल के हैं;

   ii) झूठमूठ ही बताया जाता है कि सेवा किसी विशेष मापदंड, किस्म या ग्रेड की है;

   iii) किसी पुराने या पहले से उपयोग में लाये गए माल को झूठमूठ ही नया बताया जाता है;

   iv) बताया जाता है कि माल या सेवा का प्रायोजक, स्वीकृति, कार्यनिष्पादन, विशेषताएं, उपयोगिता या लाभ प्राप्त हैं जबकि वास्तव में ऐसा नहीं होता;

   v) बताया जाता है कि विक्रेता या पूर्तिकर्ता को प्रायोजक, स्वीकृति या संबंध प्राप्त है जबकि वास्तव में ऐसा नहीं होता;

   vi) माल या सेवा की आवश्यकता या उसके उपयोग के संबंध में गलत या भ्रामक चित्रण प्रस्तुत किया जाता है;

   vii) किसी उत्पाद या वस्तु के कार्यनिष्पादन, दक्षता या उसके जीवन काल के संबंध में जनता को वारंटी या गारंटी दी जाती है, जबकि ऐसा करने के पूर्व ऐसे उत्पाद या वस्तु का पर्याप्त और उचित परीक्षण नहीं किया जाता। परन्तु जब उत्पादक या विक्रेता कहता है कि ऐसी वारंटी या गारंटी पर्याप्त और उचित परीक्षण पर आधारित है तब ऐसे कथन को सही सिद्ध करने का भार उस उत्पादक या विक्रेता पर होता है।

   viii) जनता के सम्मुख निम्नलिखित रूप में प्रस्तुति की जाती है

      क) किसी उत्पाद, वस्तु या सेवा की वारंटी या गारंटी;

ख) किसी वस्तु या उसके किसी भाग के बदलने, उसकी देखभाल करने या उसकी मरम्मत करने या किसी सेवा को तब तक जारी रखने का वचन देना जब तक उसका निर्दिष्ट परिणाम प्राप्त नहीं हो जाता;

ग) यदि ऐसी वारंटी या गारंटी, या वादा वास्तव में भ्रामक सिद्ध होता है तथा ऐसा नहीं लगता कि गारंटी या वारंटी या वादे को पूरा किया जा सकेगा;

ix) जनता को उस कीमत के संबंध में गुमराह किया जाता है जिस पर कोई उत्पाद या उसके जैसा कोई उत्पाद या माल आमतौर पर बेचा जाता है या सेवा दी जाती है;

x) किसी वस्तु, सेवा या किसी अन्य के व्यवसाय की निन्दा में कोई गलत बयान।

2) समाचार पत्रों या अन्यथा ऐसे विज्ञापन की अनुमति जिसमें किसी रियायती दर पर माल या सेवा की बिक्री करने या पूर्ति करने को कहा जाता है परन्तु वास्तव में रियायती कीमत पर इनकी बिक्री या पूर्ति करने का आशय नहीं होता।

3) क) उपहार या इनाम देने की अनुमति जबकि वास्तव में इन्हें देने का आशय नहीं होता या ऐसा प्रभाव उत्पन्न करना कि कोई वस्तु मुफ्त दी जा रही है जबकि वास्तव में पूरे सौदे के अंतर्गत ऐसे उपहार या इनाम भी शामिल होती है;

ख) किसी उत्पाद या व्यवसाय हित के विक्रय, उपयोग या पूर्ति के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संवर्धन के लिए किसी प्रतियोगिता या लॉटरी की अनुमति।

4) उपभोक्ता के उपयोग की ऐसी वस्तु की बिक्री या पूर्ति की अनुमति जिसके संबंध में ज्ञात है या जिसके संबंध में ज्ञात होने का कारण है कि वह वस्तु किसी सक्षम अधिकारी द्वारा अनुमत उस मापदंड की पूर्ति नहीं करती जो कार्यनिष्पादन, बनावट, डिजाइन; निर्माण एवं पैकिंग की दृष्टि से उपभोक्ता की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

5) किसी वस्तु का जमाखोरी करने, उसे नष्ट करने या उसे बेचने से मना करने या कोई सेवा करने से मना करने को अनुमति प्रदान करना, यदि ऐसी जमाखोरी, नष्ट करने आदि से उस वस्तु या उसके जैसी वस्तु या सेवा की कीमत बढ़ जाती है।

7.4.4 अनुचित एवं अवरोधक व्यापारिक व्यवहारों की स्थिति में उपभोक्ताओं को कोई राहत नहीं

इन दो प्रकार के व्यवहारों की स्थिति में जिला फोरम इन व्यवहारों को बंद करने का आदेश दे सकता है या इनका रिपोर्ट नहीं कर सकता है

7.4.5 वे व्यक्ति जो इस अधिनियम के अंतर्गत शिकायत फाइल कर सकते हैं

इस अधिनियम के अंतर्गत निम्नलिखित वर्ग के व्यक्ति अपनी शिकायतें फाइल कर सकते हैं:

i) उपभोक्ता,

ii) कंपनी अधिनियम, 1956 या तत्कालीन किसी अन्य कानून के अंतर्गत पंजीकृत कोई स्वैच्छिक उपभोक्ता संघ,

iii) केन्द्रीय सरकार,

iv) कोई राज्य सरकार,

v) एक या दो उपभोक्ता, जबकि एक ही हित वाले अनेक उपभोक्ता हैं।

बोध प्रश्न ख

1) उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 की कम से कम तीन मुख्य विशेषताएं बताइए।

i) .....

ii) .....

.....

iii) .....

.....

2) निम्नलिखित स्थितियों में उपभोक्ताओं की शिकायतों के लिए वित्तीय अधिकार क्षेत्र बताइए :

i) जिला फोरम

.....

.....

ii) राज्य आयोग

.....

.....

iii) राष्ट्रीय आयोग

.....

.....

7.5 एकाधिकारे तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969 (Monopolies and Restrictive Trade Practices Act 1969)

MRTP अधिनियम, 1969 इसलिए बनाया गया कि अर्थव्यवस्था के क्रियाकलापों के फलस्वरूप आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण इस प्रकार न हो कि आम जनता को क्षति पहुंचे, तथा उन एकाधिकारी, अवरोधक एवं अनुचित व्यापारिक व्यवहारों पर प्रतिबंध लगाया जाए जिनके कार्य आम जनता के हितों के विरोध में होते हैं। 1991 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया। इस इकाई में एकाधिकारी, अवरोधक एवं अनुचित व्यापारिक व्यवहारों के संबंध में विवेचन किया जाएगा।

7.5.1 एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहार (Monopolistic Trade Practices)

यह सभी जानते हैं कि एकाधिकारी स्थिति के होने से कुछ ऐसे व्यवहार किए जाते हैं जो उपभोक्ताओं के हितो के विरोधी होते हैं। यह अधिनियम एकाधिकारी स्थिति की परिभाषा ऐसे व्यवहार के रूप में करता जिसके निम्नलिखित प्रभाव होते हैं :

i) किसी प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन, पूर्ति और वितरण या किन्हीं प्रकार की सेवाओं की पूर्ति को घटाकर, उसे सीमित करके या उसका नियंत्रण करके उसकी कीमत को अनुचित स्तर तक बनाए रखना;

ii) किन्हीं वस्तुओं के उत्पादन, पूर्ति या वितरण के संबंध में या किन्हीं सेवाओं की पूर्ति के संबंध में प्रतियोगिता पर अनुचित ढंग से रोक लगाना या उन्हें कम करना;

iii) तकनीकी विकास या पूंजी निवेश को सीमित करना जिससे आप जनता को क्षति न पहुंचे या किसी वस्तु के उत्पादन, पूर्ति या वितरण या भारत में की जाने वाली सेवा की किस्म में गिरावट नहीं आने देना;

iv) (क) किन्हीं वस्तुओं की उत्पादन लागत या (ख) किन्हीं सेवाओं की व्यवस्था पर प्रभार में अनुचित रूप से वृद्धि

v) (क) जिन कीमतों पर वस्तुओं का विक्रय होता है या जिन पर उनका विक्रय या पुन: विक्रय हो सकता है या जिन प्रभारों पर किन्हीं सेवाओं की व्यवस्था की जाती है या की जा सकती है उनमें अनुचित रूप से वृद्धि करना या (ख) किन्हीं वस्तुओं के उत्पादन, पूर्ति या वितरण (विक्रय और क्रय सहित) से या किन्हीं सेवाओं की व्यवस्था से जो लाभ होते हैं या हो सकते हैं उनमें अनुचित रूप से वृद्धि करना;

vi) अनुचित विधियों या भ्रांतिजनक व्यवहारों द्वारा किन्हीं वस्तुओं के उत्पादन, पूर्ति या वितरण के संबंध में या किन्हीं सेवाओं की व्यवस्था के संबंध में प्रतियोगिता पर अनुचित ढंग से रोक लगाना या उन्हें कम करना।

एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहारों (MTP) के संबंध में उपचारी आदेश देने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को है। लेकिन केन्द्रीय सरकार ऐसा आदेश केवल MRTP आयोग की रिपोर्ट के आधार पर ही दे सकती है। आयोग ऐसी रिपोर्ट एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहारों संबंधी शिकायतों की जांच-पड़ताल करने के बाद ही देगा।

7.5.2 अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (Restrictive Trade Practices)

MRTP अधिनियग का एक अन्य उद्देश्य अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (RTP) पर रोक लगाना है। अधिनियम में दी गई परिभाषा के अनुसार RTP का अर्थ वह व्यापारिक व्यवहार है जिसके फलस्वरूप किसी भी प्रकार से प्रतियोगिता पर रोक लगाना है। जिससे प्रतियोगिता का रूप बिगड़ जाता है तथा प्रतियोगिता प्रतिबंधित हो जाती है। इसके अतिरिक्त ऐसे व्यवहारों के फलस्वरूप

i) उत्पादन की क्रिया में पूंजी और संसाधनों के प्रवाह में व्यवधान आता है, या
ii) वस्तुओं की कीमतों या उनकी सुपुर्दगी की शर्तों में हेरफेर की जाती है अथवा बाजार में वस्तुओं या सेवाओं की पूर्ति का प्रवाह इस प्रकार से प्रभावित होता है कि उनके लिए उपभोक्ताओं को अनुचित कीमत चुकानी पड़ती है।

यह अधिनियम RTP का विनियमन निम्नलिखित तीन प्रकार से करता है:

क) अवरोधक व्यापारिक व्यवहारों से संबंधित करारों का पंजीकरण।
ख) MRTP आयोग जांच-पड़ताल करने के बाद व्यक्तियों पर ऐसे व्यवहारों पर रोक लगाता है।
ग) पुन: विक्रय कीमतों पर प्रतिबंध।

धारा 33 में प्रावधान किया गया है कि उसमें दी गई एक या दो श्रेणियों में आने वाले सभी समझौतों को अवरोधक व्यापारिक व्यवहारों से संबंधित समझौता माना जाएगा तथा उन्हें MRTP आयोग को अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी प्रकार के अवरोधक व्यापारिक व्यवहार की जांच-पड़ताल करे, इस बात पर ध्यान दिए बिना कि ऐसे व्यवहार से संबंधित करार की धारा 35 के अधीन पंजीकरण कराया गया है या नहीं कराया गया है।

धारा 38 के अंतर्गत कुछ ऐसे अपवादों का भी प्रावधान है जिनके अंतर्गत यदि MRTP आयोग संतुष्ट हो जाता है तब वह अवरोधक व्यापारिक व्यवहार की अनुमति दे सकता है।

इस अधिनियम ने एक अन्य प्रकार के अवरोधक व्यापारिक व्यवहार का अलग से प्रावधान किया है जिसे पुन: विक्रय कीमत रक्षण (re-sale price maintenance) कहा जाता है। किसी प्रकार की वस्तुओं के विक्रय के संबंध में पुन: विक्रय कीमत रक्षण का अर्थ होता है विक्रेता को अधिसूचित कोई कीमत या पूर्तिकर्ता के द्वारा या उसकी ओर से प्रकाशित वह कीमत या न्यूनतम कीमत जिसे लेना है या जिसे लेने की सिफारिश की जाती है या वह कीमत जो थोक विक्रेता या खुदरा विक्रेता और पूर्तिकर्ता के बीच अनुबंध या समझौता द्वारा निर्धारित की जाती है।

7.5.3 अनुचित व्यापारिक व्यवहार (Unfair Trade Practices)

प्रावधान 36A में प्रावधान है कि अनुचित व्यापारिक व्यवहार (UTP) से आशय उस व्यवहार से होता है जिसके अंतर्गत किसी वस्तु की बिक्री, उसके उपयोग या उसकी पूर्ति को बढ़ावा देने के लिए या किसी सेवा की व्यवस्था के लिए किसी अनुचित विधि या भ्रांतिजनक व्यवहार (जिसके अंतर्गत निम्नलिखित व्यवहार भी आ जाते हैं) का प्रयोग किया जाता हैं। अनुचित व्यापारिक व्यवहार निम्नलिखित् हैं:

i) गुमराह करने वाले विज्ञापन और गलत चित्रण।

ii) रियायती विक्रय, और प्रलोभन विक्रय।

iii) ऐसे उपहार और ईनाम देने का वचन देना जिन्हें वास्तव में देने का इरादा नहीं है तथा संवर्धन प्रतियोगिता का आयोजन करना।

iv) उत्पाद सुरक्षा मापदंड का पालन न करना।

v) वस्तुओं की जमाखोरी या उन्हें नष्ट करना।

बोध-प्रश्न ग

1) एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) अधिनियम 1969 के उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

2) एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (RTP) को किस प्रकार विनियमित करता है?

.....

.....

.....

.....

3) एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम में दिए गए कुछ अनुचित व्यापारिक व्यवहारों (UTP) की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

.....

4) 'एकाधिकारी' और 'अवरोधक' व्यापारिक व्यवहारों में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

7.6 साराश

व्यवसाय के सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण पर उपभोक्ता आन्दोलन का बहुत बड़ा प्रभाव होता है। सशक्त उपभोक्ता आन्दोलन किसी अर्थव्यवस्था के स्वस्थ घरेलू का प्रमाण हे। भारत जैसे देश में जनता का बहुत बड़ा भाग अशिक्षित है, उनकी क्रय शक्ति बहुत ही सीमित है तथा अधिकतर महत्वपूर्ण वस्तुओं की पूर्ति कम मात्रा में होती है। अत: सरकार का दायित्व हो जाता है कि वह उचित प्रतियोगिता का वातावरण बनाकर उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करे।

उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार ने पहले से ही कुछ कानूनी कदम उठाए हैं। उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए अनेकों अधिनियम कार्यरत हैं।, इनमें से कुछ अधिनियम ये हैं- माल विक्रय अधिनियम, 1930; औषधि और प्रसाधन सामग्री अधिनियम, 1940; खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम,. 1954; आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955; भारतीय मानक संस्था प्रमाणन अधिनियम, 1952 और बाट एवं माप मानक अधिनियम, 1956।

गलत ढंग से कार्य में लाए जाने के कारण इनमें से बहुत से उपर्युक्त कानून प्रभावी न हो पाये हैं। ये कानून उपभोक्ताओं के हितों की पर्याप्त रूप से रक्षा इसलिए नहीं कर पाते क्योंकि इनके कार्यक्षेत्र के अधीन कुछ विशिष्ट उत्पाद या अनाचार ही आ पाते हैं। इन कानूनों के अंतर्गत उपभोक्ताओं को दिए जाने वाले संरक्षण पर्याप्त नहीं हैं। अत: उपभोक्ताओं को उन अनेकों अनुचित व्यवहारों का शिकार होना पड़ता है जिनका प्रयोग मालों या सेवाओं के पूर्तिकर्ता करते हैं। MRTP अधिनियम जैसे कानून वास्तव में उपभोक्ताओं की बहुत बड़ी संख्या को संरक्षण प्रदान नहीं कर पाये हैं। सरकार की वचनबद्धता और उपभोक्ताओं में जागरुकता के फलस्वरूप ही देश में स्वस्थ उपभोक्ता आन्दोलन को बढ़ावा मिल पाएगा।

7.7 शब्दावली

उपभोक्ता विवाद (Consumer dispute) : वह विवाद, जिसमें जिस व्यक्ति के खिलाफ शिकायत की गई है, वह उन्हें मानने से इनकार करता है या उनका विरोध करता है।

दोष (Defect) : वस्तु या सेवा की ऐसी गुणवत्ता, मात्रा, सक्षमता, शुद्धता या मानक में कोई त्रुटि या अपूर्णता जिसे वर्तमान किसी कानून या संविदा के अंतर्गत रखना आवश्यक होता है।

कमी (Deficiency) : वस्तुओं में 'दोष' के ही अनुरूप 'कमी' शब्द का प्रयोग सेवाओं के संदर्भ में किया जाता है। धारा 2(1)(g) के अनुसार 'कमी' का अर्थ है वर्तमान कानून के अनुसार या अन्यथा जिस स्तर की सेवा करनी है उसमें कोई दोष या अपूर्णता का होना या उसकी गुणवत्ता, स्वरूप या प्रकार में कोई कमी।

जिला फोरम (District Forum) : जिला फोरम का अर्थ है उपभोक्ता विवाद निवारण फोरम जिसकी स्थापना राज्य सरकार धारा 9(a) के अधीन राज्य के सभी जिलों में करती है। राज्य सरकार यदि आवश्यक समझे तो वह एक जिला में एक से अधिक फोरम की स्थापना कर सकती है।

माल (Goods) : माल के अंतर्गत अनुयोज्य दावों और मुद्रा के अतिरिक्त सभी प्रकार की चल संपत्ति आ जाती है तथा इसके अंतर्गत स्टॉक एवं शेयर तथा भूमि पर होने वाली फसल, घास आदि आ जाते है।

अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (Restrictive Trade Practice) : इसका अर्थ वह व्यापारिक व्यवहार होता है जिसके अंतर्गत किसी उपभोक्ता के लिए आवश्यक होता है कि वह किसी वस्तु को खरीदने या किसी सेवा का उपयोग करने से पूर्व किसी अन्य वस्तु को खरीदें या किसी सेवा का उपयोग करें।

सेवा (Service) : धारा 2(1)(o) में प्रावधान है कि 'सेवा' के अंतर्गत ऐसी किसी भी प्रकार की सेवा आती है जो संभावी उपयोगकर्ताओं को उपलब्ध कराई जाती है तथा जिसके अंतर्गत बैंकिंग, वित्त, बीमा, परिवहन, प्रक्रमण, बिजली की पूर्ति, भवन निर्माण, मनोरंजन, समाचार एकत्र करने की सुविधाओं आदि की व्यवस्था होती है, लेकिन इसके अंतर्गत नि:शुल्क रूप में की जाने वाली या व्यक्तिगत सेवा की संविदा के अंतर्गत की गई सेवा शामिल नहीं होती।

राज्य आयोग (State Commission) : इसका अर्थ है धारा 9(b) के अंतर्गत राज्य सरकार द्वारा स्थापित उपभोक्ता विवाद निवारण आयोग।

व्यापारी (Trader) : किसी वस्तु के संबंध में 'व्यापारी' का अर्थ होता है वह व्यक्ति जो किसी वस्तु को बेचता है या बिक्री के लिए किसी वस्तु का वितरण करता है तथा इसके अंतर्गत उस वस्तु का विनिर्माता भी आ जाता है। जब वस्तुओं का विक्रय या वितरण पैकेज के रूप में होता है तब व्यापारी शब्द के अंतर्गत पैकेज करने वाला व्यक्ति भी आ जाता है।

7.8 स्वपरख प्रश्न

1. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 के अंतर्गत उपभोक्ताओं की शिकायतों को दूर करने की क्या व्यवस्थाएं हैं?
2. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अनुसार निम्नलिखित शब्दों की परिभाषा दीजिए:
   क) उपभोक्ता
   ख) उपभोक्ता विवाद
   ग) दोष
   घ) सेवा
   च) व्यापारी
   छ) अवरोधक व्यापारिक व्यवहार
3) उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत कौन शिकायत फाइल कर सकता है? इस अधिनियम के अंतर्गत किस प्रकार की शिकायतें की जा सकती हैं?
4) उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अंतर्गत किसी उपभोक्ता की मौलिक अधिकारों की परीक्षण कीजिए।
5) एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) अधिनियम 1969 के उद्देश्य क्या हैं? इस अधिनियम में उपयोग किए जाने वाले 'एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहार' शब्द से आप क्या समझते हैं?
6) किसी बेईमान विनिर्माता द्वारा किए जाने वाले अवरोधक व्यापारिक व्यवहारों के फलस्वरूप हुई क्षति के लिए कोई पीड़ित पक्ष क्षतिपूर्ति का दावा कैसे कर सकता है? विवेचन कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

खंड

3

आर्थिक नीति और ढांचा

इकाई 8

उद्योग नीति 5

इकाई 9

औद्योगिक रूग्णता 15

इकाई 10

औद्योगिक संबंध 33

इकाई 11

छोटे पैमाने का क्षेत्र 46

खंड 3 आर्थिक नीति और ढांचा

खंड 2 में आपने अध्ययन किया कि व्यवसाय में सरकार की क्या भूमिका होती है। उसमें आपने यह भी देखा कि सरकार नियंत्रणों और विनियमों की प्रणाली के द्वारा व्यावसायिक कारोबारों और व्यावसायिक कार्यकलापों को किस प्रकार प्रभावित करती है। इस खंड में हम आर्थिक नीति और ढांचे के संबंध में चर्चा करेंगे। हम जानते हैं कि आर्थिक प्रणालियों का प्रचालन प्राय: राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों के द्वारा होता है। इस खंड में चार इकाइयां हैं।

इकाई 8 में उद्योग नीति के संबंध में चर्चा की गई है। इसमें उस नीति ढांचे को प्रस्तुत किया गया है जिसके अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था के औद्योगिक ढांचे का लम्बी अवधि से विकास हुआ है। इसमें उद्योग नीति, नई उद्योग नीति और सार्वजनिक क्षेत्र के सुधारों एवं निजीकरण के संबंध में विचार किया गया है।

इकाई 9 में औद्योगिक रूग्णता के संबंध में चर्चा की गई है। औद्योगिक रूग्णता के स्वरूप और उनके कारणों के संबंध में विस्तार से परीक्षण किया गया है। औद्योगिक रूग्णता की समस्याओं से निटपने के लिए जो विभिन्न प्रकार के उपाय किए गए हैं उनके संबंध में भी विचार किया गया है।

इकाई 10 में औद्योगिक संबंधों के संबंध में चर्चा की गई है। इस इकाई में भारत के औद्योगिक संबंधों की रूपरेखा को प्रस्तुत किया गया है। इसमें देश के अंतर्गत औद्योगिक विकास के कारणों, इन विवादों के निवारण एवं निपटान तथा विवाद समाधान तंत्र की कार्य प्रणाली के संबंध में विचार किया गया है।

इकाई 11 में छोटे पैमाने के क्षेत्र के संबंध में चर्चा की गई है। हमारी अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के क्षेत्र का बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। इस इकाई में छोटे पैमाने के क्षेत्र के महत्व और उसके विकास, इन संस्थाओं की समस्याओं एवं छोटे पैमाने के उद्योगों के प्रति सरकारी नीतियों के संबंध में विचार किया गया हैं।

इकाई 8 उद्योग नीति (Industrial Policy)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्योग नीति का विकास
8.3 उद्योग नीति संकल्प (IPR) 1956
8.3.1 IPR 1948 में हुए परिवर्तन
8.3.2 IPR 1956 के उद्देश्य
8.3.3 IPR 1956 की मुख्य विशेषताएं
8.3.4 औद्योगिक लाइसेंस
8.3.5 उद्योग नीति की समीक्षा
8.4 नई उद्योग नीति 1991
8.4.1 उद्देश्य
8.4.2 नीति संबंधी उपाय
8.4.3 नई उद्योग नीति का मूल्यांकन
8.5 सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार और निजीकरण
8.5.1 निजीकरण का अर्थ
8.5.2 निजीकरण के पक्ष में तर्क
8.5.3 निजीकरण से लाभ
8.5.4 निजीकरण के संबंध में कार्यवाहियां
8.5.5 सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की पुनः संरचना
8.6 सारांश
8.7 शब्दावली
8.8 स्व-परख प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका के संबंध में बता सकें
- यह बता सकें कि इस प्रक्रिया में निजी उद्यम से किस प्रकार के योगदान की अपेक्षा की जा सकती है
- नई उद्योग नीति की मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट कर सकें और यह बता सकें कि देश में औद्योगिक विकास कार्यक्रमों को बढ़ावा देने में इनका किस प्रकार का योगदान हो सकता है
- यह दिखा सकें कि निजीकरण और सार्वजनिक क्षेत्र सुधार किसी देश के सुधार कार्यक्रमों के सन्निहित अंग होते हैं।

8.1 प्रस्तावना

आर्थिक नीति के अनेक पक्ष हैं जो औद्योगिक निवेश और उत्पादन को प्रभावित करते हैं। प्रथम, औद्योगिक लाइसेंस नीति है जो नई औद्योगिक् उपक्रमों की स्थापना और उनके विकास को विनियमित

करती हैं। द्वितीय, एकाधिकारों और आर्थिक संकेन्द्रण पर नियंत्रण के संबंध में नीति है। तृतीय प्रौद्योगिकी के आयात के संबंध में नीति है। प्रौद्योगिकी और आयात नीति घनिष्ठ संबंध वाली वह नीति है जिसका संबंध पूँजीगत पदार्थों, उपकरणों और कच्चे माल के आयात के साथ होता है। अंततः वित्तीय और राजकोषीय नीतियां हैं जिनका संबंध औद्योगिक वित्त के प्रावधान, पूंजी बाजार के विकास तथा निवेश और उत्पादन को प्रोत्साहन देने और प्रोत्साहन न देने के साथ होता है।

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको उस नीति ढांचे से अवगत कराना है जिसके अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था का औद्योगिक ढांचा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पिछले पचास वर्षों में अपना विकास किया है। इस इकाई में आप भारत में उद्योग नीति के विकास, नई उद्योग नीति तथा सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार और निजीकरण के संबंध में पढ़ेंगे।

8.2 उद्योग नीति का विकास (Evolution of Industrial Policy)

भारत में उद्योग नीति के विकास को समझने के लिए आजादी के समय के उद्योगों की स्थिति को संक्षेप में जानना आवश्यक है। उस समय उद्योगों की स्थिति निम्नलिखित थी।

1. औद्योगिक क्षेत्रक अत्यंत अविकसित था।
2. आधारिक संरचना उद्योगों के अभाव के कारण देश में बहुत रोष था।
3. ऐसा माना जाता था कि अल्पविकास का मुख्य कारण उद्योग क्षेत्रक के पक्ष में सरकार की ओर से किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होना था।
4. ऐसा माना जाता था कि निर्यात-उन्मुखता (export-orientation) देश के हित में नहीं है।
5. स्वामित्व की संरचना अत्यंत संकेन्द्रित थी।
6. तकनीकी और प्रबंधकीय कौशल की कमी थी।

उपर्युक्त के फलस्वरूप राष्ट्रीय एकमत इस पक्ष में था कि आर्थिक प्रभुसत्ता और आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति तभी हो सकती है जब देश का तेजी से औद्योगिकरण किया जाए तथा उसके साथ-साथ विशेषतः औद्योगिक आधारिक संरचना (industrial infrastructure) का संवर्धन किया जाए। इसी कारण ऐसी आर्थिक और औद्योगिक नीतियों के निर्धारण के लिए वातावरण बन गया जिसमें तेजी से औद्योगीकरण पर जोर दिया गया परन्तु साथ ही साथ यह भी माना गया कि इस क्षेत्र में सरकार की सक्रिय भूमिका हो तथा जहां आवश्यक हो वहां वह हस्तक्षेप भी करे।

8.3 उद्योग नीति संकल्प (IPR) 1956

आजादी के तुरंत ही बाद सरकार ने उचित समझा कि वह निजी पूंजी के प्रति अपना मत प्रकट करे और निजी सहभागिता के क्षेत्र को स्पष्ट करे। ऐसा करने का लक्ष्य यह था कि अर्थव्यवस्था में औद्योगिक संवृद्धि संबंधी बाध्यताओं के बारे में अनिश्चितताएं दूर हो जाएं। इस संबंध में सरकारी घोषणा ने उद्योग नीति संकल्प (industrial policy resoluation)1948 का रूप लिया। इस संकल्प के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे।

1. योजना की प्राथमिकताओं और लक्ष्यों के अनुसार औद्योगिक निवेशों और उत्पादन का विकास, तथा विनियमन;
2. लघु उद्योगों को संरक्षण और प्रोत्साहन;
3. उद्योगों के स्वामित्व के संकेन्द्रण पर रोक; और
4. विकास के स्तर में असमानताओं को घटाने के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों में संतुलित आर्थिक विकास।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उद्योग (विकास और विनियन) अधिनियम 1951 के अंतर्गत सरकार को अधिकार दिए गए।

8.3.1 IPR 1948 में हुए परिवर्तन

IPR 1948 को स्वीकार कर लेने के बाद के समय से भारत में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं हुईं। इनके कारण औद्योगिक नीति के संबंध में एक नए विवरण को जारी करने की आवश्यकता पड़ी।

इन घटना में से कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण निम्नलिखित थीं :

1. भारत के नए संविधान में कुछ मौलिक अधिकारों (fundamental rights) की गारंटी दी गई तथा इसमें राज्य की नीति निर्देशक सिद्धांतों (directive principles) का प्रावधान किया गया।
2. प्रथम पंचवर्षीय योजना को पूरा कर लिया गया और दूसरी पंचवर्षीय योजना संबंधी कार्य शुरू कर दिए गए।
3. भारत की संसद ने सामाजिक और आर्थिक नीति के उद्देश्य के रूप में समाज के समाजवादी रूप (socialistic pattern of society) को स्वीकार कर लिया।

8.3.2 IPR 1956 के उद्देश्य

उपर्युक्त परिवर्तनों के अनुरूप कार्य के लिए IPR 1956 की व्यवस्था की गई। IPR 1956 का लक्ष्य निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करना था :

i) भारी उद्योगों और मशीनों का निर्माण करने वाले उद्योगों का विकास

ii) सार्वजनिक क्षेत्रक का प्रसार

iii) बड़े और बढ़ते हुए सहकारी क्षेत्रक की स्थापना

iv) निजी क्षेत्र के स्वामित्व और प्रबंध का प्रसार।

8.3.3 IPR 1956 की मुख्य विशेषताएं

कुटीर और लघु उद्योगों को बढ़ाना देने के पहले से घोषित लक्ष्यों पर पुन: जोर देने, औद्योगिक शांति को बनाए रखने, क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने तथा समुचित प्रबंधकीय और तकनीकी काडरों को बनाने के अतिरिक्त IPR 1956 की सबसे प्रमुख विशेषता थी निम्नलिखित तीन अनुसूचियों में समस्त औद्योगिक क्षेत्रक का वर्गीकरण करना।

1. **अनुसूची A** : इसमें 17 उद्योग हैं। इन उद्योगों में जिन इकाइयों को निजी क्षेत्र में स्थापित करने की अनुमति पहले ही दी जा चुकी है, उनके अतिरिक्त शेष सभी नई इकाइयों की स्थापना सरकार करेगी।
2. **अनुसूची B** : इसमें 12 उद्योग हैं। इन उद्योगों को क्रमश: राज्य के स्वामित्व में लाना था।
3. **अनुसूची C** : अन्य सभी उद्योगों को इस अनुसूची में लाना था। भविष्य में इन उद्योगों को विकसित करने की जिम्मेदारी सरकार एवं निजी उद्यम की संयुक्त रूप में होगी।

8.3.4 औद्योगिक लाइसेंस (Industrial Licensing)

औद्योगिक नीति के कार्यरूप देने के लिए औद्योगिक लाइसेंस की प्रणाली को अपनाया गया था। औद्योगिक लाइसेंस राज्य की नीति का महत्वपूर्ण उपकरण होता है। लाइसेंस सरकार की ओर से किसी उद्योग इकाई को लिखित अनुमति होता है जिसके अंतर्गत वह अनुमति पत्र में निर्धारित वस्तुओं का उत्पादन कर सकती है। उद्योग को चलाने की लाइसेंस में निम्नलिखित विवरण भी निर्धारित होते हैं-प्लांट की अवस्थिति, जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जाना है, इकाई की क्षमता, उद्योग क्षमता की स्थापना की अवधि, आदि।

औद्योगिक लाइसेंस के लिए कानूनी ढांचा का निर्माण उन विभिन्न तीन अधिनियमों में किया गया जिन्हें विभिन्न समस्याओं पर बनाया गया है। ये अधिनियम निम्नलिखित हैं :

1. उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951
2. एकाधिकार एवं अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969
3. विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अधिशासी नियंत्रणों (executive controls) को भी लागू किया गया है। जैसे कि i) पूंजी निर्गमन नियंत्रण, ii) आयात-निर्यात नियंत्रण, iii) वस्तु नियंत्रण, iv) वित्त और साख नियंत्रण और v) अवस्थिति, पर्यावरण और श्रम कानून।

3.3.5 उद्योग नीति की समीक्षा (Review of Industrial Policy)

IPR 1956 में ऐसे ढांचे का प्रावधान था जिसके अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था के औद्योगिक ढांचे को प्रभावित करने वाली नीतियों को बनाया गया। परंतु उद्योग नीति ढांचे का सदा हीं मानीटर व पुन र्ल्यांकन किया जाता है। इन नीतियों का समय-समय पर पुनर्निधारण भी किया गया है।

पुनर्निधारण की प्रक्रिया ने 1980 के दशक के मध्यकाल से जोर पकड़ा। इसकी राजकोषीय, मौद्रिक, औद्योगीकरण और व्यापार नीतियों के परीक्षण के लिए सरकार ने अनेक विशेषज्ञ समितियां बनाई। इनके जांच-परिणामों और सिफारिशों के आम नतीजों को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

- तेजी से समृद्धि के लिए आयात को बढ़ाना होगा
- बढ़े हुए आयात को भुगतान के लिए निर्यात में वृद्धि करना अत्यंत आवश्यक है
- निर्यातों के प्रतिस्पर्धी लाभ को बढ़ाना आवश्यक है।
- इसके लिए आर्थिक नीतियों को बदलना आवश्यक है।

इन सिफारिशों को देखते हुए 24 जुलाई, 1991 को नई उद्योग नीति (NIP) घोषित की गई। अनुच्छेद 8.4 में इस नीति के संबंध में विस्तार से विचार किया जाएगा।

बोध प्रश्न क

1) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत की उद्योग स्थिति की पांच प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) औद्योगिक नीति संकल्प (IPR) 1948 की घोषणा के बाद क्या प्रमुख परिवर्तन हुए हैं ? संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) IPR 1956 में किन तीन अनुसूचियों को दिया गया था ?

.....

.....

.....

4) तेजी से आर्थिक संवृद्धि के लिए विभिन्न विशेषज्ञ समितियां बनाई गई थीं उनके प्रमुख सुझाव क्या थे ?

.....

.....

.....

.....

8.4 नई उद्योग नीति (New Industrial Policy) 1991

नई उद्योग नीति 1991 के मूल दर्शन को संक्षेप में 'परिवर्तन के साथ निरंतरता (continuity with change) कहा जा सकता है। इसमें स्वावलंबन की नीति को तो अपनाया गया है परन्तु साथ ही साथ इस बात पर जोर दिया गया है कि आयातों का भुगतान निर्यातों से करने की क्षमता होनी चाहिए। इसमें यह भी स्वीकार किया गया है कि देश के अन्दर की तकनीक और विनिर्माण क्षमता के विकास विश्व मापदंड के अनुरूप होने चाहिए। उद्योग नीति 1991 में निम्नलिखित को महत्व दिया गया। (क) आधारिक संरचना के विकास के द्वारा पिछड़े हुए क्षेत्रों का औद्योगिकरण, और (ख) प्रौद्योगिकी की कोटी को उच्च करके एवं क्षमता में सुधार लाकर छोटे पैमाने के उद्योगों को बढ़ावा देना। इस नीति में इस बात पर जोर दिया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र को व्यवसाय के तौर पर चलाना चाहिए जैसा कि IPR 1956 में कहा गया था।

8.4.1 उद्देश्य

नई उद्योग नीति के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

1. पिछले चार दशकों की आर्थिक योजना के फलस्वरूप प्राप्त शक्ति को और भी सुदृढ करना और प्राप्त लाभों को कार्यरूप देना।
2. पिछले चार दशकों में विकसित औद्योगिक ढांचे में जो विकृतियां या कमजोरियां आई हों उन्हें ठीक करना।
3. उत्पादिता एवं रोजगार के अवसरों में लगातार वृद्धि करना।
4. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा क्षमता प्राप्त करना।

8.4.2 नीति संबंधी उपाय (Policy Measures)

उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अनेक क्षेत्रों में नीति संबंधी पहल किए गए हैं। ये निम्नलिखित हैं :

1. **औद्योगिक लाइसेंस नीति (Industrial Licensing Policy)**

   i) 9 उद्योगों की एक छोटी सी सूची को छोड़कर शेष सभी प्रायोजनाओं के लिए औद्योगिक लाइसेंस को समाप्त कर दिया गया है। ये 9 उद्योग हैं-कोयला और लिग्नाइट, पेट्रोलियम, अल्कोहलिक ड्रिंक, चीनी, सीगार और सिगरेट, इलेक्ट्रानिक एयरोस्पेस एवं रक्षा उपकरण, औद्योगिक एक्सप्लोसिभ, खतरनाक रसायन एवं ड्रग्स और फर्मासूटिकल।

   ii) सुरक्षा और सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केवल 5 उद्योग ग्रूप को सार्वजनिक क्षेत्रक के लिए सुरक्षित रखा गया है।

   iii) जिन प्रायोजनाओं में आयातित पूंजीगत पदार्थों की आवश्यकता होती है उनमें यदि विदेशी ईक्विटी से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाय तो ऐसे प्रायोजनाओं को स्व-अनुमति प्रदान की जाएगी।

   iv) जिन नगरों की आबादी 10 लाख से अधिक है उनको छोड़कर अन्य स्थानों के लिए

केन्द्रीय सरकार से उद्योग लेने की आवश्यकता नहीं होगी। इसका अपवाद केवल वे ही उद्योग होंगे जिनमें औद्योगिक लाइसेंस लेना आवश्यक होता है।

2. **विदेशी निवेश (Foreign Investment)**

   i) उच्च प्राथमिकता उद्योगों (high priority industries) में 51 प्रतिशत ईक्विटी तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को अनुमति दी जाएगी।

   ii) विदेशी पूंजी प्राप्त की जा सके इस उद्देश्य से उन व्यापारिक कंपनियों को 51 प्रतिशत तक पूंजी धारण (holding) की अनुमति दी जाएगी जो मुख्य रूप से निर्यात का कार्य करती है।

   iii) बड़ी-बड़ी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय फर्मों के साथ बातचीत करने के लिए और कुछ चुने हुए क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को स्वीकृति देने के लिए एक विशेष शक्ति वाले बोर्ड का गठन किया जाएगा।

3. **विदेशी प्रौद्योगिक समझौता (Foreign Technology Agreement)**

   निर्धारित उच्च प्राथमिकता उद्योगों में विदेशी प्रौद्योगिकी करारों के लिए अपने आप ही अनुमति दे दी जाएगी।

4. **सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)**

   i) सामरिक, उच्च प्रौद्योगिकीय एवं अनिवार्य आधारिक संरचना पर सार्वजनिक क्षेत्रक द्वारा अधिक ध्यान देने के उद्देश्य से सार्वजनिक क्षेत्रक के पोर्टफोलियो की पुनः समीक्षा की जाएगी।

   ii) सार्वजनिक क्षेत्रक के जो उपक्रम काफी समय से बीमार हैं उनके संबंध में औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निमाण बोर्ड (BIFR) से सलाह ली जाएगी।

   iii) सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों में सरकार के शेयरों का विनिवेश कर दिया जाएगा।

5. **एकाधिकार एवं अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) अधिनियम**

   i) MRTP कम्पनियों से संबंधित परिसंपत्तियों की प्रवेश सीमाओं को दूर करने के लिए MRTP अधिनियम में संशोधित कर दिया गया है।

   ii) एकाधिकारी, अवरोधक और अनुचित व्यापारिक व्यवहारों के नियंत्रण और विनियमन पर जोर दिया जाएगा।

8.4.3 नई उद्योग नीति का मूल्यांकन (Evaluation of New Industrial Policy)

1. नई उद्योग नीति ने रातोरात भारत के औद्योगिक स्वरूप को बदल दिया है। वास्तव में यह नीति IPR 1956 जैसा ही अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण है जिसने उद्योगों के विकास के क्षेत्र में सरकार को प्राथमिकता प्रदान किया था। अब से औद्योगिक उपक्रम, दक्षता और बाजार को औद्योगिक प्रगति का निर्धारक मानेगा।

2. अनेक उद्योगों में लाइसेंस प्राप्त करने की प्रणाली को दूर करने और पंजीकरण की योजना को समाप्त करने के फलस्वरूप उद्यमी वर्ग शीघ्र निर्णय ले सकेंगे एवं व्यवसाय के अवसरों से लाभ उठाने का प्रयास करेंगे।

3. सरकार ने जिस अन्य क्षेत्र में बहुत बड़ा कदम उठाया है वह है उद्योग और विदेशी व्यापार के क्षेत्र में भारत की कंपनियों के साथ विदेशी सहयोग। यह एक अभूतपूर्व कदम है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के संबंध में नियमों का उदारीकरण, अनेक प्रकार के उद्योगों में सामान्य आधार पर 51 प्रतिशत और 74 प्रतिशत ईक्विटी की अनुमति, विदेशी प्रौद्योगिकी समझौतों को सुविधाजनक बनाना तथा इनसे संबंधित अन्य बातें भारत की उद्योग नीति के विकास में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कदम हैं।

4. एक अन्य महत्वपूर्ण कदम है क्रमिक रूप से विनिर्माण कार्यक्रम की नीति को समाप्त करना क्योंकि इसके द्वारा अब अलग-अलग स्थितियों में पृथक रूप से विचार नहीं करना होता तथा रुपए के बाहरी मूल्य और व्यापार नीति के संबंध में देशीयकरण के लिए उपयुक्त वित्तीय प्रोत्साहन दिया जाता है।

5. सार्वजनिक क्षेत्र के क्षेत्र में यह नीति अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका का सही रूप से मूल्यांकन करती है। सार्वजनिक क्षेत्रक का प्रवेश ऐसे क्षेत्रों में हो गया है जिसे व्यावसायिक आधार पर तर्कसम्मत नहीं माना जा सकता और न ही व्यापक रूप से कोई कल्याण कार्य हो पाता है। अत: उचित यही है कि इन उद्योगों में लगी सरकारी पूंजी का विनिवेश कर दिया जाए और इन उद्योगों को व्यावसायिक आधार पर चलने दिया जाए।

बोध प्रश्न ख

1) औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली के संबंध में नई उद्योग नीति की मुख्य विशेषताएं बताइए।

.....

.....

.....

.....

2) विदेशी सहयोग और निवेश के संबंध में नई उद्योग नीति की मुख्य विशेषताएं बताइए।

.....

.....

.....

.....

8.5 सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार और निजीकरण (Public Sector Reforms and Privatisation)

सार्वजनिक उद्यमों के क्षेत्र में नई उद्योग नीति एक नया कदम है। इसके द्वारा सार्वजनिक क्षेत्रक की भूमिका को भौतिक और सामाजिक आधारिक संरचनाओं का प्रावधान करने तक तथा सुरक्षा और सामरिक क्षेत्रों तक सीमित कर दिया गया है। यह नीति निजी पूंजी और उद्यम के लिए खुला वातावरण प्रदान करती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि नई उद्योग नीति का उद्देश्य अर्थव्यवस्था के निजीकरण को बढ़ावा देना है।

8.5.1 निजीकरण का अर्थ

निजीकरण से आशय ऐसी किसी भी प्रक्रिया से होता है जो किसी राष्ट्र के आर्थिक कार्यकलापों में राज्य/सार्वजनिक क्षेत्रक की भूमिका को कम करती है।

भारत जैसी मिली-जुली अर्थव्यवस्था (mixed economy) में निम्नलिखित आते हैं :

1. विराष्ट्रीयकरण (Denationalisation) अर्थात् उत्पादक परिसंपत्तियों पर राज्य के स्वामित्व को निजी क्षेत्र के हाथ में देना।
2. जो क्षेत्र पूर्णत: सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित कर दिए गए हैं उनमें निजी क्षेत्र का प्रवेश।
3. सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों और विभागों के प्रबंध को निजी क्षेत्र के हाथ में देना।
4. सार्वजनिक क्षेत्र के क्षेत्र को सीमित करना या सार्वजनिक क्षेत्र के वर्तमान उपक्रमों का और अधिक विविधीकरण न करना।

8.5.2 निजीकरण के पक्ष में तर्क

निम्नलिखित कारणों से निजीकरण की प्रक्रिया जोर पकड़ने लगी है :

1 भारत में बजट-घाटा लगातार बढ़ता जा रहा है। इसलिए राज्य के लिए संभव नहीं कि वह नया निवेश कर सके।

2. राज्य का और गैर-विकास (non-development) और गैर-योजना (non-plan) व्यय लगातार बढ़ता जा रहा है, जिसके फलस्वरूप दुर्लभ और बहुमूल्य संसाधनों को सरकार के लगातार बढते हुए उपभोग व्यय पर लगाना पड़ रहा है।

3. एक योजना के बाद दूसरी योजना में अर्थव्यवस्था के लिए वर्धमान पूंजी-उत्पाद अनुपात (incremental capital output ratio) बढ़ता जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्रक की स्थिति में यह अनुपात और भी अधिक है तथा भविष्य में इसमें और भी वृद्धि की संभावना है।

4. सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के कार्य निष्पादन के अत्यंत असंतोषजनक होने के कारण ये उद्यम राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए बोझ हो गए हैं।

8.5.3 निजीकरण से लाभ

निजीकरण से अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित लाभ होने की आशा की जाती है :

1. लाभ-उन्मुख निर्णय प्रक्रिया को लाने से कार्य कुशलता और कार्य-निष्पादन में सुधार;

2. सरकार की ओर से हस्तक्षेप में कमी तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में स्वतंत्रता और गतिशीलता; और

3. प्रतियोगिता के आने से निजीकरण के वातावरण को और भी बढ़ावा मिलना।

8.5.4 निजीकरण के संबंध में कार्यवाहियां (Move towards Privatisation)

घोषित नीति के फलस्वरूप निम्नलिखित के संबंध में कुछ कदम उठाए गए हैं :

1. इस्पात, दूरसंचार और बिजली जैसे मल क्षेत्रों में निजी कंपनी क्षेत्र के प्रवेश की अनुमति

2. सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों (PSUs) को नई बजट सहायता नहीं देना;

3. कुछ चुने हुए सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की ईक्विटी का विनिवेश;

8.5.5 सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की पुन: संरचना (Restructuring of PSUs)

निजीकरण के साथ-साथ आवश्यक है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की पुन: संरचना इस प्रकार की जाए कि ये निजी कंपनी क्षेत्र और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की ओर से बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना कर सकें।

इन उपक्रमों की पुन: संरचना के संदर्भ में निम्नलिखित बातों पर जोर देना होगा :

1. **कंपनी शासन (Corporate Governance)** : इन उपक्रमों में कंपनी शासन प्रथा लानी होगी जिससे इनका संचालन शेयरधारियों (जिनमें अल्पमत शेयरधारी भी शामिल हैं) के हित में हो।

2. **वित्तीय पुन: संरचना (Financial Restructuring)** : वित्तीय पुन: संरचना केवल उन्हीं सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के लिए आवश्यक नहीं है जो घाटे में जा रहे हैं बल्कि उन उपक्रमों के लिए भी आवश्यक हैं जिनमें पूंजी-ढांचा ऋण या ईक्विटी के पक्ष में जाता है।

3. **व्यावसायिक और प्रौद्योगिकीय पुन: संरचना (Business and Technological Restructuring)** : यह निर्धारित करना आवश्यक होता है कि प्रत्येक सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम की मूल सक्षमता क्या है तथा यह भी जानना आवश्यक होता है कि प्रत्येक व्यवसाय का सापेक्ष महत्व क्या है। व्यवसाय की पुन: संरचना के संदर्भ में उन व्यवसायों को बेच देना आवश्यक हो सकता है जिनसे कोई लाभ नहीं हो रहा हो या जिनका भार अन्य लाभदायक उपक्रमों पर पड़ रहा हो। इसके अतिरिक्त प्रतियोगी उपक्रमों की प्रौद्योगिकी स्थिति को बनाए रखने या उसमें सुध

बोध प्रश्न ग

1) निजीकरण का क्या अर्थ होता है ?

.....

.....

.....

.....

2) निजीकरण के पक्ष में कोई दो तर्क दीजिए

.....

.....

.....

.....

3) आपके मतानुसार अर्थव्यवस्था के निजीकरण के क्या लाभ हैं ?

.....

.....

.....

.....

8.6 सारांश

इस इकाई में हमने स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से उद्योग नीति के विकास के संबंध में विचार किया है। यद्यपि इस नीति के संबंध में पहला औपचारिक बयान 1948 में ही दिया गया था। लेकिन एक सुनिर्धारित नीति घोषणा का रूप उद्योग नीति संकल्प (Industrial Policy Resolution) 1956 ने लिया। इस संकल्प का उद्देश्य अर्थव्यवस्था के प्रभावशाली क्षेत्रों (commanding heights of economy) को राज्य के हाथ में देना था। निजी क्षेत्र की भूमिका सहायक रूप में मानी गई। लेकिन नई उद्योग नीति (New Industrial Policy) 1991 के चलते इस संबंध में काफी परिवर्तन आया। इस नीति के अधीन निजी पूंजी और उद्यम को मुख्य भूमिका दी गई तथा सरकार की भूमिका इनके सहायक रूप में मानी गई। इस नीति के अनुसार अर्थव्यवस्था के निजीकरण के लिए लगातार प्रयास किए जा रहे हैं। लेकिन निजीकरण के साथ-साथ आवश्यक है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की पुनः संरचना की जाए। इस पुनः संरचना के फलस्वरूप ये उपक्रम उदारीकरण, निजीकरण और विश्वव्यापीकरण (globalisation) की चुनौतियों का सामना अच्छी तरह से कर सकेंगे।

8.7 शब्दावली

आधारिक संरचना (Infrastructure) : उत्पादन क्षेत्रों के लिए आवश्यक सहायक सेवाओं का ढांचा।

उद्योग नीति (Industrial Policy) : इसके अंतर्गत नीति ढांचे के वे सभी पक्ष आते हैं जो औद्योगिक निवेश और उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहार (Monopolistic Trade Practices) : वे व्यापारिक व्यवहार जिनके फलस्वरूप प्रतियोगिता में रुकावट या विरुपता आती है।

अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (Restrictive Trade Practices) : वे व्यापारिक व्यवहार जिनके फलस्वरूप उपभोक्ताओं पर अनुचित लागतों या प्रतिबंधों का भार पड़ता है।

अनुचित व्यापारिक व्यवहार (Unfair Trade Practices) : वे व्यापारिक व्यवहार जिनके फलस्वरूप उपभोक्ताओं को क्षति या हानि होती है।

उदारीकरण (Liberalisation) : वह नीति जिसके अधीन उद्योगों पर लगाए गए विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों या प्रतिबंधों को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

संरक्षण (Protection) : वह नीति जिसके अंतर्गत टैरिफ रोधों या गैर-टैरिफ रोधों को बढ़ाकर विदेशी प्रतियोगियों के खिलाफ देश के उत्पादकों को संरक्षण दिया जाता है।

वाणिज्य नीति (Commercial Policy) : अपने विदेशी व्यापार और भुगतान के संचालन या उसके विनियमन के लिए किसी देश द्वारा बनाए गए नियम।

8.8 स्व-परख प्रश्न

1. भारत की उद्योग नीति के विकास के संबंध में बताइए।
2. उद्योग नीति क्या है ? उद्योग नीति संकल्प (IPR) 1956 की मुख्य विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
3. 'नई उद्योग नीति' पहले की उद्योग नीतियों से बिल्कुल ही भिन्न कदम है।' इस कथन के संबंध में टिप्पणी कीजिए।
4. निजीकरण से आप क्या समझते हैं ? निजीकरण की दृष्टि से बदलती हुई प्रवृत्तियों का विश्लेषण कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए, किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 9 औद्योगिक रूग्णता (Industrial Sickness)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 औद्योगिक रूग्णता का स्वरूप
9.3 रूग्णता का संकेत
  9.3.1 रूग्णता के वित्तीय संकेतकों की सीमाएं
  9.3.2 अग्रिम चेतावनी के आधार पर रूग्णता की पूर्वसूचनीयता
  9.3.3 अग्रिम चेतावनी के संकेतों के रूप में वित्तीय अनुपातों का उपयोग
9.4 रूग्णता के कारण
9.5 सरकारी नीति
  9.5.1 प्रबंध का अधिग्रहण और राष्ट्रीयकरण
  9.5.2 संस्थागत ऐजेंसियों का आश्रय
  9.5.3 नीति निर्देश और ढांचा
9.6 रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985
9.7 औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) की भूमिका
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
9.11 स्व-परख प्रश्न

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- औद्योगिक रूग्णता के स्वरूप का वर्णन कर सकें
- बता सकें कि औद्योगिक इकाइयों में रूग्णता के संकेतक क्या होते हैं
- रूग्णता के कारणों का पता लगा सकें
- भारत में औद्योगिक रूग्णता के संबंध में सरकारी नीति के स्वरूप को स्पष्ट कर सकें
- औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) की भूमिका बता सकें
- रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985 के प्रावधानों के संबंध में बता सकें।

9.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली इकाई में आप भारत में उद्योग नीति के विकास तथा 1991 में अपनाई गई सुधारवादी नीतियों के संबंध में पढ़ चुके हैं। आप ने यह भी पढ़ा कि सरकार किस प्रकार से सार्वजनिक क्षेत्रों में सुधार ला रही है तथा सार्वजनिक उद्यमों का विनिवेश कर रही है। पिछले दो दशकों से अनेक औद्योगिक इकाइयां रूग्ण होती जा रही हैं और इस प्रकार औद्योगिक रूग्णता की समस्या गंभीर होती जा रही है। इस इकाई में आपको औद्योगिक रूग्णता के स्वरूप और उनके कारणों के संबंध में बताया जाएगा। इसमें यह भी बताया जाएगा कि इन समस्याओं के समाधान के लिए क्या उपाय किए जा सकते हैं।

15

9.2 औद्योगिक रूग्णता का स्वरूप (Nature of Industrial Sickness)

किसी औद्योगिक इकाई के संबंध में 'रूग्णता' शब्द से आशय होता है कि उस इकाई में कार्य सही ढंग से नहीं हो पा रहा है। किसी उद्योग की इकाई को जब रूग्ण कहा जाता है तब उसका अर्थ होता है कि उस इकाई में सब कुछ ठीक-ठाक नहीं है, उसमें उत्पादन संतोषजनक ढंग से नहीं हो रहा है और वह कभी भी बंद हो सकती है। इस संबंध में यदि समुचित उपाय नहीं किए गए तो उसे चलाते रहना कठिन होगा।

इस प्रकार औद्योगिक रूग्णता अस्वाभाविक घटना है। उद्योग इकाईयों के दिन-प्रतिदिन के संचालन के दौरान उनमें रूग्णता के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं और उन्हें ठीक कर दिया जाता है। लेकिन इन लक्षणों की यदि उपेक्षा कर दी जाती है तब रूग्णता फैल जाती है, सभी कार्य बंद हो जाते हैं तथा वह इकाई दिवालिया हो जाती है और उसके फलस्वरूप उसे बंद करना पड़ता है। लेकिन यदि रूग्णता का प्रभाव बहुत अधिक होता है तो उसके परिणाम अत्यंत गंभीर हो सकते हैं।

औद्योगिक रूग्णता के स्वरूप को समझने के संबंध में यह मानना होगा कि रूग्णता का पता उन लक्षणों और संकेतकों के आधार पर ही लगाया जा सकता है जिन्हें जानना और उनका माप करना सदा ही संभव नहीं हो पाता। इन लक्षणों की सही ढंग से व्याख्या करना भी सदा संभव नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त पूर्णत: स्वस्थ और बिल्कुल ही रूग्ण इकाइयों के बीच स्पष्ट रूप से अंतर बनता भी सरल नहीं होता। रूग्णता की गंभीरता भी अलग-अलग प्रकार की होती है। रूग्णता साधारण प्रकार की हो सकती है या बहुत ही गंभीर हो सकती है। अंतत: ध्यान देने की बात यह है कि कोई उद्यम अचानक ही रूग्ण नहीं हो जाता। ऐसा होने में काफी समय लगता है।

उपर्युक्त को नजर में रखते हुए उन लक्षणों के बीच अंतर करना उचित होगा जो पूर्वसूचना के रूप में होते हैं और जो वास्तविक रूग्णता के संकेतक होते हैं। जब किसी उद्यम के स्वास्थ्य में खतरे के संकेत दिखाई पड़ते हैं तब उसे प्रारंभिक रूग्णता **(incipient sickness)** कहा जा सकता है, जिसका अर्थ होता है कि संबंधित इकाई को इस संकेत को वास्तविक रूग्णता की पूर्व सूचना मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि प्रारंभिक रूग्णता को ज्ञात करने की कसौटी या संकेतक वास्तविक रूग्णता की कसौटी या संकेतक से भिन्न होगा।

भारतीय रिजर्व बैंक से प्राप्त सूचना के अनुसार 1997 के प्रारंभ तक भारत में 2,70,000 से अधिक रूग्ण उद्योग इकाइयां थी। इस संख्या में से छोटे पैमाने की इकाइयों की संख्या 99 प्रतिशत से अधिक थी। लेकिन रूग्ण उद्योग इकाइयों का कुल बकाया बैंक क्रेडिट में से छोटे पैमाने की इकाइयों का भाग लगभग 25 प्रतिशत ही था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कुले रूग्ण इकाइयों में से बड़े और मध्यम पैमाने की रूग्ण इकाइयों की संख्या केवल 1 प्रतिशत ही थी लेकिन रूग्ण इकाइयों को कुल बकाया बैंक क्रेडिट में उनका भाग 75 प्रतिशत था। इस प्रकार हम देखते हैं कि छोटे पैमाने के क्षेत्रक में औद्योगिक रूग्णता बहुत अधिक थी। छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाइयों की स्थिति में रूग्णता के संकेतकों में परिवर्तन होता रहता है। नीचे हम इन संकेतकों के संबंध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

9.3 रूग्णता का संकेत (Indication of Sickness)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, कोई औद्योगिक इकाई रूग्ण है या नहीं यह लक्षणों (symptoms) संकेतकों (indicators) या चेतावनी के संकेतों (warning signals) से जाना जा सकता है। रूग्णता को ज्ञात करने के लिए सामान्य रूप में दो या उससे अधिक संकेतकों का सहारा लिया जाता है। व्यापक रूप में वित्तीय संकेतकों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि किसी फर्म के वित्तीय परिणामों में संचालन संबंधी त्रुटियां स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं।

ये संकेतक निम्नलिखित हैं :

- लाभप्रदता, अर्जन और आय की हानि
- रोकड़ हानि
- गिरता हुआ चालू अनुपात (चालू परिसंपत्तियों और चालू देयताओं का अनुपात)
- ऋण किश्तों के भुगतान में चूक
- बिगड़ता हुआ ऋण-ईक्विटी अनुपात (दीर्घकालीन ऋणों और स्वामी के फंड का अनुपात)
- कम होती हुई निवल संपत्ति (स्वामी की पूंजी और मुक्त रिजर्व का योग)
- गिरती हुई डिविडेंड दर और डिविडेंड का भुगतान छोड़-छोड़ कर करना।

इन संकेतकों के उपयोग के संबंध में अब हम विचार करेंगे। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई परिभाषा के अनुसार किसी औद्योगिक इकाई को निम्नलिखित स्थितियों में रूग्ण माना जाता है : i) एक वर्ष तक उसमें रोकड़ हानि हो रही हो, ii) चालू वर्ष तथा अगले वर्ष में भी हानि होते रहने की संभावना हो iii) 1:1 से कम चालू अनुपात हो तथा ऋण ईक्विटी अनुपात और भी बिगड़ रहा हो। यहां रोकड़ हानि पर जोर दिया जाता है तथा अन्य वित्तीय अनुपातों से जांच करने में सहायता मिलती है।

इसके अतिरिक्त रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985 (1993 में संशोधित) के अधीन किसी औद्योगिक कंपनी को तभी रूग्ण माना जाता है यदि वह कम से कम पांच वर्षों से चल रही हो तथा किसी वित्तीय वर्ष के अंत में उसकी संचित हानि समस्त निवल संपत्ति के बराबर या उससे अधिक हो। प्रारंभिक अवस्था में ही उपचार के उपाय करने के लिए 'कमजोर' इकाइयों या संभावित रूग्ण इकाइयों की पहचान के लिए संकेतक निर्धारित किए गए हैं। इसके अनुसार उन इकाइयों को कमजोर या रूग्ण माना जाता है जिनके संबंध में किसी लेखा वर्ष के अंत में संचित हानि तुरंत पिछले चार वर्षों के अत्यधिक निचल संपत्ति के बराबर या उसके 50 प्रतिशत से अधिक हो। किसी छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाई के रूग्ण होने का भी यही संकेतक माना जाता है। जिन स्थितियों में वित्त सरलतापूर्वक उपलब्ध नहीं होते वहां ऋण पर ब्याज या किश्त के भुगतान के संबंध में लगातार एक वर्ष तक चूक करने को तथा बैंकों के साथ साख-सीमा को रखने में लगातार अनियमितता करने को रूग्णता का सूचक माना जाता है।

छोटे पैमाने की औद्यागिक इकाइयों के संबंध में **प्रारंभिक रूग्णता (incipient sickness)** की स्थिति वह होती है जब पिछले वर्षों में सर्वाधिक क्षमता उपयोग के 50% प्रतिशत से भी कम का उपयोग वह कर रही हो। अन्य संकेतक हैं आय-हानि, लघुकालीन तरलता की समस्या आदि। **वास्तविक रूग्णता (actual sickness)** के संकेतक हैं निवल संपत्ति (net worth) का 50% से या उससे भी अधिक कम हो जाना, ऋण की किश्त के भुगतान में चूक करना या पिछले वर्ष में छै महीनों या उससे अधिक समय तक उस इकाई का बंद रहना।

किसी औद्योगिक इकाई को प्रारंभिक रूग्णता की स्थिति में तब माना जाता है यदि वह डिविडेन्ड भुगतान को घटा रही हो या डिविडेन्ड का भुगतान छोड़-छोड़ कर रही हो और यही स्थिति बने रहने की संभावना हो। शेयर बाजार में कंपनी के शेयर कीमतों में परिवर्तन सहायक संकेतक हो सकते हैं। इसके फलस्वरूप ऋण-किश्तों के भुगतान में चूक होना आम बात हो जाती है। इसीलिए ऋण देने वाली संस्थाएं संस्थागत देय रकमों का भुगतान करने में असमर्थता को प्रारंभिक रूग्णता का संकेतक मानने लगती हैं। वित्तीय संस्थाएं किसी इकाई को उस स्थिति में रूग्ण मानती है जब वह लगातार दो वर्षों तक घाटे में रही हो तथा आधुनिकतम बैलेंस शीट के अनुसार उसकी संचित हानि (accumulated losses) प्रदत्त पूंजी (paid-up capital) और रिजर्व के 50% से अधिक हो।

9.3.1 रूग्णता के वित्तीय संकेतकों की सीमाएं (Limitations of Financial Indicators of Sickness)

कुछ विश्लेषकों की मान्यता है कि रूग्णता के वित्तीय लक्षणों में दो मुख्य त्रुटियां हैं। **प्रथम**, जनता को कंपनियों के संबंध में वित्तीय सूचना वार्षिक रिपोर्टों में मिलती है जो न तो पर्याप्त होती है और न ही विश्वसनीय होती है क्योंकि लेखा सिद्धांतों और मापदंडों को अपनाने के संबंध में मनमानी करने की काफी गुंजाइश होती है। **द्वितीय**, वित्तीय संकेतक रूग्णता के संबंध में सूचना तब देते हैं जब औद्योगिक इकाई रूग्ण हो चुकी होती है। अत: ये संकेतक प्रारंभिक रूग्णता की सूचना देने में समर्थ नहीं होते। इस स्थिति में रूग्णता की अग्रिम चेतावनी को जानने के लिए प्रबंध की कमियों और गैर-वित्तीय कारकों को ज्ञात करने की आवश्यकता है।

9.3.2 अग्रिम चेतावनी के आधार पर रूग्णता की पूर्वसूचनीयता (Predictability of Sickness Based on Early Warning)

प्रारंभिक चेतावनी के संकेतों और प्रारंभिक रूग्णता के महत्व पर जोर देने के प्रयास के फलस्वरूप औद्योगिक रूग्णता की पूर्वसूचनीयता की ओर ध्यान दिया जाने लगा है। यह स्पष्ट है कि रूग्णता के संबंध में यदि पहले से बताया जा सके तो वास्तविक रूग्णता की स्थिति बहुत ही कम हो जाए। अब हम प्रबंध के प्रकार और संबद्ध गैर-वित्तीय कारकों के विशेष संदर्भ में इस प्रश्न के संबंध में विचार करेंगे।

यू.एस.ए. और यू.के. में कंपनियों की असफलताओं का अध्ययन करने वाले कुछ लेखकों के अनुसार प्रबंध की प्रमुख त्रुटियां निम्नलिखित थीं : i) मुख्य कार्यपालक की स्वेच्छाचारी कार्य शैली ii) विनम्र निदेशक मंडल, iii) बोर्ड स्तर पर कमजोर वित्त कार्य, iv) असंतुलित बोर्ड, v) बोर्ड स्तर के नीचे घटिया किस्म का प्रबंध, vi) नियंत्रण का अभाव, और vii) पर्यावरणी परिवर्तनों के प्रति प्रबंध द्वारा कार्यवाही में कमी। इस विश्लेषण के फलस्वरूप कुछ त्रुटियां की ओर निर्देश दिया गया है जिनके कारण कंपनियां रूग्ण हो जाती है। कुछ ऐसी गलतियों के संबंध में भी बताया गया है जिन्हें कोई प्रबंध कर सकता है।

तीन प्रकार की त्रुटियों की पहचान की गई है : क) प्रबंध की त्रुटियां (स्वेच्छाचारी कार्यशैली autocratic style निष्क्रिय बोर्ड, कमजोर वित्त निदेशक, (ख) लेखा प्रणाली की त्रुटियां (बजट नियंत्रण रोकड़ प्रवाह योजना और लागत-निर्धारण की दोषपूर्ण प्रणाली) और परिवर्तनों के प्रति दोषपूर्ण प्रत्युतर (जैसे कि प्रौद्योगिकीय परिवर्तन और बाजार स्थिति आदि में परिवर्तन) की जा सकने वाली गलतियों को भी तीन श्रेणियों में बांटा गया है। ये हैं - क) कार्यशैली पूंजी की उपलब्धता को सुनिश्चित किए बिना ही कार्य को बढ़ाना; ख) ऋण-ईक्विटी अनुपात को बहुत ऊँचा करना, और ग) बहुत बड़े उपक्रम को हाथ में लेना, जिसकी असफलता के फलस्वरूप सुस्थापित व्यवसाय प्रभावित हो सकता है।

सुझाव है कि प्रत्येक प्रकार की त्रुटियों और गलतियों के लिए प्वांइट निर्धारित किया जाए। त्रुटियों के लिए 43% भार, गलतियों के लिए 45% भार और अन्य लक्षणों के लिए 12% भार। यदि किसी कंपनी के लिए भारित औसत का परिकलन किया जाता है तब बहुत पहले ही उसे कंपनी की संभावित विफलता का संकेतक या पूर्व चेतावनी माना जा सकता है। विश्लेषकों की मान्यता है कि विफलता के अन्य लक्षणों के सामने आने के पहले प्रबंध की त्रुटियां पांच वर्षों तक जारी रह सकती है।

उपुर्यक्त विधि तर्कपूर्ण लगती है क्योंकि कंपनी का कार्य निष्पादन मुख्यत: प्रबंध की गुणवत्ता का कार्य होता है। लेकिन इसमें व्यावहारिक कठिनाइयां हैं। प्रबंध की गुणवत्ता के मूल्यांकन या प्रबंध की त्रुटियों की पहचान के लिए आवश्यक होता है कि आवश्यक सूचना तक पहुंच हो तथा प्रबंधकों के कार्य को समीप से देखने का अवसर प्राप्त हो। ऐसा अवसर कंपनी के अन्दर के व्यक्तियों को ही मिल सकता है। साधारण शेयरधारियों, लेनदारों और निवेशकों को यह विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हो सकता है।

इसके विपरीत प्रभावशाली मत (impressionistic view) को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। अत: व्यावहारिक दृष्टि से वित्तीय संकेतकों को अधिक उपयोगी माना जाता है।

9.3.3 अग्रिम चेतावनी के संकेतों के रूप में वित्तीय अनुपातों का उपयोग (Use of Financial Ratios as Early Warning Signals)

आनुभविक आंकड़ों पर प्रयुक्त होने वाली सांख्यिकीय तकनीकों के आधार पर पश्चिम के कुछ विश्लेषकों ने वित्तीय अनुपातों के एक सेट की पहचान की है जिनका कंपनियों की विफलता का पूर्वानुमान लगाने में बहुत महत्व है। ये निम्नलिखित हैं : i) कुल परिसंपत्तियों और कार्यशील पूंजी का अनुपात: ii) कुल परिसंपत्तियों और प्रतिधारित अर्जन (retained earnings) का अनुपात; iii) कुल संपत्तियों और ब्याज एवं कर के पूर्व के अर्जन का अनुपात:, iv) कुल ऋण के पुस्तक मूल्य और ईक्विटी के बाजार मूल्य का अनुपात तथा v) कुल परिसंपत्तियों और विक्रय का अनुपात।

भारत के संदर्भ में आनुभविक परीक्षणों से पता चलता है कि निम्नलिखित दो लाभप्रदता अनुपातों का पूर्वसूचनीयता के रूप में अत्यंत महत्व है : i) मूल्यह्रास, ब्याज और करों के पूर्व के अर्जन और विक्रय का अनुपात; और 2) विक्रय और प्रचालन रोकड़ प्रवाह का अनुपात। दो अन्य अनुपात इनसे कम महत्व के पाए गए हैं। ये हैं i) कुल परिसंपत्तियां जोड़ संचित मूल्यह्रास और मूल्यह्रास ब्याज और करों के पूर्व के अर्जन का अनुपात। इनके अतिरिक्त कुल ऋण और निवल संपत्ति के अनुपात और मूर्त परिसंपत्तियों और कुल बाहरी देयताओं के अनुपात (जिसे शोधन-क्षमता अनुपात (solvency ratio) कहा जाता है) को भी पूर्वसूचना का संकेत माना जाता है।

छोटे पैमाने की इकाइयों के संबंध में निम्नलिखित पांच अनुपातों को प्रारंभिक रूग्णता का विश्वसनीय सूचक माना जाता है : i) चालू देयताओं और चालू परिसंपत्तियों का अनुपात, ii) बेचे गए माल की लागत और स्टॉक का अनुपात, iii) निवल विक्रय और चालू परिसंपत्तियों का अनुपात, iv) लगाई गई कुल पूंजी और करों के पूर्व के निवल लाभ का अनुपात तथा, v) कुल बाहरी देयताओं और निवल संपत्ति का अनुपात।

बोध प्रश्न क

1) निम्नलिखित कथनों में से कौन से सही हैं और कौन से गलत हैं ?

   क) औद्योगिक इकाइयों की वास्तविक रूग्णता की पहचान करने की तुलना में रूग्णता की पूर्व चेतावनी को जानना अच्छा माना जाता है।

   ख) यदि औद्योगिक रूग्णता का प्रभाव बहुत अधिक है तो सभी इकाइयों के लिए इसका लक्षण एक जैसा होगा।

   ग) प्रारंभिक रूग्णता की पहचान के लिए सभी वित्तीय संकेतक उपयुक्त नहीं होते।

   ङ) शेयर बाजार में यदि शेयरों की कीमतें गिर रही हैं तो यह कंपनी के रूग्ण होने का पहला संकेत होता है।

   च) केवल कंपनी के प्रबंध की गुणवत्ता के मूल्यांकन द्वारा ही रूग्णता के संबंध में पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

2) खाली स्थानों को भरें :

   i) किसी औद्योगिक इकाई की प्रारंभिक रूग्णता और वास्तविक रूग्णता में..... होता है।

   ii) रूग्ण इकाइयों को..... को करने के लिए पूर्व चेतावनी के संकेत उपयोगी होते हैं।

   iii) वित्तीय संस्थाएं किसी औद्योगिक इकाई को उस स्थिति में रूग्ण मानती हैं जब उनकी संचित हानि..... के 50% से अधिक हो जाती है।

iv) .....अनुपात के रूग्णता का सबसे प्रमुख पूर्वसूचक माना जाता है।

v) व्यावहारिक दृष्टि से..... संकेतकों को रूग्णता के पूर्व अनुमान के लिए अधिक उपयोगी माना जाता है।

vi) कंपनी के असफल होने का कारण जिन तीन प्रबंध की त्रुटियों को माना जाता है वे हैं .... और.....

9.4 रूग्णता के कारण

आमतौर पर माना जाता है कि उद्योगों के रूग्ण होने के एक ही नहीं बल्कि अनेक कारण होते हैं। कहा जा सकता है कि कुछ मूल कारण समयोपरांत कारणों की एक श्रृंखला को लाते हैं, जिनके फलस्वरूप अधिक आसन्न कारण (proximate causes) और अंतिम कारण (terminal causes) होते हैं। अत: मूल कारण अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। यदि प्रारंभ के कारणों को लिया जाय तो रूग्णता को रोका जा सकता है या उनका सही रूप से इलाज किया जा सकता है।

औद्योगिक रूग्णता के बाहरी कारण होते हैं तथा आंतरिक कारण भी होते हैं। कोई एक विशेष इकाई बाहरी कारणों से अधिक प्रभावित होती है, हालांकि उसी श्रेणी की अन्य इकाइयों पर भी उनका कुछ प्रभाव पड़ता है। ये बाहरी कारणं निम्नलिखित हैं। प्रतियोगिता, तीव्रता, प्रतिकूल बाजार-स्थिति, सुस्ती की प्रवृत्ति की सरकारी नीति में परिवर्तन, कच्चे माल की दुर्लभता, उत्पादन की बढ़ती हुई लागत आदि। रूग्णता के आंतरिक कारणों में से कुछ ये हैं- सामान्य प्रबंध की त्रुटियां या उत्पादन विपणन, वित्त आदि प्रबंध के क्षेत्रों की त्रुटियां।

बाहरी तथा आंतरिक कारणों में अंतर करना आवश्यक नहीं समझा जाता क्योंकि इससे कारण के विश्लेषण करने में अर्थात् उपचार करने में कोई सहायता नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त ऐसा करने से प्रबंधक वर्ग यह बहाना करके अपनी जिम्मेदारी से बचना चाहेगा कि बाहरी कारणों पर उसका नियंत्रण नहीं है। इस संबंध में एक विश्लेषक का यों कथन है- "यह मान कर चलना कि तथाकथित बाहरी कारण सदा ही प्रबंध के नियंत्रण के बाहर होते हैं, प्रबंध द्वारा अपनी इस जिम्मेदारी की अपेक्षा करना है कि उसे खतरे का पूर्वानुमान करना हैं। चाहिए, पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों को जानना चाहिए तथा व्यवसाय चक्र में होने वाले सामान्य उतार-चढ़ावों के लिए तैयार रहना चाहिए।"

इसी के समान एक दूसरा कथन यों है- "किसी कंपनी का फेल हो जाना किसी जहाज के डूब जाने के समान होता है। यदि जहाज अच्छी स्थिति में है और उसका कप्तान सक्षम है तो किसी एक लहर या अनेक लहरों की चपेट में आकर वह डूब नहीं सकती। यदि कोई तूफान आने वाला है तो सक्षम कप्तान उसके संबंध में मौसम-पूर्वानुमान को सुनकर समुचित कार्य करेगा। जहाज तो किसी असाधारण रूप से आने वाले तूफान के कारण ही डूबेगा जिसके संबंध में पहले से कोई सूचना न दी गई हो।"

कारणों का स्वरूप एक विहंगावलोकन

विश्लेषण के रूप में औद्योगिक रूग्णता का निदान ह्रास और विफलता की अवस्थाओं को नजर में रखकर किया जा सकता है। इस प्रकार किसी उद्योग इकाई की शुरूआत से ही उसमें कोई दोष हो सकता है जिसके कारण रूग्णता हो सकती है या रूग्णता का कारण **प्रबंधकीय अप्रभाविता** (managerial in effectiveness) या बाहरी कारण (exogenous factors) हो सकते हैं जो समग्र उद्योग के लिए होते हैं।

कभी-कभी किसी उद्योग की प्रायोजना या इकाई की शुरूआत से ही कुछ ऐसे कारक होते हैं जिनमें कोई समस्या उत्पन्न हो जाती है और उसमें रूग्णता आ जाती है। ऐसी इकाईयों को जन्मजात रूग्ण कहा जाता है। एक या अनेक इस प्रकार इन स्थितियों में रूग्णता निम्नलिखित में से किन्हीं कारण होती है :

क) प्रायोजना का गलत चयन और दोषपूर्ण प्रायोजना की योजना प्राय: औद्योगिक रूग्णता के मुख्य कारण होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि प्रवर्तकों को अनुभव नहीं होता या वे अत्यधिक आशावादी होते हैं।

ख) दोषपूर्ण वित्तीय योजना का एक अन्य कारण है जिससे संचालन अवस्था में समस्याएं उत्पन्न होती हैं। रोकड़ प्रवाह और कोष प्रवाह के साथ अवपूंजीकरण (under capitalization) आकस्मिकताओं के लिए अप्रर्याप्त प्रावधान, कर्मचारियों के निवास की व्यवस्था पर भारी निवेश आदि के कारण तरलता की समस्या उत्पन्न होती है तथा इकाई के सामान्य प्रचालन में रुकावट आती है।

ग) बड़ी प्रायोजनाओं की स्थिति में निर्माण कार्य में कभी-कभी विलंब हो जाता है जिससे अधिक समय लगता है और लागतों में वृद्धि हो जाती है। इससे केवल निर्माण लागत ही नहीं बढ़ती बल्कि प्रायोजना को शुरू करने में भी विलंब होता है तथा उत्पादन लागत बढ़ती है जिससे पूंजी में कमी होती है और तरलता की समस्या उत्पन्न होती है।

ङ) कभी-कभी गलत स्थान पर इकाई के होने के कारण समस्याएं उत्पन्न होती हैं। यह इकाई ऐसे क्षेत्र में होती हैं जहां बिजली, जल, परिवहन, संचार आदि आधारिक संरचनाओं की पर्याप्त सुविधाएं नहीं होती है।

च) यदि प्रौद्योगिकी का चयन सही ढंग से नहीं किया गया तो कुशलता पूर्वक उत्पादन नहीं होगा और उसके फलस्वरूप उत्पादन लागत बढ़ेगी। इस प्रकार के प्रतियोगी अलाभ के कारण इकाई को हानि होगी। इसके अतिरिक्त प्रायोजना के कार्यान्वयन काल में ही यदि प्रौद्योगिकी पुरानी सिद्ध होती है तो इकाई का कार्य आगे नहीं बढ़ पाएगा।

छ) किसी फर्म को उत्पादन की संभावी मांग के संबंध में यदि अधिप्राक्कलन किया जाता है, या यदि उत्पाद बाजार में वर्तमान प्रतियोगिता की तीव्रता के संबंध में गलत अनुमान लगाया जाता है या यदि प्रतियोगिता, उपभोक्ताओं की रुचि या उनके पसंद में हो सकने वाले परिवर्तनों के संबंध में सही अनुमान नहीं लगाया गया है तो समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं।

प्रबंधकीय अप्रभाविता (managerial ineffectiveness) के कारण उस स्थिति में भी रूग्णता आ सकती है जबकि उद्योग की इकाई की योजना अच्छी तरह से बनाई गई हो और उसकी स्थापना सही ढंग से की गई हो। अप्रभावी प्रबंध के कारण निम्नलिखित हैं : क) अधिकारियों की पेशेवर सक्षमता में कमी, ख) प्रबंधकों में निष्ठा की कमी जिससे प्रबंध कार्य सही ढंग से नहीं हो पात; ग) पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों को अपने अनुकूल न बना पाना तथा मशीनरी के आधुनिकीकरण, उत्पाद नवीयन और उत्पाद मिश्रण में परिवर्तन की आवश्यकताओं के प्रति सजग न हो पाना; ङ) सामरिक महत्व के निर्माण लेने के संबंध में कौशल और सक्षमता की कमी जिसके फलस्वरूप सन्निहित खतरों और उपलब्ध संसाधनों के संबंध में उचित रूप से ध्यान दिए बिना ही व्यवसाय का विविधीकरण और उसका प्रसार कर दिया जाता है : च) श्रम और प्रबंध के बीच संघर्ष को निपटाने में असमर्थता जिसके फलस्वरूप उत्पादन क्षमता घटती है; तथा ध) उत्पादन विपणन और वित्त जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में प्रबंध की अक्षमता।

बाहरी कारण (exogenous factors) उद्योग की सभी इकाइयों को प्रभावित कर सकते हैं परन्तु प्रबंध की दूरदर्शिता किसी विशेष फर्म की समस्याओं के समाधान में बहुत कुछ सहायक हो सकती है। उदाहरणार्थ, औद्योगिक सुस्ती (industrial recession) समय-समय पर होती रहती है। लेकिन इसका दुष्प्रभाव सभी फर्मों पर एक सा नहीं पड़ता। जिस फर्म के प्रबंधक सक्षम होते हैं उस पर इसका अल्पकालीन प्रभाव होता है लेकिन कुछ अन्य फर्मों बिल्कुल ही चौपट हो जाती हैं। फिर भी कुछ घटनाओं के संबंध में पहले से अंदाज नहीं लगाया जा सकता। अत: ये प्रबंध के नियंत्रण के बाहर होती हैं। ऐसे बाहरी कारणों से निम्नलिखित प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होती हैं : क) सरकार की मुद्रा

नीति में परिवर्तन के फलस्वरूप क्रेडिट अधिसंकुचन (credit squeeze); ख) पूर्ति के प्रमुख साधनों में गड़बड़ी होने से आयात प्रतिबंध के कारण या प्राकृतिक आपदाओं से फसलों के चौपट हो जाने के फलस्वरूप आवश्यक कच्चे माल की कमी, ग) अर्थव्यवस्था में बिजली, कोयला, ईंधन, तेल आदि की पूर्ति में गड़बड़ी; तथा ङ) परिवहन तथा अन्य सुविधाओं में बाहरी कारणों से व्यवधान।

बोध प्रश्न ख

1) खाली स्थानों को भरें

   i) अनुभव से पाया गया है कि औद्योगिक रूग्णता का मुख्य कारण ..... होता है।

   ii) औद्योगिक रूग्णता के..... कारणों में से एक कारण है महत्वपूर्ण आगतों की दुर्लभता।

   iii) यह मानकर चलना कि रूग्णता के बाहरी कारण प्रबंध के नियंत्रण के बाहर होते हैं; प्रबंध की..... उपेक्षा करना होता है।

   iv) दोषपूर्ण प्रायोजना-योजना प्रवर्तकों के..... या उनकी..... के कारण हो सकती हैं

   v) किसी प्रायोजन के निर्माण की अवस्था में विलंब होने से अधिक..... और..... लगता है।

   vi) संभाव्य मांग के संबंध में यदि..... किया जाता है तब फर्म को समस्याओं का सामना करना होता है।

2) निम्नलिखित कथनों में से कौन से सही हैं और कौन से गलत हैं ?

   i) औद्योगिक रूग्णता को रोकने या उनका प्रभावी इलाज ढूंढने के लिए रूग्णता के मूल कारणों को ज्ञात करना ही पर्याप्त नहीं है।

   ii) उत्पादन-लागतों में वृद्धि सदा ही दोषपूर्ण वित्तीय योजना के फलस्वरूप होती है।

   iii) पर्यावरणीय परिवर्तनों के प्रति सजग न रहना अप्रभावी प्रबंध का परिचायक होता है।

   iv) यदि प्रौद्योगिकी का चयन समुचित रूप से नहीं किया गया है तो फर्म को प्रतियोगी अलाभ हो सकता है।

   v) यदि किसी उद्योग की इकाई की सही ढंग से योजना बनाई गई है तथा उसकी स्थापना सही ढंग से की गई है तो वह कभी भी रूग्ण नहीं हो सकती।

9.5 सरकारी नीति

औद्योगिक रूग्णता की समस्या से निपटने के संबंध में सरकार की नीति का लक्ष्य रहा है रूग्ण इकाइयों को पुन: जीवित करना, उनका पुनर्निर्माण करना तथा उनका पुन: स्थापन करना। इस संदर्भ में अनेक उपाय किए गए हैं तथा यह कहा जा सकता है कि इस प्रक्रिया में 1980 के दशक में एक नीति ढांचा उभर कर आया है। समय-समय पर सरकार द्वारा अपनाए गए उपायों के आधार पर सरकारी नीति के विकास में तीन परस्पर संबद्ध विधियां दिखाई पड़ती हैं।

i) प्रबंध का अधिग्रहण और राष्ट्रीयकरण

ii) संस्थागत एजेन्सियों का आश्रय

iii) प्रशासी मंत्रालयों के लिए नीति-निर्देश और ढांचा

ये नीतियां एक दूसरे से संबंधित तो है फिर भी इनके संबंध में अलग-अलग करके विचार किया जा रहा है।

9.5.1 प्रबंध का अधिग्रहण और राष्ट्रीयकरण (Takeover Management and Nationalisation)

1960 के दशक में कपड़ा मिलों के रूग्ण होने की घटनाओं का बढ़ जाने के फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम 1951 के अंतर्गत इन मिलों का अधिग्रहण करने का निर्णय लिया। सरकार के कब्जे में ली गई मिलों के प्रबंध के लिए अप्रैल 1968 में राष्ट्रीय वस्त्र निगम (NTC) का निगमन किया गया। इस निगम ने विभिन्न राज्यों में 9 नियंत्रित निगमों की स्थापना की जिनके द्वारा विकेन्द्रित संगठन की सहायता से इन मिलों का प्रभावी ढंग से प्रबंध किया जा सके। इनमें से अधिकतर रूग्ण मिलों के आधुनिकीकरण और अंशत: मशीनीकरण की आवश्यकता थी और ये ही कार्य NTC तथा उनके नियंत्रित निगमों के प्रमुख दायित्व रहे हैं।

कपड़ा मिलों की पुन: संरचना के लिए सरकार ने 1985 में एक विस्तृत कपड़ा नीति बनाई। इस नीति में कहा गया था कि रूग्णता के कारणों के वस्तुपरक अध्ययन के आधार पर संभाव्य सक्षम इकाइयों की पहचान की जाए। ऐसी इकाइयों के लिए एक नोडल एजेन्सी बनाना था जो पुन: स्थापन और वित्तीय कार्यों को कर सके। इस नीति के अनुसार सरकार ने भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI) को नोडल एजेन्सी के रूप में नियुक्त किया तथा अगस्त 1986 में वस्त्र आधुनिकीकरण फंड स्थापित किया। इस फंड का प्रयोजन स्वस्थ इकाइयों एवं संभाव्य सक्षम रूग्ण इकाइयों को सहायता देना था। इसी कार्य के लिए सरकार ने नवम्बर 1986 में एक जूट आधुनिकीकरण फंड की भी स्थापना की। भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFCI) को फंड के प्रशासन के लिए नोडल एजेन्सी नियुक्त किया गया।

9.5.2 संस्थागत ऐजन्सियों का आश्रय (Recourse to Institutional Agencies)

1960 के दशक के अंतिम वर्षों तक कपड़ा और पटसन के अतिरिक्त अन्य अनेक क्षेत्रकों में औद्योगिक रूग्णता ने गंभीर रूप धारण कर लिया था। रूग्ण इकाइयों को पुनर्जीवित और पुन: स्थापन के लिए सरकार ने एक विशेषज्ञ संस्था स्थापित करने का निर्णय लिया। इसके अनुसार अप्रैल 1971 में **भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण निगम (IRCI)** की स्थापना की गई। इस निगम को निम्नलिखित कार्य करने के अधिकार दिए गए : क) रूग्ण औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता देना, ख) ऐसी इकाइयों को प्रबंधकीय और तकनीकी सहायता देना, ग) औद्योगिक इकाइयों को पुनर्जीवन और पुन: स्थापन के लिए अन्य वित्तीय संस्थाओं और सरकारी एजेन्सियों की सहायता देना, घ) समामेलन ङ) विलयन आदि के लिए मर्चेंट बैंकिंग सेवाएं प्रदान करना, तथा च) रूग्ण औद्योगिक इकाइयों के संबंध में बैंकों को परामर्श सेवाएं प्रदान करना।

अगले दशक में मार्च 1984 तक, RCI ने 242 रूग्ण इकाइयों को 266 करोड़ रुपया वित्तीय सहायता दी। इसने परामर्श सेवाओं, मर्चेंट बैंकिंग और उपकरणों को पट्टा पर देने के कार्यों का भी विकास किया, जो इसके मुख्य कार्य के प्रासंगिक और सहायक हैं। इसके अतिरिक्त इसने राज्य स्तर की वित्तीय संस्थाओं को छोटे पैमाने की इकाइयों को पुन: स्थापनाएं के लिए साख सुविधाएं भी दिए। लेकिन 1980 के दशक के मध्य तक स्पष्ट हो गया कि IRCI के वित्तीय जनशक्ति साधन औद्योगिक रूग्णता की बढ़ती हुई गंभीरता से निपटने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसीलिए सरकार ने IRCI की पुन: संरचना करने का निर्णय लिया। मार्च 1985 में IRCI को सांविधिक निगम का रूप दे दिया गया और इस परिवर्तित रूप का नाम **भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण बैंक (IRBI)** हो गया।

रूग्ण औद्योगिक इकाइयों को पुन: जीवित करने के कार्य में प्रमुख साख और पुनर्निर्माण एजेन्सी का काम करने के लिए तथा इसी कार्य को करने वाली संस्थाओं के कार्यों में तालमेल बैठाने के लिए IRBI की स्थापना की गई। इसकी प्राधिकृत पूंजी तथा प्रदत्त पूंजी क्रमश: 200 करोड़ रु. और 50 करोड़ रु. है। इसके अतिरिक्त यह बैंक भारत सरकार से ब्याज-मुक्त ऋण प्राप्त कर सकता है तथा केन्द्रीय सरकार की गारंटी पर विदेशी ऋण प्राप्त कर सकता है। जिन रूग्ण इकाइयों को IRBI वित्तीय सहायता देता है उनके प्रबंध को वह अपने हाथ में ले सकता है। ऐसी इकाइयों को चालू प्रतिष्ठान (running concern) के रूप में ठेके पर दे सकता है या बेच सकता है या उनके पुनर्निर्माण

की योजना बना सकता है। इसके अतिरिक्त उसे अधिकार है कि वह रूग्ण इकाइयों को पुनर्निर्माण योजना में भाग लेने के लिए बड़े-बड़े बहुराष्ट्रीय प्रतिष्ठानों को अनुमति दे।

IRBI की स्थापना के ही समय रुग्ण औद्योगिक कम्पनी (विशेष उपबंध) अधिनियम 1985 के प्रावधानों के अनुसार भारत सरकार ने औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) स्थापित किया। सरकार द्वारा किए गए इस पहल का उद्देश्य था रूग्ण औद्योगिक कंपनियों के संबंध में किए जा रहे कार्यों में तालमेल बैठाना। BIFR की भूमिका के संबंध में अगले परिच्छेद में विचार किया गया है।

विशेषज्ञ संस्थाओं के कार्यों के पूरक के रूप में सरकार ने रूग्ण इकाइयों को पुनजीर्वित करने एवं उनके पुन: स्थापना के लिए अनेक योजनाओं को चलाया। वे निम्नलिखित हैं :

i) **सुलभ-ऋण योजना (Soft loan scheme)** : सूती कपड़ा, पटसन, सीमेंट, चीनी और इंजीनियरी उद्योगों की रूग्ण इकाइयों को रियायती शर्तों पर वित्तीय सहायता देने के लिए इस योजना की शुरूआत नवम्बर 1976 में की गई। इस योजना में रियायती ब्याज दर पर ऋण की मंजूरी का प्रावधान है। इसके अतिरिक्त इसमें प्रवर्तकों के अंशदान, ऋण-ईक्विटी अनुपात, प्रारंभिक ऋण-स्थगन, भुगतान की अवधि और परिवर्तनीयता खंड में छूट के संबंध में रियायत का भी प्रावधान है। इस योजना के चलाने की कुल जिम्मेदारी IDBI पर है लेकिन इस संबंध में वह ICICI और IFCI का भी सहयोग लेगा। इस योजना के अंतर्गत विशिष्ट उद्योगों की कमजोर इकाइयां 10 वर्ष से अधिक समय तक उपयोग में लाए गए प्लांटों और उपकरणों को आधुनिकीकरण प्रतिस्थापन और नवीयपन के लिए ऋण ले सकती हैं।

ii) **विलयन योजना (Merger scheme)** : इस योजना की शुरूआत 1977 में की गई। इस योजना का उद्देश्य था स्वस्थ औद्योगिक इकाइयों के साथ रूग्ण इकाइयों के विलयन को प्रोत्साहित करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वस्थ इकाइयों को कुछ आर्थिक सहायता देने का प्रावधान है। उदाहरणार्थ उन्हें अनुमति दी गई है कि विलयन के बाद वे रूग्ण इकाइयों की संचित हानियों और अनवशोषित मूल्यह्रास (unabsorbed depreciation) को आगे के वर्ष में ले जा सकती है और अपनी कर देयता से उनका समायोजन कर सकती हैं।

iii) **मार्जिन रकम योजना (Margin money scheme)** : इस योजना में छोटे पैमाने के क्षेत्रक की रूग्ण इकाइयों को सहज शर्तों पर ऋण अंतर द्रव्य देने की प्रावधान है जिससे ये इकाइयां अपने को पुनर्जीवित करने की योजना को कार्यान्वित करने के लिए बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से ऋण प्राप्त कर सकें। इस योजना को 1982 में लागू किया गया था तथा 1987 में इसे उदार बना दिया गया। जिससे राज्य सरकारों के प्रयासों में सहायता की जा सके। इस योजना के अंतर्गत राज्य सरकारों से अपेक्षा की जाती है कि वे छोटे पैमाने की रूग्ण इकाइयों को पुन: स्थापना के लिए दी जाने वाली वित्तीय सहायता में 50 : 50 के अनुपात में मैचिंग अंशदान करें। सहायता की अधिकतम सीमा को प्रति इकाई 20,000 रु. से बढ़ाकर 50,000 रु. कर दिया गया है।

9.5.3 नीति निर्देश और ढांचा (Policy Guidelines and Framework)

अब तक हमने औद्योगिक रूग्णता की समस्याओं से निपटने के लिए सरकार की नीतियों के संबंध में विचार किया है। अब हम इस संबंध में जारी किए गए नीति-निर्देशों के संबंध में विचार करेंगे।

1970 के दशक में औद्योगिक रूग्णता की समस्या के गंभीर हो जाने के बाद 1978 में सरकार ने घोषणा की कि रूग्ण इकाइयों को पुन: जीवित करने की जिम्मेदारी किसी एक ही एजेन्सी की नहीं होगी बल्कि इस काम को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें, वित्तीय संस्थाएं, भारतीय रिजर्व बैंक एवं संबंधित प्रतिष्ठानों के प्रबंध मिलकर करेंगे। सरकार ने यह भी तय किया कि यह विचार करते समय कि किसी औद्योगिक इकाई को सरकार के लिए अपने हाथ में लेना उचित होगा या नहीं, निम्नलिखित

बातों को ध्यान में रखा जाएगा: क) कर्मचारियों की संख्या को ध्यान में रखते हुए कितनी अतिरिक्त पूंजी लगानी होगी, ख) किसी प्लांट को पुन: स्थापित करने में जो खर्च होगा उसकी तुलना में उसी क्षमता के नए प्लांट को लगाने में क्या लागत आएगी; ग) उस इकाई की पुरानी देयताओं के निपटान में राज्य सरकार एवं वित्तीय सस्थाओं को जो योगदान करना होगा तथा उसे चलाने में जो श्रम लगेगा, उन्हें नजर में रखते हुए एक समुचित समय अवधि के अंतर्गत उस इकाई के वाणिज्य की दृष्टि से सक्षम होने की कितनी संभावना है, तथा ङ) इकाई को पुन: जीवित करने की योजना में भाग लेने वालों के बीच परस्पर सहयोग की मात्रा क्या होगी।

अक्तूबर 1981 में सरकार ने औद्योगिक रूग्णता की समस्याओं से निपटने के उपायों के संबंध में केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के प्रशासी मंत्रालयों और वित्तीय संस्थाओं के मार्गदर्शी सिद्धांत जारी किया। फरवरी 1982 में इन सिद्धांतो में संशोधन किया गया। इन संशोधित मार्गदर्शी सिद्धांतों के नीति ढांचे में निम्नलिखित बातें थीं:

1) औद्योगिक इकाइयों की रूग्णता के निवारण और उपचार कार्य के लिए सरकार की जिम्मेदारी उन उद्योग क्षेत्रकों के संबंध में होगी जो उसके अधीन हैं। रूग्णता का मानीटर करने तथा रूग्ण इकाइयों को पुन: जीवित करने और पुन: स्थापित करने के कार्यों में तालमेल बैठाने के कार्यों में मंत्रालयों की प्रमुख भूमिका होगी। इस उद्देश्य से यदि आवश्यक हुआ तो उन उद्योग क्षेत्रों के लिए स्थायी समितियां गठित की जाएंगी जिनमें रूग्णता व्यापक रूप से हैं।

2) प्रारंभिक रूग्णता के निवारण के संबंध में समय से कार्यवाही के लिए वित्तीय संस्थाओं के लिए आवश्यक होगा कि वे मानीटर-प्रणाली को मजबूत बनाएं। जिन स्थितियों में वित्तीय संस्थाओं को अपने ऊपर पूरा-पूरा विश्वास है कि वे किसी रूग्ण इकाई के प्रबंध को अपने हाथ में लेकर उसे स्वस्थ कर देंगी, वहां उन्हें यह कार्य विशेष रूप में उस स्थिति में करना चाहिए जहां रूग्णता बहुत ही अधिक हो।

3) यदि किसी औद्योगिक इकाई की रूग्णता का निवारण नहीं किया जा सकता और उसे पुनर्जीवीत करना सरल नहीं है तो बकाया प्राप्य रकमों के संबंध में सामान्य बैंकिग नियमों और विधियों के अनुसार कार्य करना चाहिए। लेकिन इन रकमों की वसूली के संबंध में कार्यवाही करने के पहले सरकार को सूचित कर देना चाहिए, जिससे सरकार इस इकाई को पुन: जीवित करने के लिए कोई और उपाय करने या उसका राष्ट्रीयकरण करने के संबंध में विचार कर सके।

4) सरकार यदि किसी औद्योगिक इकाई का राष्ट्रीयकरण करने का निर्णय लेती है तो उसे चाहिए कि वह इस इकाई के प्रबंध को 6 महीनों की अवधि के लिए अपने हाथ में ले ले। इसके बाद इस की पुन: संरचना करने या किसी स्वस्थ इकाई के साथ उसका विलयन करने जैसे विकल्पी उपायों के संबंध में विचार किया जा सकता है और यदि आवश्यक हुआ तो उसके राष्ट्रीयकरण करने के संबंध में विचार किया जा सकता है।

बोध प्रश्न ग

1) निम्नलिखित कथनों में से कौन सही हैं और कौन से गलत हैं ?

   i) राष्ट्रीय वस्त्र निगम की स्थापना इसलिए की गई कि रूग्ण कपड़ा मिलों के राष्ट्रीयकरण करने के समय तक उनका प्रबंध किया जा सके।

   ii) भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण बैंक (IRBI) की स्थापना रूग्ण इकाइयों को पुन: जीवित करने के कार्य में प्रमुख साख और पुननिर्माण एजेन्सी का काम करने के लिए की जाती है।

   iii) भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण निगम (IRCI) औद्योगिक रूग्णता की समस्या से पर्याप्त रूप से इसलिए न निपट सका कि इसकी शक्ति सीमित थी।

iv) सुलभ ऋण योजना के अंतर्गत सभी उद्योगों की रूग्ण और कमजोर इकाइयां वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकती हैं।

v) मार्जिन रकम योजना (marging money scheme) के अंतर्गत केवल छोटे पैमाने के क्षेत्रक की रूग्ण इकाइयां आती हैं।

vi) रूग्ण इकाइयों से प्राप्य बकाया रकमों की वसूली के संबंध में सरकार की नीति यह है कि इसके संबंध में सभी स्थितियों में सामान्य बैंकिंग नियमों के अनुसार कार्य करने चाहिए।

vii) केन्द्र और राज्यों के सरकारों के प्रशासी मंत्रालयों की जिम्मेदारी होती है कि वे अपने अधीन के उद्योगों में रूग्णता का मॉनीटर करे।

2) खाली स्थानों को भरें।

i) IRBI सरकार से ..... ऋण ले सकता है तथा सरकार की गारंटी से..... ऋण प्राप्त कर सकता है।

ii) वस्त्र आधुनिकीकरण फंड स्थापित करने का प्रयोजन..... इकाइयों के साथ..... इकाइयों को भी सहायता प्रदान करना था।

iii) विलयन योजना के अन्तर्गत ..... इकाइयों के विलयन प्रोत्साहित करने के लिए..... इकाइयों को आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था है।

iv) .....रूग्णता को रोकने के लिए समय पर कार्यवाही करने के लिए वित्तीय संस्थाओं को चाहिए कि वे..... ..... प्रणाली को मजबूत बनाएं।

v) सुलभ ऋण योजना के अंतर्गत कमजोर इकाइयां उन..... प्लांटों प्रतिस्थापन के लिए ऋण ले सकती हैं जिनका उपयोग कम से कम..... हुआ हो।

9.6 रूग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1985 (Sick Industrial Companies (Special Provision) Act, 1985)

औद्योगिक कंपनियों की रूग्णता से निपटने के लिए अलग से कानून बनाने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि रूग्णता के बढ़ने के गंभीर परिणाम हो सकते थे तथा इस समस्या के समाधान के लिए अब तक पर्याप्त रूप में कोई उपाय नहीं किए गए थे। औद्योगिक उपक्रमों में व्यापक रूप में फैली रूग्णता के फलस्वरूप केवल उत्पादन में बहुत बड़ी क्षति बेरोजगारी के खतरे और राजकोष को आय की हानि की ही स्थिति नहीं आ रही थी बल्कि इन रूग्ण इकाइयों में बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के फंडों की बहुत बड़ी रकमें भी फंसी हुई थी। सरकार और समाज दोनों ही के लिए यह चिंता का विषय था। संभाव्य सक्षम (potentially viable) रूग्ण इकाइयों की शीघ्रातिशीघ्र पुनः जीवित करने और उन्हें पुनः स्थापित करने की आवश्यकता थी जिनसे उत्पादन की सुविधाओं और निवेश किए गए फंडों अनुकूलतम उपयोग किया जा सके। इसके साथ ही साथ जो इकाइयां सक्षम नहीं थीं उनका समापन (liquidation) करना आवश्यक भी था। जिससे उनके ऋणों की वसूली को यथासंभव किया जा सके और बची हुई उत्पादक परिसंपत्तियों को बचाया जा सके। रूग्णता की समस्या का गंभीरता से अध्ययन करने के लिए सरकार ने टी०आर० तिवारी की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने 1984 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें निम्नलिखित मुख्यतः दो आधार पर विशेष कानून बनाने की सिफारिश की गई थी: क) रूग्णता की समस्या से निपटने के लिए वर्तमान संस्थागत ढांचे अपर्याप्त एवं बहुत समय लेने वाले थे, तथा ख) अनेकों कानूनों और एजेन्सियों के होने के कारण इस सम्बन्ध में समन्वित रूप से कार्य करना कठिन था। इसीलिए 1985 में रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम (SICA) बनाया गया। 1991 में और फिर 1993 में इसका संशोधन किया गया।

SICA एक विशेष कानून है जिसे निम्नलिखित उद्देश्य से बनाया गया है : क) रूग्ण और संभाव्य रूग्ण उद्योग कम्पनियों का समय से पता लगाना, और ख) ऐसी कम्पनियों के संबंध में शीघ्रतापूर्वक

उपचार कार्यों का निर्धारण करके उन्हें कार्यान्वित करना। उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 की प्रथम अनुसूची में निर्धारित सभी उद्योगों पर यह अधिनियम लागू होता है। छोटे पैमाने के उद्योगों, आनुषंगिक उद्योगों तथा जहाजों से संबंधित उद्योगों पर यह अधिनियम लागू नहीं होता।

इस अधिनियम में केन्द्रीय सरकार द्वारा औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) के गठन का प्रावधान है। अगले परिच्छेद में BIFR की भूमिका और उसके कार्यों के संबंध में विचार किया जाएगा। SICA के अंतर्गत किसी रूग्ण कंपनी के निदेशक मंडल के लिए आवश्यक होता है कि वह कंपनी के परिक्षित लेखा के तैयार होने के 60 दिनों के अंतर्गत उसे BIFR को भेजे। केन्द्रीय सरकार, भारतीय रिजर्व बैंक, कोई राज्य सरकार, कोई सार्वजनिक वित्त संस्था, राज्य स्तर की संस्था या कोई अनुसूचित बैंक भी किसी कंपनी के रूग्णता के संबंध में BIFR को सूचना दे सकता है।

सूचना प्राप्त करने के बाद बोर्ड जांच करके पता लगा सकता है कि कंपनी रूग्ण है या नहीं। अथवा यह बोर्ड इस संबंध में जांच का कार्य किसी प्रचालन एजेंसी (operating agency) को सौंप सकता है। जांच के बाद यदि पता चलता है कि कंपनी रूग्ण तो है लेकिन वह एक समुचित समय अवधि के अन्दर अपनी निवल संपत्ति (net worth) को संचित हानि (accumulated loss) से अधिक कर सकती है तो बोर्ड उसे एक निर्धारित समय के अन्दर ऐसा करने को कह सकता है। अन्य स्थितियों में बोर्ड किसी प्रचालन एजेन्सी को कहेगा कि वह 90 दिनों के अंतर्गत रूग्ण कंपनी के संबंध में योजना तैयार करे। ऐसी योजना में निम्नलिखित में से एक या अधिक उपायों की व्यवस्था हो सकती है : क) रूग्ण कंपनी का वित्तीय पुनर्निर्माण, ख) कंपनी के प्रबंध में परिवर्तन करके या उसे अपने हाथ में लेकर उसकी उचित रूप से व्यवस्था करना, ग) किसी अन्य कंपनी के साथ रूग्ण कंपनी का समामेलन (amalgamation) करना; घ) प्रबंध कर्मचारियों, पर्यवेक्षक कर्मचारियों, श्रमिकों आदि के कार्यों का युक्तीकरण करना, च) समस्त उपक्रम या उसके एक भाग को बेच देना या उसे पट्टे पर देना, तथा छ) अन्य समुचित उपाय।

BIFR के आदेश के आधार पर योजना के कार्यान्वयन का कार्य प्रचालन एजेन्सी को सौंपा जाता है। इस कार्य के लिए उसे निम्नलिखित को तैयार करने को कहा जाता है : i) सम्पूर्ण सूची क) कंपनी की सभी परिसंपत्तियों और देयताओं की, और ख) सभी लेखा पुस्तकों, रजिस्टरों, संपत्ति के स्वत्व प्रलेखों (document of titles) या संपत्ति के स्वामित्व के प्रलेखों की, ii) शेयरधारकों की सूची, iii) लेनदारों की एक सूची जिसमें रक्षित लेनदारों और अरक्षित लेनदारों (unsecured creditors) को अलग-अलग दिखाया गया हो, iv) शेयरों और परिसंपत्तियों के संबंध में एक मूल्यांकन रिपोर्ट जिससे उपक्रम को बेचने के लिए रिजर्व कीमत निश्चित करने के लिए, या लीज रेंट तय करने के लिए या समामेलन की स्थिति में शेयर एक्सचेंज अनुपात जानने के लिए रिजर्व कीमत निश्चित की जा सके, v) रिजर्व कीमत, लीज रेंट या शेयर एक्सचेंज अनुपात का प्राक्कलन और vi) परीक्षित लेखा उपलब्ध न होने की स्थिति में प्रोफार्मा लेखा।

बोर्ड को अधिकार दिया गया है कि वह स्वीकृत योजना के कार्यान्वयन को समय-समय पर मानीटर करे। किसी रूग्ण उद्योग के पुन: स्थापन के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त करने के लिए भी SICA में प्रावधान किया गया है। रूग्ण कंपनी को केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, बैंक, वित्तीय संस्थाओं या किसी प्राधिकरण से ऋण, अग्रिम, गारंटी, रियायत आदि के रूप में वित्तीय सहायता देने की योजना बनाई जा सकती है। ऐसी योजना को संबद्ध व्यक्तियों के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजी जाएगी। इनमें से प्रत्येक व्यक्तियों की स्वीकृति मिल जाने के बाद सभी पर यह योजना लागू हो जाएगी। यदि किसी व्यक्ति ने अपनी स्वीकृति नहीं दी है तो समुचित उपाय के संबंध में BIFR विचार करेगा जिसमें कंपनी का समापन करना भी शामिल होता है।

सभी संबंधित तथ्यों और परिस्थितियों के संबंध में विचार करने और संबंधित पक्षों की बातों को सुनने के बाद बोर्ड यदि मानता है कि (क) भविष्य में कंपनी के सक्षम होने की संभावना नहीं है और (ख) कंपनी का समापन करना ही उचित है तो वह रूग्ण औद्योगिक कंपनी का समापन करने (winding

up) के संबंध में सोच-विचार कर सकता है। ऐसी स्थिति में बोर्ड अपने मत को रिकार्ड करके उसे उच्च न्यायालय को भेज सकता है। कंपनी के समापन के संबंध में आदेश देते समय उच्च न्यायालय प्रचालन एजेंसी के एक अधिकारी को समापक (liquidator) नियुक्त कर सकता है, बशर्ते कि इस संबंध में सहमति हो।

संभाव्य रूग्ण औद्योगिक कंपनियों के संबंध में रुग्ण औद्योगिक कंपनी अधिनियम (SICA) में प्रावधान है कि ऐसी कंपनी के लिए औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) को इस तथ्य के संबंध में रिपोर्ट करना आवश्यक है कि पिछले 4 वर्षों में उसकी संचित हानि ने सबसे अधिक निवल संपत्ति को 50% या उससे भी अधिक अनुपात में कम कर दिया है। कंपनी के परीक्षित लेखा के तैयार होने के 60 दिनों के अंतर्गत यह रिपोर्ट प्रस्तुत करना आवश्यक होता है। इस अधिनियम में यह भी प्रावधान है कि कंपनी के लिए आवश्यक है कि वह निवल संपत्ति में हुई कमी के संबंध में विचार करने के लिए शेयरधारकों की सामान्य सभा करे। निदेशक मंडल के लिए आवश्यक है कि निवल संपत्ति में हुई कमी और उसके कारणों के संबंध में रिपोर्ट प्रत्येक शेयरधारक के पास सामान्य सभा के बैठक की तिथि से कम से कम 21 दिन पहले भेज दे।

केन्द्रीय सरकार, कोई राज्य सरकार, भारतीय रिजर्व बैंक, कोई वित्तीय संस्था बैंक, या राज्य स्तर की संस्था भी किसी उद्योग कंपनी की संभाव्य रूग्णता के संबंध में BIFR को रिपोर्ट कर सकती हैं। उसके पश्चात् BIFR ऐसी सूचना संबंधित कंपनी से भी मांग सकता है।

BIFR के मतानुसार भविष्य में एक समय अवधि के अंतर्गत यदि संभाव्य रूग्ण कंपनी (potentially sick company) के सक्षम होने की संभावना नहीं है तो वह किसी प्रचालन एजेन्सी को इस संबंध में जांच करके रिपोर्ट करने का आदेश दे सकता है। इस एजेन्सी के रिपोर्ट पर विचार करने के बाद BIFR दैनिक समाचार पत्रों में नोटिस प्रकाशित करके सुझाव मांगेगा कि ऐसी कंपनी का समापन क्यों न कर दिया जाए। सभी पक्षों की बातों को सुनने के बाद वह रूग्ण औद्योगिक कंपनी के समापन के संबंध में अपने मत को उच्च न्यायालय को भेज देगा।

BIFR के आदेश से पीड़ित कोई पक्ष ऐसे आदेश के जारी होने के 45 दिनों के अंतर्गत औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण अपील प्राधिकारी के (AAIFR) को अपील कर सकता है। अपील करने वाले की शिकायत को सुनने और आवश्यक जांच-पड़ताल करने के बाद अपील प्राधिकारी (BIFR) के आदेश की पुष्टि कर सकता है उसमें संशोधन कर सकता है या उसे रद्द कर सकता है या BIFR को आदेश दे सकता है कि वह इस संबंध में फिर से विचार करें। लेकिन BIFR या AAIFR के आदेशों के खिलाफ दीवानी अदालतों में अपील नहीं की जा सकती।

9.7 औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) की भूमिका (Role of Board for Industrial and Financial Reconstruction

रूग्ण और संभाव्य रूग्ण औद्योगिक कपंनियों के संबंध में समन्वित रूप से कार्य के लिए रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम (SICA), 1985 के प्रावधानों के अधीन औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड की स्थापना की गई। इस अधिनियम में रूग्ण औद्योगिक कंपनी की परिभाषा उस कंपनी के रूप में की गई है जो कम से कम पांच वर्षों से चल रही हो और किसी वित्तीय वर्ष में जिसकी संचित हानि उसकी निवल संपति के बराबर या उससे अधिक हुई हो। इस अधिनियम के अनुसार किसी रूग्ण औद्योगिक कंपनी के निदेशक मंडल के लिए अनिवार्य कर दिया गया है कि वह कंपनी की रूग्णता के संबंध में BIFR को सूचना दे। BIFR को अधिकार दिया गया है कि वह यह निर्धारित करने के लिए जांच-पड़ताल करे कि वह कंपनी रूग्ण है या नहीं। यदि कंपनी रूग्ण है तो BIFR अपनी स्थिति सुधारने के लिए उसे समुचित समय दे सकता है अथवा इसके संबंध में समुचित उपाय कर सकता है। ऐसे उपायों के अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं : (क) प्रबंध को बदलना, (ख) कंपनी को पुनः जीवित करने या उसे पुनः स्थापित करने के उपाय (ग) शेयर पूंजी का पुनर्निर्माण, (घ) समस्त उपक्रम या उसके एक भाग को बेचना या पट्टे पर देना (च) किसी स्वस्थ इकाई के साथ

उसका समामेलन/विलयन करना। BIFR यदि मानता है कि किसी व्यक्ति ने कंपनी के फंड का दुरुपयोग किया है या उसने कंपनी का प्रबंध इस प्रकार किया है जिससे कंपनी के हित को क्षति हुई हो तो बोर्ड बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को आदेश दे सकता है कि वे ऐसे व्यक्ति को, या ऐसे किसी फर्म को जिसमें वह साझेदार है या ऐसी किसी कंपनी को जिसका वह निदेशक है, 10 वर्ष की अवधि तक कोई वित्तीय सहायता न दें। SICA में यह प्रावधान संभवत: अविवेकी प्रबंध को सावधान करने के लिए किया गया।

SICA की धारा 4 में प्रावधान के अनुसार भारत सरकार ने BIFR का गठन 12 जनवरी 1987 को किया और यह मई 1987 से कार्य करने लगा। BIFR एक अर्ध-न्यायकि संस्था है तथा इसका गठन विभिन्न संबंधित क्षेत्रों में काम करने वाले विशेषज्ञों से हुआ है। इस बोर्ड ने प्रचालन विभिन्न एजेन्सियों की नियुक्ति की है जिसमें IFCI, IDBI, IRBI, स्टेट बैंक आफ इंडिया तथा सार्वजनिक क्षेत्र के अन्य सात वाणिज्य बैंक है। रूग्ण घोषित कंपनियों के संबंध में जांच-पड़ताल करने के लिए तथा उनको पुन: जीवित करने, पुन: स्थापित करने के उपायों का सुझाव देने के लिए इनमें से किसी भी एजेन्सी को बोर्ड मनोनीत कर सकता है। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि लघु पैमाने के या अनुषंगी उद्योग या शक्ति से चलने वाले जहाजों से संबधित उद्योग SICA के क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आते।

BIFR को अधिकार है कि वह उद्योग कंपनियों की रूग्णता की जांच-पड़ताल करे और समुचित योजनाओं के द्वारा उनके उपचार का सुझाव दे और बताएं कि इन उपायों को कैसे कार्यान्वित किया जा सकता है। जब यह योजना किसी रूग्ण उद्योग कंपनी के संबंध में निवारक या उपचारी उपाय के संबंध में हो तब इस योजना में किन्हीं सरकारी एजेन्सियों से ऋण, अग्रिम, गारंटी या रियायत के रूप में वित्तीय सहायता की व्यवस्था की जा सकती है। यदि जांच-पड़ताल करने के बाद और सभी संबंधित तथ्यों पर विचार करने के बाद बोर्ड मानता है कि किसी रूग्ण औद्योगिक कंपनी के कार्यों का समापन कर देना ही उचित है तो वह अपनी राय को रिकार्ड करके उसे उच्च न्यायालय को भेज सकता है। कुप्रबंध की स्थिति में बोर्ड रूग्ण कंपनी के लिए एक या उससे अधिक विशेष निदेशकों की नियुक्ति भी कर सकता है।

मई 1987 में अपनी शुरूआत से लेकर दिसंबर 1996 तक BIFR को SICA के अधीन निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के संबंध में 2692 शिकायतें प्राप्त हुई। इन 2692 शिकायतों (जिनमें 188 सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के संबंध में थी) में से 1853 का पंजीकरण किया गया जिनमें 145 सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के संबंध में थी। इन पंजीकृत 1853 में से 406 को यह बता कर खारिज कर दिया गया कि इनके संबंध में पर्याप्त सबूत नहीं है। 404 की स्थिति में पुन: जीवित करने की योजना स्वीकृत की गई तथा 496 के संबंध में समापन की सिफारिश उच्च न्यायालय को की गई। पुन: स्थापन योजना को सफलतापूर्वक पूरा करने के बाद 184 कंपनियों को रूग्णता से मुक्त करार दे दिया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की स्थिति में 145 पंजीकृत शिकायतों में से 28 को यह बताकर खारिज कर दिया कि इनके संबंध में पर्याप्त सबूत नहीं है। 36 के संबंध में पुन: स्थापन योजनाएं स्वीकृत की गई, 24 के संबंध में समापन की सिफारिश की गई। 4 उपक्रमों के संबंध में पुन: स्थापन योजना को सफलतापूर्वक पूरा कर लेने के बाद उन्हें रूग्णता से मुक्त घोषित कर दिया गया।

बोध प्रश्न घ

1) खाली स्थानों को भरें।

   i) किसी रूग्ण औद्योगिक कंपनी को पुन: जीवित करने की योजना बनाने के लिए BIFR किसी..... को मनोनीत कर सकता है।

   ii) रूग्ण औद्योगिक कंपनी उसे कहा जाता है जिसकी संचित हानि उसकी..... से अधिक है।

   iii) लघु पैमाने की तथा..... उद्योग इकाइयां SICA के क्षेत्र में नहीं आतीं।

iv) किसी रूग्ण कंपनी के कुप्रबंध की स्थिति में उसके लिए..... की नियुक्ति BIFR नहीं कर सकता।

v) संचित हानियों के फलस्वरूप जब अत्यधिक निवल संपत्ति के..... की क्षति हो जाती है तब कंपनी को संभाव्य रूग्ण कंपनी माना जाता है।

2) निम्नलिखित कथनों में से कौन से सही हैं और कौन से गलत हैं ?

i) यदि कोई संभाव्य रूग्ण कंपनी भविष्य में सक्षम नहीं हो सकती है तो BIFR उसके समापन का आदेश दे सकता है।

ii) भारतीय कंपनी अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत सभी उद्योग कंपनियों पर SICA के प्रावधान लागू होते हैं।

iii) किसी रूग्ण औद्योगिक कंपनी को पुन: जीवित करने की योजना में केवल प्रबंध को बदलने का ही प्रावधान किया जा सकता है तथा इसके लिए कोई अन्य उपाय आवश्यक नहीं होते।

iv) केन्द्रीय सरकार या कोई राज्य सरकार BIFR को किसी औद्योगिक कंपनी के रूग्ण होने की शिकायत कर सकती है।

v) SICA का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक रूग्णता को रोकना रहा है।

9.8 सारांश

औद्योगिक रूग्णता के स्वरूप को समझने के लिए, पूर्वसूचना प्रकार के लक्षणों (अर्थात् प्रारंभिक रूग्णता के संकेत) और वास्तविक रूग्णता के लक्षणों में अंतर करना आवश्यक होता है। रूग्णता की पहचान के लिए प्राय: दो अन्य संकेतकों का भी प्रयोग किया जाता है। इस कार्य के लिए वित्तीय संकेतकों का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। क्योंकि किसी फर्म के वित्तीय परिणामों में प्रचालन संबंधी त्रुटियां स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई रूग्ण इकाइयों की परिभाषा में औद्योगिक इकाई को हुई रोकड़ हानि पर जोर दिया गया है। रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम के अंतर्गत अपनाई गई रूग्णता की परिभाषा में संचित हानियों के फलस्वरूप निवल संपत्ति के घटने पर जोर दिया गया है। लेकिन रूग्णता के वित्तीय संकेतकों की सीमाओं को देखते हुए रूग्णता की पूर्व सूचना की पहचान के लिए प्रबंध की त्रुटियों और गैर-वित्तीय कारकों को पहचानना भी आवश्यक हो जाता है।

विश्लेषण के रूप में ह्रास और पतन की अवस्थाओं को नजर में रखते हुए औद्योगिक रूग्णता का निदान किया जा सकता है। किसी इकाई के प्रारंभ से ही उसमें कोई त्रुटि हो सकती है, जिससे वह इकाई रूग्ण हो जाती है, या प्रबंध प्रभावशाली ढंग से कार्य न कर पाता हो जिसका परिणाम बहुत समय के बाद दिखाई पड़ता है, या कोई बाहरी कारण होते हैं जो उद्योग की सभी इकाइयों को प्रभावित करते हैं और कमजोर इकाइयों को रूग्ण बना देते हैं।

औद्योगिक रूग्णता के संबंध में समय-समय पर अपनाये गए उपायों के आधार पर सरकारी नीति का विकास निम्नलिखित में देखा जा सकता है : i) प्रबंध को अपने हाथ में लेना और राष्ट्रीयकरण; ii) संस्थागत एजेन्सियों का आश्रय, और iii) प्रशासी मंत्रालयों के लिए नीति मार्गनिर्देश और ढांचा।

रूग्ण और संभाव्य रूग्ण औद्योगिक इकाइयों की समस्याओं के संबंध में समन्वित कार्य के लिए SICA 1985 के प्रावधानों के अंतर्गत BIFR का गठन किया गया। ऐसा करना निम्नलिखित कारणों से आवश्यक था : i) औद्योगिक रूग्णता का सामना करने के लिए वर्तमान संस्थागत ढांचा अपर्याप्त थे तथा बहुत समय लेने वाले थे, और ii) कानूनों और एजेन्सियों के विविध होने के कारण कोई समन्वित कार्य करना कठिन था।

SICA के प्रावधानों के अंतर्गत निम्नलिखित कार्य हुए : BIFR का गठन, उसकी भूमिका और कार्यों का स्पष्टीकरण, रूग्णता और संभाव्य रूग्णता के संबंध में अनिवार्य रूप से BIFR को सूचना देना, रूग्णता के कारणों के संबंध में संबंधित प्रचालन एजेन्सियों द्वारा जांच-पड़ताल, रूग्ण औद्योगक कंपनियों को पुन: जीवित करने और उनके पुन: स्थापन के लिए योजना तैयार करना और इन योजनाओं को कार्यान्वित करना।

9.9 शब्दावली

प्रारंभिक रूग्णता (Incipient Sickness) : पूर्व सूचना या पहले से चेतावनी के संकेतों के आधार पर पहचान योग्य किसी औद्योगिक इकाई की रूग्णता।

मार्जिन रकम योजना (Margin Money Scheme) : छोटे पैमाने के क्षेत्र में रूग्ण इकाइयों को मार्जिन रकम देने की योजना जिससे वे बैंकों और वित्तीय संस्थाओं से फंड प्राप्त कर सकें।

विलयन योजना (Merger Scheme) : स्वस्थ इकाइयों को वित्तीय सहायता देकर रूग्ण औद्योगिक इकाइयों का स्वस्थ इकाइयों के साथ विलयन या समामेलन को प्रोत्साहित करने की योजना।

सुलभ-ऋण योजना (Soft Loan Scheme) : निर्दिष्ट उद्योगों की कमजोर इकाइयों के रियायती शर्तों पर वित्तीय सहायता देने की योजना।

9.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1. क) सही ख) गलत ग) सही घ) गलत च) गलत

2. i) अंतर ii) पुन:जीवित iii) प्रदत्त पूंजी और रिजर्व iv) लाभप्रदत्ता v) वित्तीय vi) प्रबंध की त्रुटियां, लेखा प्रणाली की त्रुटियां, परिवर्तनों के प्रति त्रुटिपूर्ण प्रत्युत्तर

ख 1. i) कुप्रबंध, ii) बाहरी, iii) जिम्मेदारी, iv) अनुभव के अभाव, अति आशावादिता v) लाग समय vi) अधि प्राक्कलन

2. i) गलत, ii) गलत, iii) सही, iv) सही v) गलत

ग 1. i) गलत, ii) सही, iii) गलत, iv) गलत v) सही, vi) गलत, vii) सही

2. i) ब्याज मुक्त विदेशी, ii) स्वस्थ संभाव्य सक्षम रूग्ण, iii) रूग्ण स्वस्थ, iv) प्रारंभिक मॉनीटर v) पुराने, 10 वर्ष

घ 1. i) प्रचालन एजेन्सी, ii) निवल संपत्ति, iii) अनुषंगी, iv) विशेष निदेशकों v) 50% या उससे अधिक

2. i) गलत, ii) गलत, iii) सही, iv) सही v) गलत

9.11 स्व-परख प्रश्न

1. प्रारंभिक रूग्णता और वास्तविक रूग्णता के विशेष संदर्भ में औद्योगिक रूग्णता के स्वरूप के संबंध में संक्षेप में विवेचन कीजिए।
2. 'रूग्णता' की परिभाषा करना कठिन कार्य है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं। कारण दीजिए।
3. किसी औद्योगिक इकाई की रूग्णता के छह वित्तीय संकेतकों के नाम दीजिए। इन संकेतकों की सीमाएं क्या हैं ?

4. औद्योगिक रूग्णता की पहले से चेतावनी के संकेत के रूप में (क) वित्तीय अनुपातों और (ख) गैर-वित्तीय कारकों की उपयोगिता के संबंध में विवेचन कीजिए।

5. कुछ औद्योगिक इकाइयों को जन्म से रूग्ण माना जाता है। ऐसी इकाइयों की रूग्णता के कारणों से संबंध में संक्षेप में विवेचन कीजिए।

6. औद्योगिक उपक्रमों की रूग्णता से संबंधित प्राय: प्रबंध की कौन-कौन सी त्रुटियां होती हैं ? विवेचन कीजिए।

7. IRBI और BIFR की भूमिका और कार्यों के संबंध में विवेचन कीजिए।

8. औद्योगिक रूग्णता के संबंध में सरकारी नीति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

9. निम्नलिखित के संबंध में व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखिए :

   i) सुलभ ऋण योजना

   ii) मार्जिन रकस योजना

   iii) संभाव्य रूग्ण औद्योगिक कंपनी

   iv) रूग्ण औद्योगिक कंपनी के पुन: स्थापन कार्य में जिन उपायों को शामिल किया जा सकता है।

10. रूग्ण औद्योगिक कंपनियों की पहचान करने और उनके उपचार के उपायों के संबंध में रुग्ण औद्योगिक कंपनी (विशेष उपबंध) अधिनियम के प्रमुख प्रावधानों पर प्रकाश डालिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए, किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 10 औद्योगिक संबंध (Industrial Relations)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 औद्योगिक संबंधों की रूपरेखा
10.3 औद्योगिक विवादों के कारण
10.4 विवादों की रोकथाम और उनका निपटान
  10.4.1 कानूनी उपाय
  10.4.2 गैर कानूनी उपाय
10.5 सामूहिक सौदेबाजी
  10.5.1 संकल्पना
  10.5.2 सामूहिक सौदेबाजी समझौते के प्रकार
  10.5.3 सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया
  10.5.4 सामूहिक सौदेबाजी की पूर्वापेक्षाएं
10.6 प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता
  10.6.1 संकल्पना
  10.6.2 भारत में प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की योजना
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
10.10 स्व परख प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- भारत में औद्योगिक संबंधों की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकें
- औद्योगिक विवादों के कारणों का पता लगा सकें
- विवादों की रोकथाम और उनके निपटान के लिए औद्योगिक संबंधों की मशीनरी का पुनरीक्षण कर सकें।
- सामूहिक सौदेबाजी की संकल्पना की व्याख्या कर सकें, और
- प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की विभिन्न योजनाओं का परीक्षण कर सकें।

10.1 प्रस्तावना

औद्योगिक संबंध की संकल्पना का व्यापक अर्थ होता है। इसके अंतर्गत वे संबंध आते हैं जो श्रमिकों और प्रबंध तथा उद्योग-संगठनों और समाज की परस्पर निर्भरता से उभरते हैं। डनलप के अनुसार 1958 औद्योगिक संबंधों में तीन प्रमुख कारक होते हैं : कर्मचारी, नियोक्ता और सरकार। इस इकाई में आप भारत में औद्योगिक संबंधों की रूपरेखा के संबंध में पढ़ेंगे। इसमें आप निम्नलिखित के संबंध में भी विस्तार से जानकारी प्राप्त करेंगे : औद्योगिक विवादों के कारण, विवादों की रोकथाम और

उनका निपटान, सामूहिक सौदेबाजी जैसी विवादों को निपटाने की मशीनरी की कार्यप्रणाली तथा देश में उद्योगों में मधुर संबंध कायम करने के लिए प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता।

10.2 औद्योगिक संबंधों की रूपरेखा (Industrial Relations Scenario)

देश में औद्योगिक शांति कायम करने और उसे बनाए रखने में औद्योगिक संबंधों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। देश में औद्योगिक संबंधों को प्रभावित करने वाले अनेक कारक हैं, जैसे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारक।

आजादी के बाद औद्योगिक संबंधों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण घटनाएं घटी हैं। 1947 में औद्योगिक विवाद अधिनियम बनाया गया जिसमें औद्योगिक विवादों को निपटाने के लिए स्थायी मशीनरी की स्थापना का प्रावधान है।

भारतीय श्रमिक कॉन्फ्रेंस एक त्रिपक्षीय संस्था है जिसकी स्थापना का उद्देश्य सरकार, नियाक्ताओं और श्रमिक संघों के बीच सहयोग कायम करना है।

1947-56 के बीच की अवधि में श्रमिकों के शोषण को रोकने के लिए अनेक श्रम-कानून बनाए गए। 1957-65 के बीच की अवधि मे औद्योगिक संबंधों की समस्याओं के समाधान के लिए स्वैच्छिक व्यवस्था की पहल की गई। परन्तु श्रम कानूनों में श्रमिकों और प्रबंध के संबंधों को बढ़ावा देने की तुलना में विवादों के अधिनिर्णय (adjudication) और समझौते पर अधिक जोर दिया गया।

1970 और 1980 के दशकों में तत्कालीन श्रम कानूनों में किए गए संशोधनों के अनुसार श्रमिकों के हित को सुरक्षित करने पर और भी जोर दिया गया। लेकिन मुख्यत: निम्नलिखित कारण से श्रमिकों ने हिंसा का आश्रय लिया-सरकार कीमत स्तर को बनाए रखने में असमर्थ रही। कीमत स्तर उद्योगों में मधुर संबंध कायम करने गें प्रमुख कारक होता हैं। दूसरा कारण यह था कि औद्योगिक विवादों को शीघ्रता से निपटाने के लिए सरकार कोई प्रभावी मशीनरी कायम न कर सकी। इस स्थिति को सुधारने के लिए आवश्यक सेवाएं बनाए रखने का अधिनियम (ESMA) पारित किया गया जिसमें सरकार को अधिकार दिया गया है कि वह हड़ताल पर प्रतिबंध लगा सके। नियोक्ताओं ने उप-ठेका, ऑटोमेशन आदि विधियां विकसित कीं जिनसे श्रमिकों पर उनकी निर्भरता कम हो गई है।

उदारीकरण और औद्योगिक संबंध मशीनरी (Liberalisation and Industrial Relations Machinery)

उदारीकरण के संबंध में चल रही प्रक्रिया यह आवश्यक कर देती है कि औद्योगिक संबंध मशीनरी में आवश्यक परिवर्तन किए जाएं। उदारीकरण की प्रक्रिया की मांगे निम्नलिखित हैं: औद्योगिकी इकाइयां के लिए प्रतिस्पर्धी शक्ति प्राप्त करना चाहिएं और औद्योगिक इकाइयों को चाहिए कि वे अपने पिछले लाभों में और भी अधिक वृद्धि करें।

इसके अतिरिक्त इन लक्ष्यों के लिए आवश्यक होता है कि

i) औद्योगिक इकाइयों को चाहिए कि वे अपनी प्रौद्योगिकी को आधुनिकतम बनाएं। नई प्रौद्योगिकी प्राय: पूंजी प्रधान और श्रम को विस्थापित करने वाली होती है।

ii) औद्योगिक इकाइयों को चाहिए कि वे अपने फालतू श्रमिकों की छंटनी कर दें।

लेकिन इन उपायों को निम्नलिखित कारणों से काम में नहीं लाया जा सकता :

i) श्रमिक संघ इन प्रस्तावों का विरोध करते हैं और ii) औद्योगिक विवाद अधिनियम के कानूनी प्रावधानों के अनुसार श्रमिकों की छंटनी करना या तालाबंदी करना लगभग असंभव होता है।

उदारीकरण की नई आर्थिक नीति में कल्पित अर्थव्यवस्था के सफलतापूर्वक पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक है कि औद्योगिक संबंध-प्रणाली में ये सुधार लाया जाए।

10.3 औद्योगिक विवादों के कारण (Causes of Industrial Disputes)

औद्योगिक विवादों के अनेक कारण हैं। इन विवादों के संबंध में नीचे संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

1. **मजदूरी और भत्ते (Wages and Allowances) :** औद्योगिक विवाद का मुख्य कारण अधिक मजदूरी की मांग होती है। आंकड़ों से पता चलता है कि कुल औद्योगिक विवादों में एक तिहाई इसी कारण से होती है। श्रमिक महसूस कर सकते हैं कि (क) वर्तमान मजदूरी समुचित जीवन-स्तर को बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं है; (ख) जीवन निर्वाह व्यय (cost of living) के बढ़ते अनुपात में मजदूरी और भत्तों में वृद्धि नहीं हुई है तथा (ग) समान उद्योगों में काम कर रहे मजदूरों की तुलना में उनकी मजदूरी और भत्ते कम हैं। इस प्रकार मजदूरी में वृद्धि की मांग के कारण प्राय: हड़ताल, घेराव आदि का आश्रय लिया जाता है जिससे औद्योगिक विवाद बहुत दिन तक चलता है।

2. **बोनस (Bonus) :** औद्योगिक विवाद का दूसरा प्रमुख कारण उद्योगों में कार्य कर रहे मजदूरों को बोनस देने के संबंध में होता है। ये विवाद बोनस की दर, अवधि एवं भुगतान की विधि के संबंध में होते हैं।

3. **कार्मिक मामले (Personnel Matters) :** कार्मिक प्रबंध सुचारू रूप से न होना भी औद्योगिक विवादों का कारण होता है। प्रभावी ढंग से कार्मिक प्रबंध न होने के फलस्वरूप विवाद बढ़ते हैं। स्वचालित मशीनों को प्रयोग में लाने से श्रमिकों की छंटनी होती है अत: इस कारण भी औद्योगिक विवाद बढ़ते हैं।

4. **सेवा की परिस्थितियां और श्रमिक कल्याण (Working Conditions and Labour Welfare):** नौकरी की सुरक्षा, कार्य घंटों, अवकाश, छुट्टी आदि से संबंधित सेवा की परिस्थितियों में सुधार की मांग के कारण औद्योगिक विवाद उत्पन्न होते हैं। सामाजिक सुरक्षा उपायों (social security measures) की मांग के कारण भी औद्योगिक विवाद होते हैं।

5. **मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors) :** काम के प्रति श्रमिकों की संतुष्टि के आधार केवल मजदूरी, श्रम-घंटे तथा कार्य की अन्य परिस्थितियां ही नहीं होती बल्कि उनकी संतुष्टि का आधार यह भी होता है वह अपने काम को कहां तक पसंद करते हैं। उन्हें यदि आत्म-अभिव्यक्ति करने और अपनी दशा सुधारने का अवसर नहीं दिया जाता तो वे असंतुष्ट होकर विवाद खड़ा कर सकते हैं।

6. **बाह्य कारक (External Factors) :** कुछ कारणों का संबंध औद्योगिक प्रतिष्ठानों के साथ प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता। उदाहरणार्थ, किसी प्रतिष्ठान के श्रमिक किसी अन्य प्रतिष्ठान के श्रमिकों की सहानुभूति में हड़ताल कर सकते हैं। राजनैतिक कारक एक अन्य महत्वपूर्ण बाह्य कारक है। कुछ कानूनों या सरकारी नीतियों के विरोध में श्रमिक हड़ताल कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि औद्योगिक विवाद मुख्यत: आर्थिक कारणों से होते हैं। देश में औद्योगिक संबंधों में सुधार लाने के लिए सरकार ने अनेक उपाय किए हैं। आगे के परिच्छेद 10.4 में औद्योगिक विवादों की रोकथाम और उनके निपटान की व्यवस्था के संबंध में विचार किया गया है।

बोध प्रश्न क

1) औद्योगिक विवादों के तीन मुख्य कारकों के नाम बताइए।

क) .....

ख) .....

ग) .....

2) जिन कारणों से श्रमिक हिंसा का आश्रय लेते हैं उनके संबंध में बताइए।

.....

.....

.....

.....

3) वर्तमान परिस्थिति में औद्योगिक इकाइयां किस प्रकार से प्रतिस्पर्धी शक्ति प्राप्त कर सकती है ? इसके संबंध में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

10.4 विवादों की रोकथाम और उनका निपटान (Prevention and Settlement of Disputes)

पिछले परिच्छेद में आपने औद्योगिक विवादों के विभिन्न कारणों के संबंध में पढ़ा। इन विवादों को यदि समय रहते सुलझाया नहीं जाता तो वे हड़ताल तथा तालाबंदी का रूप लेते हैं, जिससे लाभ, मजदूरी, उत्पादन और वस्तुओं की पूर्ति में कमी होती है। इसलिए आवश्यक होता है कि औद्योगिक संबंध सौहार्दपूर्ण हो जिससे देश में औद्योगिक शांति कायम रखी जा सके। सरकार इस समस्या से अवगत है, इसीलिए उसने औद्योगिक विवादों से निपटने के लिए अनेक कदम उठाये हैं।

औद्योगिक विवादों की रोकथाम और उन्हें सुलझाने के विभिन्न उपायों को मुख्यत: दो वर्गों में रखा जा सकता है : (i) कानूनी उपाय और (ii) गैर कानूनी उपाय। कानूनी उपायों के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के वे तंत्र (machinery) आते हैं जिन्हें सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अंतर्गत कायम किया है। इस अधिनियम के अंतर्गत स्थापित औद्योगिक संबंध तंत्र के निम्नलिखित अंग हैं : (क) समझौता, (ख) विवाचन, और (ग) अधिनिर्णय। गैर-कानूनी उपायों के अंतर्गत आती हैं अनुशासन-संहिता (code of discipline), प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता और सामूहिक सौदेबाजी। इन उपायों को सरकार का समर्थन प्राप्त है। इन उपायों के संबंध में नीचे विस्तार से चर्चा की गई है।

10.4.1 कानूनी उपाय (Statutory Measures)

क) समझौता (Conciliation)

समझौता विवाद को निपटाने की वह प्रणाली है जिसमें किसी तीसरे पक्ष की मध्यस्था का सहारा लिया जाता है। इस प्रणाली का उद्देश्य होता है विवाद को शीघ्र समाप्त करना। समझौता स्वैच्छिक या अनिवार्य हो सकता है। समझौते की स्वैच्छिक प्रणाली में राज्य समझौता तंत्र (conciliation machinery) की व्यवस्था करता है जिसका उपयोग विवादी (disputant) आवश्यकता पड़ने पर करते है। अनिवार्य समझौते के अंतर्गत राज्य केवल समझौता सेवा की व्यवस्था ही नहीं करता बल्कि विवाद-पक्षों के लिए आवश्यक कर देता है कि वे अपना विवाद समझौता सेवा (conciliation service) के समक्ष रखें।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 ने विवादों को निपटाने के लिए समझौता प्रणाली की व्यवस्था की है। संबंधित सरकार समझौता अधिकारियों (conciliation officers) या समझौता बोर्ड (board of

conciliation) की नियुक्ति कर सकती है। इस अधिनियम के प्रावधानों के अंतर्गत लोकोपयोगी सेवाओं (public utility services) के लिए समझौता अनिवार्य होता है लेकिन निजी उद्देश्यों की स्थिति में यह अनिवार्य नहीं होता।

सरकार द्वारा नियुक्त समझौता अधिकारी विवादों को निपटाने के लिए दोनों पक्षों को एक साथ बैठाने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में वह दोनों पक्षों की बातों को सुनता है और उनसे आपस में समझौता करने को कहता है या किसी अन्य समाधान का प्रस्ताव करता है। इस समाधान से ये पक्ष सहमत हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं। इस प्रकार समझौते की प्रक्रिया के अंतर्गत दोनों पक्षों को एक साथ लाने का प्रयास किया जाता है, समझौता अधिकारी के निर्णय को दोनों पक्षों पर थोपने का प्रयास नहीं किया जाता।

समझौता अधिकारी के लिए आवश्यक होता है कि वह 14 दिनों के अंतर्गत मध्यस्थता कर दे और अपनी रिपोर्ट सरकार को भेज दें। समझौता बोर्ड के लिए आवश्यक होता है कि वह अपना कार्य दो मास के अंतर्गत समाप्त करके अपनी रिपोर्ट सरकार को पेश कर दे।

यदि समझौता हो जाता है तब इसे रिकार्ड कर दिया जाता है। यदि समझौते का प्रयास असफल रहता है तब संबंधित सरकार के पास असफलता के संबंध में रिपोर्ट भेज दी जाती है। ऐसी स्थिति में सरकार इस विवाद को अधिनिर्णय के लिए भेज देती है।

औद्योगिक संबंधों के क्षेत्र में विवादों के निपटाने के लिए समझौता प्रणाली का सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। इस प्रणाली की सहायता से बहुत बड़ी मात्रा में विवादों को सफलतापूर्वक निपटा दिया गया है। फिर भी निम्नलिखित कारणों से समझौता तंत्र को प्राय: पर्याप्त नहीं माना जाता i) समझौते की प्रक्रिया में बहुत अधिक समय लगता है, ii) समझौता अधिकारी इस कार्य के लिए न तो पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित होते हैं और न ही सक्षम होते हैं, iii) राजनैतिक हस्तक्षेप, और iv) समझौता तंत्र के पास पर्याप्त मात्रा में कर्मचारी नहीं होते।

ख) विवाचन (Arbitration)

समझौता से विवाचन भिन्न होता है। इस प्रणाली के अंतर्गत निर्णय दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी होते हैं। कर्मचारियों और मालिकों द्वारा दिए हुए साक्ष्यों के आधार पर विवाचक (arbitrator) अपना निर्णय देता है।

विवाचन स्वैच्छिक होता है या अनिवार्य होता है। स्वैच्छिक विवाचन (voluntary arbitration) के अंतर्गत दोनों ही पक्ष विवाचक के पास जाने की अपनी इच्छा जाहिर करते हैं और उसके निर्णय को मानते हैं। अनिवार्य विवाचन (compulsory arbitration) की स्थिति में सरकार दोनों ही पक्षों को विवाचन के लिए बाध्य करती है। इसे अधिनिर्णय भी कहा जाता है।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में स्वैच्छिक विवाचन का प्रावधान है। इस प्रणाली में निम्नलिखित का होना आवश्यक होता है- i) औद्योगिक विवाद हो या उसके होने की संभावना हो; ii) समझौता लिखित रूप में हो; iii) श्रम न्यायालय, औद्योगिक न्यायाधिकरण (industrial tribunal) राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को विवाद को सौंपने के पहले उसे स्वैच्छिक विवाचन के लिए भेजा गया हो, iv) विवाचक या विवाचकों का नाम दिया गया हो, तथा v) विवाचक विवाद की जांच-पड़ताल करेगा तथा विवाचक द्वारा हस्ताक्षरित विवाचन अधिनिर्णय (arbitration award) को संबंधित सरकार को पेश करेगा।

औद्योगिक विवादों को सुलझाने के संबंध में विवाचन को प्रोत्साहित करने के लिए भारत सरकार ने सभी राज्यों में राष्ट्रीय विवाचन संवर्धन बोर्डों की स्थापना की है। फिर भी यह प्रणाली भारत में लोकप्रिय नहीं हो पाई है।

ग) अधिनिर्णय (Adjudication)

यदि समझौता और विवाचन जैसी प्रणालियों से किसी विवाद का निपटारा नहीं होता तो सरकार उसे अधिनिर्णय के लिए भेज सकती है। किसी औद्योगिक विवाद के निपटान के लिए अधिनिर्णय अंतिम विधि होता है।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में अधिनिर्णय तंत्र (adjudication machinery) का प्रावधान है जिसके लिए i) श्रम न्यायालयों, ii) औद्योगिक न्यायाधिकरणों, तथा iii) राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों की स्थापना की जाती है।

i) श्रम न्यायालय (Labour Courts) : औद्योगिक विवाद अधिनियम के अंतर्गत संबंधित सरकार को अधिकार है कि वह श्रम-न्यायालयों की स्थापना करे। श्रम न्यायालयों में केवल एक व्यक्ति होता है जो उच्च न्यायालय में न्यायाधीश रह चुका हो। श्रम-न्यायालय निम्नलिखित मामलों में अधिनिर्णय देता है:

i) स्थायी आदेशों के अधीन किसी नियोक्ता द्वारा दिए गए किसी आदेशी का औचित्य या उसकी वैधता।

ii) किसी श्रमिक की सेवा-मुक्ति (discharge) या बर्खास्तगी (dismissal)

iii) किसी प्रथागत रियायत का विशेषाधिकारी को वापस लेना

iv) किसी हड़ताल या तालाबंदी की अवैधता या अन्यथा

v) अन्य मामले जो औद्योगिक न्यायाधिकरण के लिए आरक्षित न किए गए हों।

ii) औद्योगिक न्यायाधिकरण (Industrial Tribunals) : इसमें भी केवल एक ही व्यक्ति होता है। औद्योगिक न्यायाधिकरण निम्नलिखित मामलों के संबंध में अधिनिर्णय दे सकता है।

i) मजदूरी, जिसमें मजदूरी के भुगतान की अवधि और भुगतान की विधि शामिल होती है।

ii) प्रतिपूरक एवं अन्य भत्ते

iii) काम के घंटे और विश्राम के घंटे

iv) मजदूरी के साथ छुट्टी और अवकाश

v) बोनस, लाभ-सहभाजन, भविष्य निधि और ग्रैच्युटी

vi) अनुशासन के नियम

vii) आधुनिकीकरण

viii) छंटनी और प्रतिष्ठान को बंद कर देना

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि श्रम-न्यायालयों की तुलना में औद्योगिक न्यायाधिकरणों का अधिकार क्षेत्र अधिक व्यापक होता है।

iii) राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (National Tribunals) : औद्योगिक विवाद अधिनियम के अधीन केन्द्रीय सरकार को अधिकार दिया गया है कि निम्नलिखित स्थितियों में वह राष्ट्रीय न्यायाधिकरण का गठन करे : यदि (क) औद्योगिक विवाद राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों से जुड़ा हों, (ख) एक से अधिक राज्यों में स्थित औद्योगिक प्रतिष्ठानों को इस विवाद से प्रभावित होने की संभावना हो।

पिछले कुछ दशकों में अधिनिर्णय तंत्र ने श्रम-प्रबंध संबंधों के अनेक पक्षों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। लेकिन अधिनिर्णय में प्रक्रिया संबंधी त्रुटियां हैं। अधिनिर्णय तंत्र औद्योगिक शांति बनाए रखने में असफल रहा है। यह विवादों के स्वैच्छिक निपटान और श्रमिक संघों के विकास में भी बाधा कर रहा है।

10.4.2 गैर क़ानूनी उपाय (Non-Statutory Measures)

अनुशासन-संहिता (Code of Discipline)

अनुशासन-संहिता जून 1958 में लागू की गई। इसके अंतर्गत कर्मचारियों और नियोक्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि अपने विवादों को सुलझाने के लिए वे वर्तमान तंत्र को काम में लाएं। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे हड़ताल, तालाबंदी या अनुचित कार्य व्यवहार का उपयोग न करें। अनुशासन-संहिता में औद्योगिक संबंधों की समस्याओं के समाधान के लिए विभिन्न प्रकार के कदमों को निर्धारित किया गया है। अनुशासन-संहिता के कार्यान्वयन के लिए सरकार ने केन्द्र और राज्यों के स्तर पर विभिन्न प्रकार की एजेंसियों की भी स्थापना की है। केन्द्र में यह कार्य केन्द्रीय औद्योगिक संबंध तंत्र (central industrial relations machinery) करता है।

आगे के परिच्छेदों में दो अन्य गैर-कानूनी उपायों के संबंध में विस्तार से चर्चा की गई है। ये उपाय हैं : प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता और सामूहिक सौदेबाजी।

बोध प्रश्न ख

1) औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में जिन विभिन्न कानूनी उपायों का प्रावधान किया गया है उन्हें सूचीबद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) बताइए कि निम्नलिखित कथनों में से कौन से सही हैं और कौन से गलत हैं।

i) लोकोपयोगी सेवाओं के लिए समझौता (conciliation) अनिवार्य नहीं होता।

ii) समझौता के अंतर्गत तीसरे पक्ष का हस्तक्षेप शामिल होता है।

iii) भारत में विवाचन (arbitration) सर्वाधिक लोकप्रिय प्रणाली है।

iv) औद्योगिक विवादों को सुलझाने के लिए अधिनिर्णय (adjudication) अंतिम उपाय होता है।

v) औद्योगिक न्यायाधिकरणों (industrial tribunals) की तुलना में श्रम-न्यायालयों के अधिकार अधिक व्यापक होते हैं।

3) समझौता तंत्र (conciliation machinery) को अपर्याप्त पाया गया। क्यों ?

.....

.....

.....

.....

10.5 सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining)

10.5.1 संकल्पना

सामूहिक सादेबाजी दो वर्गों के बीच कार्य की स्थितियों और रोजगार की शर्तों के संबंध में समझौते के लिए बातचीत करना है। इनमें से एक वर्ग कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा वर्ग नियोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करता है। सामूहिक सौदेबाजी का लक्ष्य होता है संघर्ष को रोकना और

समझौता करना। सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया का स्वरूप द्विपक्षीय होता है। सौदेबाजी की प्रक्रिया में केवल दो ही पक्ष होते हैं- कर्मचारी और नियोक्ता। किसी तीसरे पक्ष की ओर से हस्तक्षेप नहीं होता।

10.5.2 सामूहिक सौदेबाजी समझौते के प्रकार (Types of Collective Bargaining Agreement

नियोक्ताओं और श्रमिकों के बीच के सामूहिक सौदेबाजी समझौते को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है :

1. वे समझौते जो अपने कार्यान्वयन के लिए पूर्णत: स्वैच्छिक होते हैं।
2. वे समझौते जिनके संबंध में बातचीत और उसका निपटान मुख्यत: संबद्ध पक्ष ही करते हैं, पर इस समझौते का पंजीकरण वे सुलह कराने वाले (conciliator) के पास करते हैं।
3. वे समझौते जिन्हें कानूनी रूप देना होता है, क्योंकि विवादास्पद मामले जब न्यायाधिकरण के सम्मुख होते हैं तब किए गए समझौते को रिकार्ड करना आवश्यक होता है।

सौदेबाजी प्राय: तीन स्तरों पर की जाती है : i) प्लांट स्तर पर, ii) उद्योग स्तर पर और ii) राष्ट्रीय स्तर पर

i) **प्लांट स्तर (Plant Level)** : जब समझौते की बातचीत प्लांट के प्रबंधकों और प्लांट के श्रमिक संघ या श्रमिक संघों के बीच की जाती है।

ii) **उद्योग स्तर (Industry Level)** : जब किसी एक ही उद्योग की अनेक इकाइयां एक ऐसा संघ बनाती हैं जो उद्योग के मान्यता प्राप्त श्रमिक संघ के साथ समझौते की बातचीत करता है। प्लांट स्तर के समझौते की तुलना में उद्योग स्तर पर किए गए समझौते का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है।

iii) **राष्ट्रीय स्तर (National Level)** : राष्ट्रीय स्तर के समझौते के लिए विषय-क्षेत्र और विचारार्थ विषय बहुत अधिक व्यापक होते हैं। श्रमिक संघ और नियोक्ता के प्रतिनिधि बातचीत करते हैं और किसी सहमति पर पहुंचते हैं। इस प्रकार का राष्ट्रीय स्तर का समझौता भारत में कम स्थितियों में ही होता है।

10.5.3 सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया (Collective Bargaining Process)

सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया की शुरूआत मांग के चार्टर से होती है, जिसे श्रमिक संघ प्रबंध के सम्मुख रखते हैं। इस संबंध में पहला कदम चल रहे समझौतों के लिए संबंध कायम करना होता है। सामूहिक सौदेबाजी के संबंध को कायम करने की प्रक्रिया के लिए बहुत अधिक प्रयास करना होता है। सौदेबाजी की प्रक्रिया में दूसरे कदम का संबंध सौदेबाजी के विषय-क्षेत्र में होता है अर्थात् वे विषय जिनके संबंध में सौदेबाजी करनी है। सौदेबाजी की प्रक्रिया में तीसरा कदम सावधानी पूर्वक संरचना करना होत है, जिससे संबंधित पक्ष आसानी से समझौता कर पाते हैं।

सौदेबाजी करने वाले दोनों पक्षों के प्रतिधियों की संख्या में संतुलन होना चाहिए। दोनों ही पक्षों के बीच समय, स्थान और सौदेबाजी के सेशनों की अवधि के संबंध में सहमति होनी चाहिए। प्रतिनिधि जब सौदा करने के लिए टेबुल पर आते हैं उस समय उनके पास फर्म की आर्थिक स्थिति के संबंध में तथा उस क्षेत्र की तुलनीय फर्मों में वेतन की दरों और रोजगार की स्थितियों के संबंध में आवश्यक सूचना और आंकड़े होने चाहिए। प्रबंध को चाहिए कि वह वित्तीय देयता, पहले के समझौतों तथा वर्तमान बातचीत का भविष्य में पड़ने वाले प्रभाव को ध्यान में रखे।

10.5.4 सामूहिक सौदेबाजी की पूर्वापेक्षाएं (Pre-requisites for Collective Bargaining)

सफलतापूर्वक सामूहिक सौदेबाजी की पूर्वापेक्षाएं निम्नलिखित हैं :

i) सामूहिक सौदेबाजी के लिए आवश्यक होता है कि समझौते की बातचीत करने वाले पक्षों के प्रतिनिधियों में पर्याप्त मात्रा में परिपक्वता हो।

ii) जो श्रमिक संघ सामूहिक सौदेबाजी की प्रक्रिया में भाग लेते हैं उन्हें मजबूत होना चाहिए। प्रबंध को चाहिए कि वह श्रमिक संघ को मान्यता प्रदान करे तथा सद्भाव के साथ सौदा करे।

iii) दोनों पक्षों को चाहिए कि वे की गई मांगों के संबंध में विचार करते समय नम्यता की नीति अपनाएं।

iv) उन्हें चाहिए कि वे उस क्षेत्र में उसी प्रकार के उद्योगों में मजदूरी और अन्य कल्याण कार्यों के संबंध में तुलनीय आंकड़े एकत्र करे।

v) सामूहिक सौदेबाजी की कार्यसूची (agenda) को जटिल होने के कारण आवश्यक होता है कि समझौते की बातचीत करने वाले व्यक्ति अनुभवी और कुशल हों।

10.6 प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता (Worker's Participation in Management)

10.6.1 संकल्पना

प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता (WPM) की संकल्पना से आशय उस तंत्र से होता है जिसमें उद्यम में निर्णय लेने की प्रक्रिया में श्रमिकों का भी हाथ होता है। यह तभी संभव है जब उद्यम के प्रबंध में श्रमिकों को भी भागीदार माना जाए। इसका अर्थ है कि श्रमिक प्रबंध में भाग ले और उसकी जिम्मेदारियों में हिस्सा लें।

श्रमिकों की सहभागिता का क्षेत्र और उसकी मात्रा उन उद्देश्यों पर निर्भर करती है जिन्हें औद्योगिक संबंध-प्रणाली के तीन कारकों द्वारा प्राप्त करना होता है। ये तीनों कारक हैं - कर्मचारी, नियोक्ता और सरकार। भारत में श्रमिक आशा करते हैं कि WPM के फलस्वरूप उनका रोजगार सुरक्षित हो सकेगा तथा मजदूरी, बोनस आदि की स्थिति में सुधार होगा। नियोक्ता आशा करते हैं कि उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप उनका लाभ अधिकतम हो सकेगा। WPM से सरकार आशा करती है कि उत्पादिता बढ़ेगी और औद्योगिक संबंध शांतिपूर्ण होंगे।

10.6.2 भारत में प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की योजना (Schemes of WPM in India)

भारत में WPM की तीन प्रमुख योजनाएं लागू की गई हैं। इन योजनाओं में निम्नलिखित की स्थापना की व्यवस्था है- i) मालिक-मजदूर समितियां ii) संयुक्त प्रबंध परिषदें, iii) प्रतिष्ठान परिषदें, और iv) संयुक्त परिषदें

1) मालिक-मजदूर समितियां (Works Committees)

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में निम्नलिखित उद्देश्यों से इन समितियों की स्थापना का प्रावधान किया गया- श्रमिकों और मालिकों के बीच के संबंध को सुधारना और श्रमिकों और मालिकों के समान हित के मामलों में उनके मतभेदों को दूर करना।

इस समिति में मालिकों और मजदूरों द्वारा चुने गए प्रतिनिधि समान संख्या में होते हैं। मालिक-मजदूर समिति की सिफारिशों को मानना मालिकों या मजदूरों के लिए अनिवार्य नहीं होता। लेकिन इन समितियों की कार्य प्रणाली निम्नलिखित कारणों से संतोषजनक नहीं है : (क) समिति के कार्यक्षेत्र और

कार्यों का स्पष्ट न होना, (ख) समितियों के निर्वाचित सदस्यों में परस्पर संघर्ष का होना, और iii) उद्यमों में कार्य कर रहे श्रमिक संघों की ओर से पर्याप्त समर्थन प्राप्त न होना।

ii) संयुक्त प्रबंध परिषदें (Joint Management Councils)

उद्योग नीति संकल्प, 1956 में कहा गया था कि "सामाजवादी प्रजातंत्र में विकास के संयुक्त कार्य में श्रमिक भागीदार होते हैं अत: उन्हें इसमें उत्साहपूर्वक भाग लेना चाहिए। प्रबंध कार्य में उनका परामर्श लेना चाहिए और जहां तक संभव हो श्रमिकों और तकनीशियनों को प्रबंध कार्य में भागीदार बनाना चाहिए। 1958 में संयुक्त प्रबंध परिषदों (JMCs) का गठन किया गया जिसके सदस्य श्रमिकों और प्रबंध के प्रतिनिधि होते हैं। JMC की योजना की अनिवार्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं : (क) कुछ विशिष्ट मामलों में इस परिषद् से परामर्श करना आवश्यक होता है, (ख) कुछ अन्य मामलों में प्रबंध से अपेक्षा की जाती है कि वह परिषद को सूचना देगा, और (ग) कुछ कार्यों के संबंध में प्रशासनिक दायित्व परिषद को देना होता है। मजदूरी, बोनस तथा भत्तों संबंधी मामलों की जो सामूहिक सौदेबाजी के क्षेत्र में होते हैं, JMC के विषय-क्षेत्र के बाहर रखा गया है।

JMC योजना के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं : i) प्रबंध और श्रमिकों में मैत्रीपूर्ण संबंधों को बढ़ाना, ii) प्रबंध और श्रमिकों के बीच विश्वास और समझदारी का वातावरण लाना, iii) श्रमिकों की कार्यकुशलता को बढ़ाना, iv) श्रमिकों के लिए कल्याण सुविधाओं की व्यवस्था करना और v) इन योजनाओं में भाग लेने के लिए श्रमिकों को प्रशिक्षित करना।

मालिक-मजदूर समितियों के विषय-क्षेत्र की तुलना में JMC का विषय क्षेत्र अधिक व्यापक होता है। इन दोनों में एक दूसरा अंतर यह है कि यह माना जाता है कि कल्याण-कार्यों, सुरक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण (vocational training) आदि के संबंध में प्रशासनिक दायित्व JMC पर होगा। अनेक कारणों से JMC योजना के संबंध में प्रगति धीमी रही है। राष्ट्रीय श्रम आयोग (National Commission on Labour) का कहना है कि JMC योजना को सफलता प्राप्त नहीं हुई। अपने कार्यों में JMC को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिनका संबंध प्रबंध, श्रमिकों और श्रमिक संघों के साथ है। कुछ समस्याएं निम्नलिखित रही हैं : i) प्रबंध की ओर से विश्वास और प्रतिबद्धता का अभाव, ii) योजना के उद्देश्यों का स्पष्ट न होना, iii) प्रबंध और श्रमिकों में मतभेद होना, iv) प्रबंध और श्रमिकों का उदासीन रुख होना, v) परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वित न करना या उन्हें कार्यान्वित करने में विलंब करना, और vi) श्रमिक संघों के अंदर विरोध या दूसरे श्रमिक संघों के साथ विरोध।

iii) प्रतिष्ठान परिषदें (Shop Councils)

अक्तूबर 1975 में सरकार ने उद्योग में श्रमिकों की सहभागिता की योजना की घोषणा की। इस योजना में प्रतिष्ठान के स्तर पर प्रतिष्ठान परिषदों और उद्यम के स्तर संयुक्त परिषदों का प्रावधान है।

प्रतिष्ठान परिषद् योजना की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

क) यह योजना उन उद्देश्यों पर लागू होती है जिनमें 500 या उससे अधिक मजदूर काम करते हैं।

ख) प्रत्येक उद्यम को चाहिए कि वह समस्त इकाई के लिए एक या उससे अधिक प्रतिष्ठान परिषदें बनाए।

ग) प्रत्येक प्रष्ठिान परिषद् में मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधि समान मात्रा में होते हैं। मालिकों के प्रतिनिधियों को प्रबंध मनोनीत करता है तथा मजदूरों के प्रतिनिधि संबंधित प्रतिष्ठान या विभाग के होते हैं।

घ) प्रतिष्ठान परिषदों की संख्या कितनी हो इस संबंध में निर्णय मालिक मान्यता प्राप्त श्रमिक संघों के साथ परामर्श करके करते हैं।

ङ) प्रत्येक परिषद में सदस्यों की संख्या कितनी हो इस संबंध में निर्णय मालिक मान्यता प्राप्त श्रमिक संघों के साथ परामर्श करके करते हैं।

च) प्रतिष्ठान परिषद् में निर्णय मतदान द्वारा नहीं लिये जाते, बल्कि आम सहमति से लिये जाते हैं।

छ) प्रतिष्ठान परिषद् के निर्णय से संबंधित पक्ष एक महीने की अवधि के अंतर्गत कार्यान्वित करते हैं।

ज) प्रतिष्ठान परिषद् अपनी स्थापना की तिथि से दो वर्षों की अवधि तक कार्य करेगा।

झ) प्रतिष्ठान परिषद् के लिए आवश्यक है कि वह एक महीने में कम से कम एक बार अपनी बैठक करे।

ञ) प्रतिष्ठान परिषद् का अध्यक्ष प्रबंध द्वारा मनोनीत व्यक्ति होता है तथा उसके उपाध्यक्ष का निर्वाचन मजदूर अपने बीच से करते हैं।

प्रतिष्ठान परिषदों के मुख्य कार्य ये हैं : उत्पादन, उत्पादिता और कार्य कुशलता में सुधार लाना, अनुपस्थिति और कम उत्पादिकता की समस्याओं का अध्ययन और उनसे संबंधित उपायों की सिफारिश करना, अनुशासन बनाए रखने में प्रतिष्ठान की सहायता करना, प्रतिष्ठान में सुरक्षा के उपायों, कार्य स्थितियों, कल्याण कार्यों आदि की देखभाल करना तथा श्रमिकों और प्रबंध के बीच विचारों के आदान-प्रदान को बनाए रखना।

iv) संयुक्त परिषदें (Joint Councils)

संयुक्त परिषद् का कार्यकाल दो वर्षों का होता है। इसका अध्यक्ष मुख्य कार्यपालक होता है। परिषद् में श्रमिकों के सदस्य उपाध्यक्ष को मनोनीत करते हैं। संयुक्त परिषद् सचिव की नियुक्ति करता है जो परिषद् के कार्यों को करता है। संयुक्त परिषद् की बैठक चार महीनों में एक बार होती है। परिषद् में निर्णय आम सहमति से लिए जाते हैं। निर्णय को एक मास के अंतर्गत कार्यान्वित करना होता है।

संयुक्त परिषदों के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं : (क) उत्पादिता का मानकों को निश्चित करना; (ख) जिन समस्याओं का समाधान प्रतिष्ठान परिषदों में नहीं हो पाता, उनका समाधान करना; (ग) यह देखना की उत्पादन के लक्ष्यों को प्राप्त कर लिया जाए जिससे कच्चे माल का अनुकूलतम उपयोग हो सके; तथा समस्त इकाई के सामान्य स्वास्थ्य तथा सुरक्षा के उपायों की देखभाल करना।

कहा जा सकता है कि भारत में प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता (WPM) श्रमिकों और प्रबंध के बीच सहयोग लाने के लक्ष्य को प्राप्त न कर पाई है। इसके अनेक कारण रहे हैं। जैसे कि योजनाओं के प्रति प्रबंध का उदासीन रुख, योजनाओं को कार्यान्वित करने के संबंध में सरकार की ओर से कोई कार्यवाही न होना; तथा इन योजनाओं के प्रति श्रमिक संघों का उदासीन रहना।

WPM योजनाओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए कुछ हालतों का होना आवश्यक होता है, जैसे कि कुशल प्रबंध, सक्षम श्रमिक संघ तथा प्रभावशाली ढंग से सहभागिता के लिए श्रमिकों को शिक्षित करना।

बोध प्रश्न ग

1) सामूहिक सौदेबाजी की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) सफल सामूहिक सौदेबाजी के लिए कोई दो पूर्वापेक्षित स्थितियां (pre-requisites) बताइए।

.....

.....

.....

.....

3) JMC योजना के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ?

.....

.....

.....

.....

10.7 सारांश

देश में औद्योगिक शांति स्थापित करने और उसे बनाए रखने में औद्योगिक संबंधों का बहुत अधिक योगदान होता है। हमारे देश में अनेक कारकों ने औद्योगिक संबंधों को प्रभावित किया है– जैसे कि सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कारक।

आजादी के बाद औद्योगिक संबंधों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं। औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 बनाया गया जिसमें औद्योगिम विवादों के निपटान के लिए स्थायी तंत्र स्थापित करने का प्रावधान है।

औद्योगिक विवादों की रोकथाम करने तथा उन्हें निपटाने के लिए जो अनेक उपाय किए गए हैं उनका व्यापक वर्गीकरण यों किया जा सकता है : i) कानूनी उपाय और ii) गैर-कानूनी उपाय। कानूनी उपायों का संबंध उन विभिन्न प्रकार के तंत्रों से है जिनकी स्थापना सरकार ने औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अंतर्गत की है। इस अधिनियम में जिस औद्योगिक संबंध तंत्र का प्रावधान है उसके अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं : (क) समझौता, (ख) विवाचन, और (ग) अधिनिर्णय। गैर-कानूनी उपायों के अंतर्गत आते हैं- अनुशासन संहिता, प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता (WPM) तथा सामूहिक सौदेबाजी। ये उपाय विवादों को सुलझाने में सहायक होते हैं। सरकार इनके संबंध में सहायता प्रदान करती है।

शोषण से श्रमिकों की रक्षा के लिए अनेक श्रम कानून बनाए गए। परंतु श्रम-कानूनों के अंतर्गत स्वस्थ श्रम-प्रबंध संबंधों को बढ़ावा देने पर उतना जोर नहीं दिया जाता जितना कि विवादों को निपटाने पर जोर दिया जाता है।

10.8 शब्दावली

समझौता (Conciliation) : विवाद को निपटाने की वह प्रणाली जिसमें किसी तीसरे पक्ष की मध्यस्थता की आवश्यकता होती है।

सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining) : कार्य स्थितियों और रोजगार की शर्तों के संबंध में दो ग्रूपों के बीच समझौते की बातचीत। इनमें से एक ग्रूप श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करता है तथा दूसरा ग्रूप मालिकों का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता (Worker's Participation in Management) : वह तंत्र जिसके अंतर्गत किसी उद्यम के मामलों में निर्णय लेने की प्रक्रिया में श्रमिकों का भी हाथ होता है।

10.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 1. क) कर्मचारी

ख) नियोक्ता

ग) सरकार

ख 2. i) गलत, ii) सही, iii) गलत, iv) सही, v) गलत

10.10 स्व-परख प्रश्न

1. औद्योगिक संबंधों की संकल्पना की परिभाषा दीजिए। आजादी के बाद औद्योगिक संबंधों की रूपरेखा को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
2. औद्योगिक विवादों के विभिन्न कारणों के संबंध में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. औद्योगिक विवादों की रोकथाम करने और उन्हें निपटाने संबंधी विभिन्न उपायों का परीक्षण कीजिए।
4. सामूहिक सौदेबाजी की संकल्पना की व्याख्या कीजिए। सामूहिक सौदेबाजी समझौते कितने प्रकार के होते हैं और उन्हें कैसे किया जाता है ?
5. प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता के संबंध में विवेचन कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए, किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

इकाई 11 छोटे पैमाने का क्षेत्र (Small Scale Sector)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 छोटे पैमाने के क्षेत्र का महत्व और विकास
  11.2.1 परिभाषा
  11.2.2 महत्व
  11.2.3 छोटे पैमाने के क्षेत्र की विकास
11.3 छोटे पैमाने के क्षेत्र की समस्याएं
11.4 संस्थागत ढांचा
  11.4.1 राष्ट्रीय स्तर की संस्थाएं
  11.4.2 राज्य स्तर की आधारिक संरचनाएं
  11.4.3 जिला स्तर के केन्द्र
11.5 छोटे पैमाने के उद्योगों के प्रति सरकारी नीति
  11.5.1 छोटे पैमानों के उद्योगों के लिए उद्योग नीति
  11.5.2 छोटे पैमाने के उद्योगों के संवर्धन के लिए कार्यक्रम
11.6 सारांश
11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर
11.8 स्व-परख प्रश्न

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- छोटे पैमाने के उद्योगों की परिभाषा दे सकें
- भारत में छोटे पैमाने के क्षेत्र के महत्व और उनके विकास को स्पष्ट कर सकें
- छोटे पैमाने के क्षेत्र को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है उनका विवेचन कर सकें
- छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए संस्थागत ढांचा प्रस्तुत कर सकें
- छोटे पैमाने के उद्योगों के प्रति सरकारी नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकें।

11.1 प्रस्तावना

हमारी अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के क्षेत्र (SSS) की महत्वपूर्ण भूमिका है। रोजगार के अवसरों को बढ़ाने, औद्योगिक उत्पादन में योगदान करने और ग्रामीण एवं पिछड़े हुए क्षेत्रों में उद्योग इकाइयों को फैलाने के संबंध में इसकी क्षमता बहुत अधिक है। उद्यम को बढ़ाने और विदेशी मुद्रा के अर्जन में भी यह बहुत अधिक सहायक होता है। इन्हीं कारणों से इस देश की औद्योगिक नीतियों को बनाने में और पंचवर्षीय योजनाओं में यह क्षेत्र महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

इस इकाई में आप पढ़ेंगे कि भारत की अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के क्षेत्र का क्या महत्व है तथा इस क्षेत्र का विकास किस प्रकार हुआ है। आप यह भी पढ़ेंगे कि इन संस्थाओं को कौन-कौन सी विभिन्न

समस्याओं का सामना करना पड़ता है। छोटे पैमाने के उद्योगों के कार्यक्रमों और नीतियों के संबंध में भी आप पढ़ेंगे और देखेंगे कि इन उद्योगों की संवृद्धि के लिए इस समय किस प्रकार का संस्थागत ढाँचा है। इस इकाई में मुख्यत: छोटे पैमाने के उद्योगों पर जोर दिया गया है।

11.2 छोटे पैमाने के क्षेत्र का महत्व और विकास (Significance and Growth of SSS)

11.2.1 परिभाषा

छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाई की परिभाषा उसके प्लांट और मशीनरी में लगाई गई प्रारंभिक पूंजी के रूप में की जाती है, यह इकाई अपने स्वामित्व में हो, पट्टे पर हो या अवक्रय (hire purchase) पर हो। निवेश की उच्चतम सीमा को बढ़ाने के साथ-साथ इस परिभाषा में भी समय-समय पर संशोधन किया गया है। (तालिका 11.1)

तालिका 11.1 : छोटे पैमाने का उद्योग : परिभाषा में परिवर्तन

	निवेश की कसौटी		रोजगार की कसौटी
अवधि	छोटे पैमाने के उद्योग (Small Scale Industry	आनुषंगिक उद्योग (Ancillary Industry)	
1958 तक	स्थायी पूंजी का निवेश 5 लाख रु. तक	स्थायी पूंजी का निवेश 5 लाख रु. तक	बिजली से चलने की स्थिति में 50 तक श्रमिकों या बिजली से न चलने की स्थिति में 100 तक श्रमिकों का नियोजन
1960 तक	स्थायी परिसंपत्तियों का सकल मूल्य 5 लाख रु. तक	स्थायी परिसंपत्तियों का सकल मूल्य 10 लाख रु. तक	रोजगार की कसौटी को हटा दिया गया
1966 तक	केवल प्लांट और मशीनरी में निवेश 7.5 लाख रु. तक	केवल प्लांट और मशीनरी में निवेश 10 लाख रु. तक	
1975 तक	10 लाख रु.	15 लाख रु.	
1980 तक	20 लाख रु.	25 लाख रु.	
1985 तक	35 लाख रु.	45 लाख रु.	
1990 तक	60 लाख रु.	75 लाख रु.	
1997 तक	3 करोड़ रु.	3 करोड़ रु.	

1966 में दी गई परिभाषा के अनुसार छोटे पैमाने की इकाइयां वे थीं जिनमें स्थायी पूंजी का निवेश 7.5 लाख रु. से कम था तथा आनुषंगिक इकाइयां वे थीं जिनमें स्थायी पूंजी निवेश 10 लाख रु. था।

1975 में निवेश सीमा को बढ़ाकर छोटे पैमाने की इकाइयों के लिए 10 लाख रु. और आनुषंगिक इकाइयों के लिए 15 लाख रु. कर दिया गया। 1977 में अत्यंत छोटी इकाई (Tiny Unit) की संकल्पना लाई गई। इसकी परिभाषा के अंतर्गत निवेश की सीमा एक लाख रु० रखी गई। 1980 के उद्योग नीति विवरण की इकाइयों में निवेश सीमा को बढ़ाकर छोटे पैमाने के लिए 20 लाख रु० आनुषंगिक इकाइयां के लिए 25 लाख रु. कर दिया गया। 1985 में निवेश-सीमा को बढ़ाकर छोटे पैमाने की इकाइयों के लिए 35 लाख रु. और आनुषंगिक इकाइयों के लिए 45 लाख रु. कर दिया गया।

उद्योग नीति विवरण 1990 के अनुसार निवेश सीमा को छोटे पैमाने की इकाइयों के लिए 35 लाख से बढ़ाकर 60 लाख रु. तथा आनुषंगिक इकाइयों के लिए 45 लाख रु. से बढ़ाकर 75 लाख रु. कर दिया गया। अत्यंत छोटी इकाइयों की निवेश सीमा को 2 लाख रु. से बढ़ाकर 5 लाख रु. कर दिया गया।

1997 में निवेश सीमा में पुन: वृद्धि की गई। अब छोटे पैमाने की इकाइयों और आनुषंगिक इकाइयों के लिए इसे 3 करोड़ रु. कर दिया गया है तथा अत्यंत छोटी इकाइयों की निवेश सीमा 25 लाख रु. है।

11.2.2 महत्त्व

पिछले परिच्छेद में हमने पढ़ा है कि रोज़गार पैदा करने, उद्योगों को फैलाने और उद्यम को बढ़ाने के लिए छोटे पैमाने के क्षेत्र में बहुत अधिक क्षमता है। हमारी औद्योगिक अर्थव्यवस्था में इसकी बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। क्योंकि इसमें पूंजी कम लगती है तथा इससे देश के लिए विदेशी मुद्रा का अर्जन बहुत अधिक होता है। छोटे पैमाने के उद्योगों का महत्व निम्नलिखित बातों से स्पष्ट होता है।

आर्थिक विकास में छोटे पैमाने को उद्योगों के महत्व पर जोर देते हुए 1956 के उद्योग नीति संकल्प में निम्नलिखित कहा गया था :

'वे तुरंत ही बडे पैमाने पर रोजगार की व्यवस्था करते हैं, वे राष्ट्रीय आय के अधिक न्यायोचित वितरण की व्यवस्था को सुनिश्चित करते हैं तथा वे पूंजी और कौशल के साधनों को प्रभावी ढंग से उपयोग की व्यवस्था करते हैं। समस्त देश में यदि उद्योग-उत्पादन के छोटे-छोटे केन्द्रों की स्थापना की जाए तो अनियोजित शहरीकरण के कारण उत्पन्न होने वाली बहुत सी समस्याओं से बचा जा सकता है।

इस प्रकार उद्योग नीति संकल्प के अनुसार छोटे उद्योगों के पक्ष में निम्नलिखित तर्क हैं :

1. रोजगार तर्क (Employment Argument) : यह इस मान्यता पर आधारित है कि छोटे उपक्रम श्रम-प्रधान होते हैं और इस प्रकार लगाई गई पूंजी की प्रति इकाई अधिक रोजगार पैदा करती है। विकासशील अर्थव्यवस्था की विशेषता है कि इसमें बेरोजगारी बहुत बड़े पैमाने पर होती है। ऐसी स्थिति में ऐसी अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के उपक्रमों को प्रोत्साहित करना चाहिए क्योंकि ये दुर्लभ पूंजी के उपयोग के द्वारा रोजगार के अवसरों को बढ़ाने में सहायक होते हैं।

2. समानता- तर्क (Equality Argument) : इसका अभिप्राय यह है कि बहुत बड़ी संख्या वाले छोटे पैमाने के उद्यम जिस आय का सृजन करते हैं उसका वितरण थोड़े से बड़े उद्यमों से होने वाली आय की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में होता है। अत: छोटे पैमाने के उद्योग केवल आयका समान वितरण ही नहीं करेंगे, बल्कि आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण को भी कम करेंगे।

3. अप्रकट संसाधन तर्क (Latent Resources Argument) : यह तर्क बताता है कि 1) छोटे पैमाने के उद्यम उन संसाधनों को उपयोग में लाने में सक्षम हैं जो अप्रकट हैं तथा जिनका उपयोग अभी तक नहीं किया जा सका है; 2) छोटे पैमाने के उद्यम छोटे आकार के उद्यमकर्ताओं के एक वर्ग को बढ़ाता है। यह वर्ग अधिक गतिशील और कुशल होता है, तथा छोटे पैमाने के उद्यम निष्क्रिय बचतों (idle savings) को उत्पादन कार्य में लाते हैं।

4. विकेन्द्रीयकरण तर्क (Decentralization Argument) : बड़े पैमाने के उद्यम मुख्यत: महानगरों केन्द्रित होते हैं। अत: आवश्यक है कि बड़े नगरों में इनके जमाव को रोका जाए। छोटे शहरों और गांवों को भी आधुनिक औद्योगिकरण का लाभ होना चाहिए। ऐसा होना तभी संभव होगा जब इन स्थानों पर छोटे-छोटे उद्यमों की स्थापना करके इनके औद्योगिकरण को बढ़ावा दिया जाए।

5. अन्य तर्क

i) कम्प्यूटर जैसे नये उद्योगों के आने से छोटी इकाइयों के लिए आधुनिकी प्रौद्योगिकी तथा नये कौशलों तक पहुंच पाना संभव हो गया है। इनकी सहायता से छोटी इकाइयां अपने उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार ला पाएंगी तथा लागतें घटा सकेंगी।

ii) छोटी इकाइयों को अंतर्निहित लाभ यह है कि निर्णय लेने के संबंध में उनमें लचीलापन होता है। अत: वे नयी विधियां अपना लेती हैं और उनमें उत्पादिता अधिक होती है।

iii) छोटी इकाइयां उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन का शीघ्रता से अध्ययन कर पाती हैं और अपने उत्पादन की प्रक्रिया को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप बना लेती हैं।

iv) जब किसी नये प्रकार के उत्पादन की शुरूआत छोटे पैमाने पर की जाती है तब जोखिम को न्यूनतम करना संभव होता है।

v) छोटी इकाइयां राष्ट्रीय पहचान का प्रतीक होती है। इन पर सदा ही स्थानीय स्तर पर स्वामित्व और नियंत्रण होता है। ये सामाजिक व्यवस्था और राष्ट्रीय पहचान की सांस्कृतिक परंपराओं को मजबूत बनाती है।

11.2.3 छोटे पैमाने के क्षेत्र का विकास (Growth of Small Scale Sector)

आजादी के बाद से छोटे पैमाने के क्षेत्रक (SSS) में बहुत वृद्धि हुई है और आज यह इस देश की अर्थव्यवस्था में प्रमुख क्षेत्रक बन गया है। इस क्षेत्रक में वृद्धि की माप निम्नलिखित मापदंडों से की जा सकती है : i) औद्योगिक इकाइयां, ii) उत्पादन, iii) रोजगार, iv) पूंजी का निवेश, और v) निर्यात। इस क्षेत्रक में लगातार वृद्धि केवल यूनिटों के ही रूप में नहीं बल्कि रोजगार और उत्पादन के रूप में भी हुई है (तालिका 11.2)। इस क्षेत्रक में अद्‌भुत वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि सरकार से इसे पर्याप्त रूप में प्रोत्साहन, सहायता तथा मार्ग निर्देश प्राप्त हुआ।

11.2 छोटे पैमाने के क्षेत्र का विकास (1980-81 से 1992-93)

इन आंकड़ों से पता चलता है कि छोटे पैमाने की इकाइयों (SSI) की संख्या 1980-81 के लगभग 9

तालिका 11.2 छोटे पैमाने के क्षेत्र का विकास (1980–81 से 1992–93)

वर्ष	इकाइयों की संख्या (लाख) में	रोजगार (लाख) में	उत्पादन (वर्तमान की मतों मतों पर करोड़ रु० में
1980-81	8.74	71.0	28,060
1981-82	9.62	75.0	32.600
1982-83	10.59	79.0	35.00
1983-84	11.55	84.2	41.620
1984-85	12.40	90.0	50.520
1985-86	13.53	96.0	61.228
1986-87	14.62	101.4	72.250
1987-88	15.83	107.0	87.300
1988-89	17.12	113.0	106.400
1989-90	18.23	119.6	132.320
1990-91	19.48	125.3	155.340
1991-92	20.80	129.8	178.699
1992-93	22.35	134.0	209.300

लाख से बढ़कर 1996-97 तक लगभग 29 लाख हो गई। इसी अवधि में इन इकाइयों द्वारा लाए गए रोजगार की संख्या 71 लाख से बढ़कर 160 लाख हो गई। इसी अवधि में उत्पादन का मूल्य 28,060 करोड़ रु. से बढ़कर 4,12,636 करोड़ रु. हो गया। इसके अतिरिक्त इसी अवधि में छोटे पैमाने की इकाइयों द्वारा अर्जित निर्यात का मूल्य 1,643 करोड़ रु. से बढ़कर 39,249 करोड़ रु. हो गया। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि कुछ प्राक्कलनों के अनुसार भारत के कुल निर्यात के मूल्य में छोटे पैमाने के निर्यात का मूल्य 35 प्रतिशत है।

छोटे पैमाने के क्षेत्रक को जिन कुछ उद्योगों का निर्यात में प्रमुख योगदान है वे हैं : सिले-सिलाए वस्त्र, चमड़े से बनी वस्तुएं, हस्तशिल्प की वस्तुएं, जवाहरात और आभूषण, हौजरी, समुद्री उत्पाद, कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर, आदि।

बोध प्रश्न क

1) छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाई की परिभाषा क्या है ?

.....

.....

.....

.....

2) लघु उद्योगों के पक्ष में समानता तर्क (equality argument) दीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) छोटे पैमाने के क्षेत्र में वृद्धि की माप के लिए विभिन्न मापदंडों के संबंध में बताइए।

i) ..... ii) .....

iii) ..... iv).....

4) खाली स्थानों को भरिए

i) ..... को बढ़ावा देने और..... के अर्जन में छोटे पैमाने का क्षेत्रक सहायक होता है।

ii) 1977 में..... इकाई की संकल्पना की शुरूआत की गई।

iii) छोटे उद्यम निक्रिय बचतों को..... के कार्य में लाते हैं।

iv) जब किसी नये प्रकार के उत्पादन की शुरूआत छोटे पैमाने पर की जाती है तब जोखिम को ..... संभव होता है।

v) छोटी इकाइयां..... का प्रतीक होती है।

11.3 छोटे पैमाने के क्षेत्र की समस्याएं (Problems of Small Scale Sector)

पिछले परिच्छेद में हमने छोटे पैमाने के क्षेत्र के महत्व और उसकी वृद्धि के संबंध में विचार किया। रोजगार पैदा करने, औद्योगिक उत्पादन और निर्यात के क्षेत्र में छोटे पैमाने के उद्योगों का बहुत अधिक योगदान है। लेकिन इन उद्योगों के संगठनात्मक ढांचे के कारण अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। नीचे हम इन उद्योगों की प्रमुख समस्याओं के संबंध में विस्तार से चर्चा करेंगे।

1. **कच्चें माल की उपलब्धता (Availability of Raw Materials)** : छोटे पैमाने के उद्योगों के सामने कच्चे माल की दुर्लभता एक प्रमुख समस्या होती है। कच्चे माल की दुर्लभता के कारण अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता की बरबादी होती है तथा संबंधित उद्योग इकाई को नुकसान होता है। छोटे पैमाने के क्षेत्रक को कच्चे माल की पूर्ति के संबंध में सरकार की ओर किए गए अनेक उपायों के बावजूद इस क्षेत्रक को उचित अनुपात में कच्चा माल नहीं मिल पाता।

   इसके अतिरिक्त छोटे पैमाने के अनेक उद्योग आयात किए गए कच्चे माल का उपयोग करते हैं। अत: विदेशी मुद्रा की कमी या अन्य किसी कारण से ऐसे आयातित कच्चे माल को प्राप्त करने में जब भी कोई कठिनाई होती है, तब इन उद्योगों को बहुत अधिक घाटा उठाना पड़ता है।

2. **वित्त की समस्या (Problem of Finance)** : वित्त और ऋण की अपर्याप्त रूप में व्यवस्था छोटे पैमाने की इकाइयों के लिए प्रमुख समस्या होती है। हमारी औद्योगिक अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के उद्योगों की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए देश के कुल उद्योगों को दिए जाने वाले कुल ऋण में छोटे उद्योगों को दिए जाने वाले कुल ऋण की रकम का भाग बहुत ही कम है। हाल के वर्षों में इन उद्योगों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता के संबंध में कुछ सुधार हुआ है। फिर भी अधिकतर कारीगरों और शिल्पकारों को उनकी आवश्यकता के अनुसार ऋण नहीं मिल पाता, विशेषत: उन कारीगरों और शिल्पकारों को जो समाज के सबसे अधिक गरीब वर्ग के होते हैं और जो छोटे-छोटे शहरों और गांवों में रहकर काम करते हैं।

3. **विपणन की समस्याएं (Problem of Marketing)** : विपणन की बाध्यता (marketing constraints) छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए एक अन्य प्रमुख समस्या है। विपणन के संगठन के न होने से इनमें से अधिकतर उद्योगों को अपने विक्रय को स्थानीय बाजारों तक ही सीमित रखना होता है। क्योंकि दूर के बाजारों के ग्राहकों तक उनकी पहुंच नहीं होती अत: वे अपने उत्पादन के पैमाने को बढ़ा नहीं पाते। मांग की कमी होने के कारण उन्हें कार्यशील पूंजी और वित्तीय संसाधनों की कमी का सामना करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप अपने उत्पादों को उन्हें कम कीमतों पर बेचना पड़ता है।

4. **बिजली की कमी (Shortage of Power)** : बिजली की कमी का दुष्प्रभाव सबसे अधिक छोटे उत्पादकों पर पड़ता है। सस्ती दर पर बिजली उपलब्ध न होने के कारण छोटे पैमाने के उद्योग अपनी उत्पादन क्षमता का पूरी तरह से उपयोग नहीं कर पाते। इन उद्योगों को अपने उपलब्ध संसाधनों से ही काम चलाना पड़ता है। इस कार्य के लिए वे बिजली पैदा करने की इकाइयों की स्थापना नहीं कर सकते क्योंकि उन पर बहुत अधिक खर्च करना होता है।

5. **तकनीकी सहायता की समस्या (Problem of Technical Assistance)** : निम्न स्तर की प्रौद्योगिकी तथा प्रशिक्षित एवं अनुभवी पर्यवेक्षण कर्मचारियों की कमी छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास में बाधक सिद्ध हुई है। ज्ञान और कौशल के क्षेत्र में हुए आधुनिकतम प्रगति तक इनकी पहुंच न होने के कारण इन उद्योगों की उत्पादिता बढ़ नहीं पाई है।

एक अन्य व्यापक समस्या छोटी इकाइयों की बीमारी की है जिसके संबंध में आप इस खंड की इकाई 9 में पढ़ चुके हैं।

11.4 संस्थागत ढांचा (Institutional Framework)

छोटे पैमाने के उद्योग को बढ़ावा देने और उनकी संवृद्धि के लिए सरकार ने बहुत व्यापक संस्थागत ढांचा बनाया है। विकास कार्यक्रमों के विभिन्न पक्षों की देखभाल के लिए इन संस्थाओं का प्रसार भिन्न स्तरों राष्ट्रीय स्तर, राज्य स्तर तथा जिला स्तर तक किया गया है।

11.4.1 राष्ट्रीय स्तर की संस्थाएं (National Level Institutions)

लघु उद्योग विकास संगठन (Small Industries Development Organisation)

लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) उद्योग मंत्रालय के अंतर्गत है तथा इसका प्रधान अधिकारी विकास आयुक्त (Development Commissioner) होता है। यह शीर्ष संस्था है तथा यह देश के छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए नीति निर्धारण करने तथा उनके कार्यों का तालमेल बैठाने वाली और मानीटर करने वाली एजेन्सी का काम करती है। यह संस्था छोटे पैमाने की इकाइयों को तकनीकी सेवाएं, आर्थिक और प्रबंधकीय परामर्श सेवाएं प्रदान करता है। इन इकाइयों को यह प्रशिक्षण, सामान्य सुविधा सेवाएं, सामान्य प्रक्रमण और परीक्षण सुविधाएं, उपकरण सुविधाएं, विपणन सहायता आदि की व्यवस्था भी करता है। SIDO इन सेवाओं की व्यवस्था संस्थाओं के जाल के द्वारा करता है। इसके 28 लघु उद्योग सेवा संस्थाएं (SISI) 30, शाखा संस्थाएं, 37 विस्तार केन्द्र, 19 क्षेत्रीय परीक्षण केन्द्र, केन्द्र और 2 जूता प्रशिक्षण केन्द्र हैं।

लघु उद्योग सेवा संस्थाएं (SISI) उनकी शाखाएं और उनके विस्तार केन्द्र निम्नलिखित सेवाएं प्रदान करते हैं।

i) वर्तमान और संभावी लघु उद्यमों को तकनीकी और प्रबंधकीय सेवाएं प्रदान करती हैं।

ii) प्रबंध और तकनीकी मामलों में प्रशिक्षण कार्यक्रमों की व्यवस्था करते हैं।

iii) उद्योग के नये अवसरों के पहचान के लिए चुने हुए क्षेत्रों और उद्योगों में तकनीकी एवं आर्थिक सर्वेक्षण करते हैं।

iv) नये उद्यमकर्ताओं को प्रोत्साहित करने के लिए उद्यम विकास कार्यक्रमों को चलाते हैं।

v) सामान्य सुविधा सेवाओं और पेशेवर प्रशिक्षण की व्यवस्था करते हैं।

vi) चुने हुए उद्योगों में चुनी हुई इकाइयों के आधुनिकीकरण के लिए रिपोर्ट तैयार करते हैं।

लघु उद्योग सेवा संस्थाओं (SISI) और उनकी शाखाओं के द्वारा लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) उद्यम विकास कार्यक्रमों को चलाता है। इन कार्यक्रमों की शुरूआत ग्रैजुएट इंजीनियरों के लिए की गई थी लेकिन आगे चलकर इनके अंतर्गत महिलाओं, शिक्षित बेरोजगारों, कारीगरों, तकनीशियनों, विकलांगों तथा समाज के कमजोर वर्ग के लोगों को भी ला दिया गया। निर्यात को बढ़ावा देने के लिए SIDO निर्यात विपणन सूचना और निर्यात परामर्श की व्यवस्था करता है तथा प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों और गोष्ठियों का गठन करता है। यह संगठन **लघु उद्योग समाचार** नामक एक मासिक पत्रिका का प्रकाश हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में करता है। इस पत्रिका का उद्देश्य वर्तमान उद्यमियों, संभावी उद्यमियों तथा संबंधित एजेन्सियों को सूचनाएं देना है।

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation NSIC)

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (NSIC) छोटे-छोटे उद्यमों को अवक्रय आधार पर मशीनरी देता है। इसके अन्य कार्य हैं छोटे पैमाने के उद्योगों (SSI) को कच्चे माल और उपकरणों की पूर्ति की योजना को बढ़ावा देना तथा विपणन और निर्यात सेवाएं प्रदान करना।

राष्ट्रीय लघु उद्योग विस्तार प्रशिक्षण संस्थान (National Institute of Small Industry Extension Training) (NISIET)

यह संस्थान लघु उद्योगों, ग्रामीण उद्योगों और शिल्प उद्योगों के विकास, संवर्धन और प्रबंध के क्षेत्र में तथा व्यवहार्यता रिपोर्टों (feasibility reports), प्रायोजना रिपोर्टों, प्रशिक्षण विधियों आदि के संबंध में प्रशिक्षण कार्यक्रमों को चलाता है। लघु उद्योगों के विकास के लिए अपने कार्यक्रमों के संबंध में परामर्श के लिए केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के विभाग इस संस्थान की सेवाओं का उपयोग करते हैं।

राष्ट्रीय उद्यम और लघु व्यवसाय विकास संस्थान (National Institute for Entrepreneurship and Small Business Development) (NIESBUD)

देश के विभिन्न उद्यम विकास संस्थानों द्वारा आयोजित उद्यम विकास कार्यक्रमों में तालमेल बैठाने के

लिए यह एक शिखर संस्था है। अभिप्रेरकों, प्रशिक्षकों और उद्यमकर्ताओं के लिए यह संस्थान प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन करता है। यह विभिन्न संस्थाओं और एजेन्सियों के प्रशिक्षण कार्यों में तालमेल भी बैठाता है। प्रशिक्षण कार्यों को करने वाले विभिन्न संगठनों के लिए यह मॉडल प्रशिक्षण पाठ्यक्रम भी तैयार करता है।

भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (Small Industries Development Bank of India) (SIDBI)

छोटे उद्योगों के विकास कार्य में लगी हुई यह शिखर वित्तीय संस्था है। छोटे उद्योगों की इकाइयों को यह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार की वित्तीय सहायता देती है। विशिष्ट विपणन ऐजेन्सियों, औद्योगिक बस्तियों (Industry estates), मशीनरी के अधिग्रहण, सुलभ ऋण योजनाओं के द्वारा ईक्विटी पूंजी आदि के लिए यह प्रत्यक्ष सहायता देती है। वाणिज्य बैंकों द्वारा यह अप्रत्यक्ष सहायता देती है।

11.4.2 राज्य स्तर की आधारिक संरचनाएं (State Level Infrastructure)

राज्य के स्तर पर उद्योगों के विकास के संबंध में विभिन्न कार्यक्रमों में तालमेल बैठाने के लिए उद्योग निदेशालय शिखर संस्था है। उद्योग सेवाओं के प्रावधान के द्वारा लघु उद्योग विकास निगमों (SIDC) की प्रमुख भूमिका होती है। राज्य वित्त निगम (SFC) लघु उद्योगों के आवधिक ऋणों की व्यवस्था करते हैं। सभी राज्यों के अधिकतर जिलों में SFC की शाखाएं है।

अधिकतर राज्यों ने अपने-अपने उद्यम विकास संस्थान स्थापित किए हैं। हाल के वर्षों में कुछ राज्यों ने लघु उद्योग विपणनन निगमों की भी शुरूआत की है।

11.4.3 जिला स्तर के केन्द्र (District Level Centres)

ग्रामीण और छोटे स्तर के उद्यमकर्ताओं को एक ही छत के नीचे विभिन्न प्रकार की सेवाओं और सहायता की व्यवस्था के लिए 1978 में जिला उद्योग केन्द्र कार्यक्रम (District Industries Centres Programme) की शुरूआत की गई। देश के कुल 436 जिलों में से 431 जिलों के लिए इस समय 422 जिला उद्योग केन्द्र है। इन केन्द्रों का प्रायोजन केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें सम्मिलित रूप से करती हैं।

बोध प्रश्न ख

1) छोटे पैमाने की क्षेत्र की समस्याओं का सूचीबद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) लघु उद्योग सेवा संस्थाएं (SISI) किस प्रकार की सेवाएं प्रदान करती हैं ?

.....

.....

.....

.....

3) भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI) के कार्य क्या हैं ?

.....

.....

11.5 छोटे पैमाने के उद्योगों के प्रति सरकारी नीति (Govt. Policy Towards Small Scale Industry)

11.5.1 छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए उद्योग नीति (Industrial Policy for Small Scale Industry)

उद्योग नीतियों में छोटे पैमाने के क्षेत्र को सदा ही प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रथम उद्योग नीति संकल्प (IPR) 1948 में भारत सरकार ने छोटे पैमाने के उद्योगों (SSI) की भूमिका और उनके महत्व पर जोर दिया।

IPR 1956 में SSI की भूमिका पर जोर दिया गया और इसमें पुन: कहा गया कि ये बड़े पैमाने पर रोजगार पैदा करते हैं। इसमें यह भी कहा गया कि SSI राष्ट्रीय आय के समान रूप से वितरण की सुनिश्चित व्यवस्था कराते हैं और संसाधनों के उपयोग की विधि को सुविधापूर्ण बनाते हैं। IPR 1956 ने समस्त छोटे पैमाने के उद्योगों को औद्योगिक लाइसेंस के क्षेत्र से बाहर रखा। इसमें SSI के आधुनिकीकरण और उनकी प्रौद्योगीकीय गुणवत्ता को बढ़ाने पर जोर दिया गया।

1955 में भारत सरकार ने औद्योगिक बस्ती कार्यक्रम (Industrial Estate Programme) की शुरूआत की। इस कार्यक्रम के उद्देश्य थे :

i) विभिन्न आधारिक संरचना सुविधाओं और आर्थिक प्रोत्साहनों के प्रावधानों के द्वारा आधुनिक लघु उद्योगों का संवर्धन, और

ii) ग्रामीण और अर्ध-शहरी केन्द्रों में उपयुक्त स्थानों पर औद्योगिक बस्तियों को कायम करके महानगरों से दूर उद्योगों का प्रसार।

1977 में औद्योगिक बस्तियों की जिम्मेदारी राज्य सरकारों को दे दी गई।

इसके बाद सरकार ने छोटे उद्योगों के संरक्षण और उनके संवर्धन के लिए अनेक योजनाएं लागू की। ये योजनाएं निम्नलिखित थीं :

छोटे पैमाने के क्षेत्र में उत्पादन के लिए मदों का आरक्षण, सरकार, खरीद के लिए छोटे पैमाने के उद्योगों (SSI) में उत्पादित वस्तुओं का आरक्षण, उत्पाद शुल्क की रियायत, रियायती वित्त, आदि। परिच्छेद 11.5.2 में इन सुविधाओं का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इन योजनाओं के अतिरिक्त विकास कार्यक्रमों के विभिन्न पक्षों की देखभाल के लिए अनेक संस्थाओं की स्थापना की गई (परिच्छेद 11.4 में देखिए)।

1977 के उद्योग नीति विवरण में SSI में उत्पादन के लिए आरक्षित वस्तुओं की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि कर दी गई है। उद्योग नीति विवरण (Industrial Policy Statement) 1980 में SSI के लिए वर्तमान सुविधाओं में और भी वृद्धि के लिए मार्ग निर्देश दिए गए हैं।

छोटे उद्योगों के लिए नई नीति (New Policy for Small Industries) 1991

1991 में सरकार ने छोटे पैमाने के उद्योगों (SSI) के लिए एक अलग नीति घोषित की। 1991 तक SSI के लिए नीति संबंधी उपाय सामान्य उद्योग नीति के भाग होते थे। नई उद्योग नीति 1991 में मुख्य रूप से जोर SSI को विकसित करने के संबंध में था। नई उद्योग नीति की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

i) अन्य नये औद्योगिक उपक्रमों को, जिनमें विदेशी कंपनियां भी शामिल हैं, 24 प्रतिशत तक ईक्विटी सहभागिता की अनुमति ऐसा आधुनिकीकरण करने और प्रौद्योगिकी की कोटि उच्च करने को प्रोत्साहित करने के लिए किया जाता है।

ii) बड़े और छोटे पैमाने के उद्यमों में उत्पादन कार्यक्रमों में पूरकता (complementarity) को प्रोत्साहित करना।

iii) छोटे क्षेत्रों और अत्यंत छोटे (tiny) क्षेत्रकों के बीच देशीय कच्चे माल के आबंटन के संबंध में प्राथमिकता प्रदान करना।

iv) संस्थागत वित्त तक पहुंच को सरल बनाना।

v) निर्यात संवर्धन में SSI की सहायता के लिए लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) को नोडल एजेन्सी के रूप में मान्यता देना।

vi) सामान्य ब्रांड नामों के अंतर्गत SSI के उत्पादों की बिक्री को प्रोत्साहित करना।

vii) राष्ट्रीय ईक्विटी फंड का विस्तार करना (10 लाख रु. तक की प्रायोजनाओं के लिए)।

viii) सिंगल विंडो ऋणों का विस्तार करना (20 लाख रु. तक की प्रायोजनाओं को इसके अंतर्गत लाने के लिए)। इस संबंध में वाणिज्य बैंकों का भी सहयोग लेना है।

ix) औद्योगिक बस्तियों की स्थापना के लिए निजी उद्योगों को भी अनुमति देना।

x) सेवा क्षेत्र को अत्यंत छोटे क्षेत्रक के रूप में मान्यता देना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समय बीतने के साथ-साथ छोटे पैमाने के उद्योगों को अत्यधिक महत्व मिलने लगा है। पहले की नीतियों में भारत के आर्थिक विकास में छोटे पैमाने के उद्योग के महत्व पर जोर दिया गया था। परन्तु 1991 की नई उद्योग नीति में छोटे पैमाने के क्षेत्र के विकास के संबंध में और भी अधिक जोर दिया गया। छोटे पैमाने के उद्योगों की प्रतिस्पर्धा शक्ति में सुधार लाने के लिए अनेक नवीन प्रक्रिया योजनाओं की घोषणा की गई।

11.5.2 छोटे पैमाने के उद्योगों के संवर्धन के लिए कार्यक्रम (Programme for Prmotion of Small Scale Industry)

छोटे पैमाने के उद्योगों के संवर्धन और संवृद्धि के लिए सरकार ने नीतियों और प्रोत्साहनों के संबंध में अत्यंत व्यापक योजना बनाई है।

उत्पादन के लिए मदों का आरक्षण (Reservation of Items for Productions)

कुछ वस्तुओं के उत्पादन को पूर्णत: छोटे पैमाने के क्षेत्रक के लिए आरक्षित करने की नीति 1967 में लागू की गई और इसके अंतर्गत 47 उत्पादों को रखा गया। ऐसे आरक्षित मदों की संख्या इस समय 814 है। औद्योगिक विकास और विनियमन, 1951 में संशोधन करके मदों के आरक्षण की नीति को 1984 में सांविधिक समर्थन प्रदान किया गया।

केवल छोटे पैमाने के क्षेत्र से क्रय के लिए मदों का आरक्षण (Reservation of Items for Exclusive Purchasing from Small Scale Sector)

इस नीति के अंतर्गत 410 मदों को केवल सरकार द्वारा क्रय के लिए आरक्षित किया गया है। सरकारी विभागों में इन 410 वस्तुओं की जितनी भी मात्रा में आवश्यकता पड़ती है उनका क्रय केवल छोटे पैमाने के क्षेत्रक से ही किया जाएगा। छोटे पैमाने के क्षेत्रक से क्रय का कार्य पूर्ति और निपटान महानिदेशालय (DGS&D) करता है।

पिछले क्षेत्रों में प्रोत्साहन (Incentives in Backward Areas)

उद्योगों के उद्यमकर्ता पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक उपक्रम स्थापित कर सकें इसके लिए केन्द्रीय सरकार ने उन्हें अनेक प्रोत्साहनों को देने की व्यवस्था की है। ये प्रोत्साहन निम्नलिखित हैं- रियायती वित्त, स्थायी पूंजी निवेश पर आर्थिक सहायता, लाइसेंस, देने के संबंध में अधिमानी व्यवहार (preferential treatment) आदि।

केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क में छूट (Central Excise Duty Exemption)

छोटे पैमाने की इकाइयों के लिए उत्पाद-शुल्क में छूट की योजना 1986-87 में लागू की गई। इस योजना के अंतर्गत, जो इस समय 1997-98 से लागू है, एक वर्ष के अंतर्गत 30 लाख रु. तक की निकासी पर पूरी छूट दी जाती है, 30 लाख रु. से 50 लाख रु. तक की निकासी पर 3% की सपाट दर (flat rate) पर शुल्क लगाया जाता है तथा 100 लाख रु. तक की निकासी पर 5% शुल्क लगाया जाता है।

अधिकतर राज्य सरकारें छोटे पैमाने के उद्योगों के विभिन्न उत्पादों पर विभिन्न मात्रा में बिक्री करके छूटें देती हैं।

अनुषंगी विकास उप-ठेंका कार्यालय (Ancillary Development Sub-Contracting Exchange)

लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) ने देश में छोटे पैमाने की अनुषंगी और उप-ठेका इकाइयों को विकसित करने के लिए केन्द्रीय सरकार के स्तर पर अनुषंगी विकास विभाग (Ancillary Development Division) की स्थापना की है। इसके अंतर्गत देश के विभिन्न भागों में लघु उद्योग सेवा संस्थानों (SIS) में 16 उप-ठेका कार्यालय स्थापित किए गए हैं। ये कार्यालय बड़े पैमाने के क्षेत्र में क्रेताओं और छोटे पैमाने के क्षेत्र में विक्रेताओं की आवश्यकताओं में ताल बैठाने के लिए सूचना-गृह का काम करते हैं।

विपणन सहायता (Marketing Assistance)

छोटी इकाइयों द्वारा अपने उत्पाद को बेचने के संबंध में उनकी सहायता के लिए लघु उद्योग विकास निगम (SIDC) छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाइयों की ओर से पूर्ति और निपटान महानिदेशालय (DGS&d) रेलवे, रक्षा मंत्रालय, राज्य स्टोर क्रय अधिकारियों, सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों आदि विभिन्न ऐजेन्सियों को टेंडर प्रस्तुत करता है।

निर्यात संवर्धन (Export Promotion)

छोटे पैमाने के उद्योगों के उत्पादों के निर्यात के संवर्धन के लिए SIDO निम्नलिखित सुविधाएं प्रदान करता है।

i) निर्यात विपणन सूचना

ii) निर्यात-परामर्श

iii) निर्यात विपणन के संबंध में प्रशिक्षण पाठ्यक्रम और गोष्ठियों का आयोजन

छोटे पैमाने की इकाइयां विदेशी क्रेताओं से संपर्क कायम कर सकें, इस कार्य में उनकी सहायता के लिए व्यापार प्रतिनिधिमंडलों और अध्ययन दलों का आयोजन किया जा रहा है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत व्यापार प्रतिनिधिमंडलों पर हुए कुल व्यय के 60 प्रतिशत का वहन वाणिज्य मंत्रालय विपणन विकास सहायता योजना (Marketing Development Assistance Scheme) के अंतर्गत किया जाता है।

कच्चे माल का आयात (Raw Material Imports)

छोटे पैमाने की इकाइयों की दुर्लभ कच्चे माल की आवश्यकताओं का आकलन करने और ऐसे माल का आयात करके इन इकाइयों को उन की पूर्ति करने के संबंध में SIDO की प्रमुख भूमिका होती है। अग्रिम लाइसेंस योजना के अंतर्गत छोटी इकाइयां उन कच्चे माल और पुर्जों का आयात शुल्क का भुगतान किए बिना ही कर सकती है जो निर्यात उत्पादन के लिए आवश्यक होते हैं।

आर्थिक सूचना (Economic Information)

SIDO का आर्थिक सूचना विभाग लघु उद्योगों के विकास के विभिन्न पक्षों के संबंध में सूचना प्रदान करता है। SISI का आर्थिक सूचना विभाग छोटे पैमाने की इकाइयों को आर्थिक सूचना, परामर्श सेवाएं, मार्गदर्शन और सहायता प्रदान करता है।

आधुनिकीकरण के कार्यक्रम (Modernisation Programme)

SIDO के आधुनिकीकरण कार्यक्रम के अंतर्गत ग्रामीण, शहरी और पिछड़े हुए क्षेत्रों में छोटे पैमाने के उद्योगों की आगत-आवश्यकताओं की पहचान करके उनकी पुरानी प्रौद्योगिकी के स्थान पर नई प्रौद्योगिकी के लाने पर जोर दिया गया है। इस कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

क) उत्पादन प्रौद्योगिकी का सुधार

ख) उत्पाद विकास डिजाइन

ग) परीक्षण, डिजाइन और गुणवत्ता नियंत्रण

घ) मशीनरी और उपकरण

च) समुचित कच्चे माल का चयन

छ) उन्नत प्रबंध प्रौद्योगिकी का प्रयोग

आधुनिकी करण के गहन कार्यक्रम के लिए अखिल भारतीय स्तर पर 20 से अधिक उद्योगों को चुना गया है और विभिन्न राज्यों में केन्द्रण के आधार पर लगभग 40 उद्योगों को चुना गया है।

बोध प्रश्न स

1) औद्योगिक बस्ती (Industrial Estates) कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य क्या थे ?

.....

.....

.....

.....

2) छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए नई नीति (1991) की कोई तीन मुख्य विशेषताएं बताइए।

.....

.....

.....

.....

3) लघु उद्योग विकास संगठन (SIDO) के आधुनिकीकरण कार्यक्रम की मुख्य विशेषताएं बताइए।

.....

.....

.....

.....

11.6 सारांश

किसी देश की उद्योग-अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। रोजगार के अवसरों को लाने, अर्ध-नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों को फैलाने, उद्यम को बढ़ावा देने और विदेशी मुद्रा का अर्जन करने के क्षेत्र में इस क्षेत्र की बहुत अधिक क्षमता है। भारत सरकार की सभी उद्योग नीतियों में छोटे पैमाने के क्षेत्र के महत्व पर जोर दिया गया है।

समय बीतने के साथ-साथ भारत की अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के उद्योग प्रमुख क्षेत्रक के रूप में उभरे हैं। इस उद्योग में लगातार वृद्धि केवल इकाइयों के रूप में ही नहीं महत्वपूर्ण रही है बल्कि रोजगार और उत्पादन के रूप में भी यह उतना ही महत्वपूर्ण रही है। हमारे देश के निर्यात की कुल मात्रा में छोटे पैमाने के उद्योगों से निर्यात की मात्रा एक तिहाई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोजगार पैदा करने, औद्योगिक उत्पादन और निर्यात की दृष्टि से भारतीय अर्थव्यवस्था में छोटे पैमाने के उद्योगों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

लेकिन छोटे पैमाने के उद्योगों का संगठनात्मक स्वरूप ऐसा है कि उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन उद्योगों के सम्मुख मुख्य समस्याएं निम्नलिखित हैं कच्चे माल की दुर्लभता, अपर्याप्त वित्त और वित्त बाजार संबंधी बाधाएं, बिजली की कमी तथा तकनीकी ज्ञान की समस्याएं।

भारत में छोटे पैमाने के उद्योगों की रक्षा और उनके संवर्धन के लिए सरकार ने व्यापक संस्थागत ढांचा तैयार किया है तथा अनेक नीतियां एवं कार्यक्रम बनाया है। नई उद्योग नीति, 1991 में नवीन प्रक्रिया की योजनाओं के द्वारा छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है।

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 4. i) उद्यमवृत्ति, विदेशी मुद्रा, ii) अत्यंत छोटी

iii) उत्पादन के , iv) न्यूनतम करना v) राष्ट्रीय पहचान

11.8 स्व-परख प्रश्न

1. छोटे पैमाने की इकाई की परिभाषा दीजिए।
2. छोटे पैमाने के उद्योग को किन प्रमुख समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है ?
3. छोटे पैमाने के उद्योग की संवृद्धि के लिए जिस संस्थागत ढांचे को विकसित किया गया है उनके संबंध में विवेचन कीजिए।
4. छोटे पैमाने के उद्योगों के प्रति सरकारी नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए, किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए हैं।

खंड

4

बाह्य क्षेत्र और आर्थिक सुधार

इकाई 12
विदेशी निवेश और बहुराष्ट्रीय निगम 5

इकाई 13
भारत का विदेश व्यापार 22

इकाई 14
भुगतान शेष और निर्यात-आयात नीति 41

इकाई 15
अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संबंध 56

इकाई 16
नई आर्थिक नीति 67

खंड 4 बाह्य क्षेत्र और आर्थिक सुधार (External Sector and Economic Reforms)

पिछले खंड में हमने उद्योग क्षेत्र के संदर्भ में सरकार की आर्थिक नीतियों के संबंध में चर्चा की। भारत में नियामक ढांचे के संबंध में भी अध्ययन किया गया। इस खंड में भारतीय अर्थव्यवस्था के बाह्य क्षेत्र के विभिन्न तत्वों के संबंध में और 1991 में शुरू किए गए आर्थिक सुधारों के संबंध में चर्चा की जाएगी। इस खंड में पांच इकाइयाँ हैं।

इकाई 12 विदेशी निवेश और बहुराष्ट्रीय निगमों के संबंध में है। इसमें विदेशी पूंजी के अर्थ और उसकी भूमिका के संबंध में विवेचन किया गया है। इसमें संयुक्त उद्यमों और बहुराष्ट्रीय निगमों के गुणों और दोषों का परीक्षण किया गया है। इसमें भारत में विदेशी निवेश नीति का विहंगावलोकन किया गया है।

इकाई 13 भारत के विदेश व्यापार के संबंध में है। इसमें भारत में विदेश व्यापार की प्रवृत्तियों, उसके संघटन और उसकी दिशाओं का विवेचन किया गया है। विदेश व्यापार के महत्व को स्पष्ट किया गया है और भारत के विदेश व्यापार की संवृद्धि की प्रवृत्तियों को प्रस्तुत किया गया है। सरकार द्वारा शुरू किए गए निर्यात संवर्धन उपायों के संबंध में संक्षेप में परीक्षण किया गया है।

इकाई 14 भारत के भुगतान संतुलन और भारत सरकार की निर्यात-आयात (EXIM) नीति के संबंध में है। इसमें भुगतान संतुलन (BOP) की अवधारणा और उसके महत्व की व्याख्या की गई है। 1950-51 से भारत के BOP में प्रमुख प्रवृत्तियों और 1990 के दशक में हुए BOP संकटों के कारणों के संबंध में विवेचन किया गया है। वर्तमान निर्यात नीति (1997-2002) का भी परीक्षण किया गया है।

इकाई 15 में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधों पर जोर दिया गया है। इसमें द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापार संबंधों के अर्थ की व्याख्या की गई है। व्यापार संबंधों के सापेक्ष गुणों और दोषों के संबंध में विवेचन किया गया है। GATT और WTO के उद्देश्यों और उनके कार्यों को भी प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 16 भारत सरकार की नई आर्थिक नीति (NEP) के संबंध में है। इस इकाई का प्रारंभ NEP की आवश्यकता के संबंध में बताने के साथ होता है और फिर उसमें NEP के स्वरूप और क्षेत्र का वर्णन किया गया है। NEP को कार्यान्वित करने के संबंध में हुई प्रगति और उससे संबंधित समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। इस नीति का मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 12 विदेशी निवेश और बहुराष्ट्रीय निगम (Foreign Investment and MNCs)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 विदेशी पूंजी
12.3 विदेशी पूंजी के प्रकार
12.4 विदेशी प्रत्यक्ष निवेश
12.5 पोर्टफोलियो निवेश
12.6 विदेशी पूंजी की भूमिका
12.7 सरकारी नीति
12.8 संयुक्त उद्यम
  12.8.1 अर्थ
  12.8.2 संयुक्त उद्यमों के प्रकार
  12.8.3 लाभ
  12.8.4 हानि
  12.8.5 भारतीय संयुक्त उद्यम
12.9 बहुराष्ट्रीय निगम
  12.9.1 परिभाषा
  12.9.2 बहुराष्ट्रीय निगमों की विशेषताएं
  12.9.3 गुण
  12.9.4 दोष
12.10 सारांश
12.11 शब्दावली
12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर
12.13 स्वपरख प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- विदेशी पूंजी की परिभाषा दे सके एवं उसका वर्गीकरण कर सकें
- विदेशी पूंजी की भूमिका एवं उसकी कमियों के बारे में बता सकें
- संयुक्त उद्यम का वर्णन कर सकें एवं उनके गुण और दोष बता सकें
- अद्यतन सरकारी नीति का परीक्षण कर सकें
- बहुराष्ट्रीय कंपनियों के पक्ष और विपक्ष का विश्लेषण कर सकें।

12.1 प्रस्तावना

आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए पूंजी सबसे अधिक प्रमुख कारक होती है। यह पूंजी देश के अंदर की हो सकती है या विदेशी हो सकती है। जब देशी पूंजी पर्याप्त नहीं होती, तब विदेशी पूंजी को काम में लाया जाता है। कम विकसित देशों के लिए विश्व बैंक एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा पूंजी की व्यवस्था की गई है। हाल के प्रौद्योगिकीय विकास एवं सूचना प्रौद्योगिकी के प्रसार ने समस्त विश्व की अर्थव्यवस्थाओं में प्रवेश को इतना अधिक [illegible] बना दिया है, जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। इसके फलस्वरूप बहुराष्ट्रीय कंपनियों की [illegible] बढ़ी है तथा पूंजी के महत्व को महसूस किया जाने लगा है। अनेक देशों ने महसूस किया है कि बाहर के देशों से पूंजी का प्रवाह आर्थिक विकास के

प्रारंभिक चरणों में ही महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि आर्थिक की संवृद्धि के लिए भी आवश्यक होता है। अधिकतर देश अब विदेशी पूंजी और निवेश का उपयोग कर रहे हैं। इस इकाई में पहले हम विदेशी पूंजी के अर्थ और उसकी भूमिका के संबंध में चर्चा करेंगे। उसके बाद संयुक्त उद्यमों, बहुराष्ट्रीय उद्यमों, उनके अर्थ तथा उनके लाभ एवं हानियों के संबंध में चर्चा की जाएगी। विदेशी निवेश के संबंध में सरकारी नीति के संबंध में भी चर्चा की जाएगी।

12.2 विदेशी पूंजी (Foreign Capital)

'विदेशी पूंजी' एक व्यापक शब्द है तथा इसके अंतर्गत बाहर के देश से लाई गई पूंजी आ जाती है। विदेशी पूंजी विदेशी सहायता विदेश से त्रण या अनुदान के रूप में हो सकती है। इन सब को किसी अन्य देश से या सरकारी स्तर पर किसी संस्था से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी पूंजी उद्यम के स्तर पर विदेशी निवेश या वाणिज्य-ऋण के रूप में भी हो सकती है।

इस संबंध में दिलचस्प बात यह है कि रूस तथा पूर्वी यूरोप के देशों में भी विदेशी पूंजी का स्वागत किया जाने लगा है। चीन, थाईलैंड, मलयेशिया और सिंगापुर जैसे देशों में विदेशी पूंजी की भूमिका अत्यंत उत्साहजनक रही है। परन्तु लैटिन अमेरिका और अफ्रीका के देशों में विदेशी पूंजी विकसित एवं विकासोन्मुख दोनों ही प्रकार के देशों के लिए उपयोगी होती है। उन्नत देश विकासोन्मुख देशों में पूंजी का निवेश करने के संबंध में सक्रिय रूप से प्रयास करते हैं। भारत में विदेशी पूंजी को महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई है, हालांकि समय के साथ-साथ इस संबंध में परिवर्तन होता रहता है। योजना की प्रारंभिक अवस्थाओं में देश के अन्दर के निवेश में कमी को पूरा करने के लिए विदेशी पूंजी का प्रयोग किया गया। बाद में विदेशी और भारत के उद्यमकर्ताओं के बीच प्रौद्योगिकीय सहयोग हुए। लेकिन जुलाई 1991 से विदेशी निवेश के संबंध में सरकारी नीति में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ (जिसे आमतौर पर उदारीकरण की नीति कहा जाता है।)

12.3 विदेशी पूंजी के प्रकार (Types of Foreign Capital)

विदेशी पूंजी को दो वर्गों में बांटा जा सकता है:

1) विदेशी सहायता
2) निजी विदेशी निवेश

विदेशी सहायता के अंतर्गत ऋण तथा अनुदान आते हैं। निजी विदेशी निवेश के दो रूप होते हैं: क) विदेशीय प्रत्यक्ष निवेश (FDI) और ख) विदेशी पोर्टफोलियो निवेश (FPI)। भारत में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के तीन रूप हो सकते हैं। i) पूर्णत: स्वामित्व में नियंत्रित कंपनियां, ii) संयुक्त उद्यम और iii) अधिग्रहण। विदेशी पोर्टफोलियो निवेश दो प्रकार के हो सकते हैं i) विदेशी संस्थागत निवेशकर्ताओं द्वारा निवेश, जिसमें अनिवासी भारतीय (NRIs) भी आ जाते हैं तथा ii) क) ग्लोबल डिपोजिटर्स रिसिट्स (GDRs) और ख) विदेशी मुद्रा परिवर्तनीय ब्रांडों (FCCBs) में निवेश। उपर्युक्त वर्गीकरण को नीचे दिया जा रहा है।

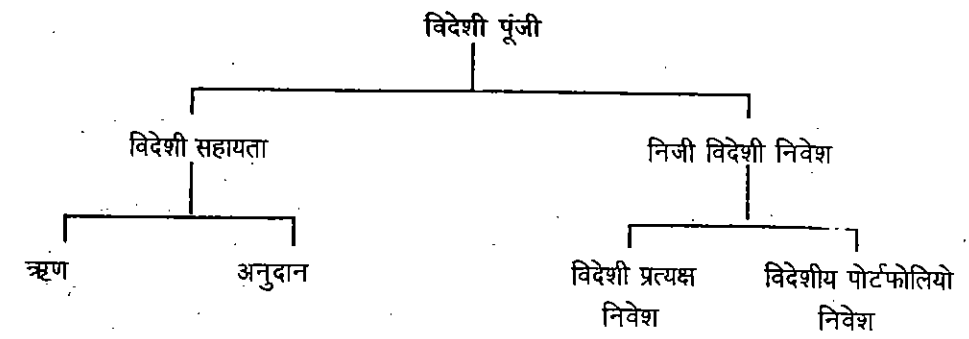

भारत में निजी विदेशीय निवेश का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:

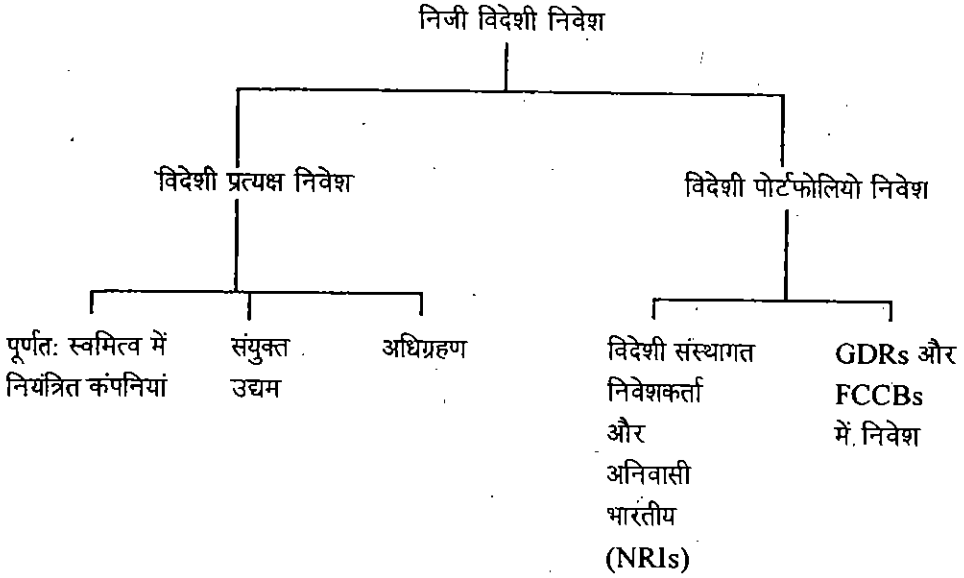

उपर्युक्त के संबंध में हम एक-एक करके विचार करेंगे।

विदेशी सहायता (Foreign Aid) : इसके अंतर्गत ऋण और अनुदान आते हैं। ऋण अलग-अलग देशों से लिए जा सकते हैं या विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम जैसी संस्थागत एजेन्सियों से लिए जा सकते हैं। आमतौर पर ऋण किसी देश की मध्य कालीन या दीर्घकालीन पूंजी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिए जाते हैं। ऋण लेने वाले देश पर ऋण का बहुत बड़ा बोझ पड़ता है क्योंकि ऋण ली गई रकम का भुगतान ब्याज के साथ करना पड़ता है। प्रतिबंधों के कारण ऋण सशर्त हो सकता है। ऐसे प्रतिबंध अंतिम उपयोग (end use) के रूप में हो सकते हैं या स्त्रोत के रूप में हो सकते हैं या अनुदान देने वाले सार्वजनिक संगठन हो सकते हैं या निजी पुण्यार्थ संगठन हो सकते हैं। ये राहत कार्यों के लिए तुरंत उपयोग के लिए दिए जाते हैं। अनुदान समयबद्ध हो सकते हैं और इनका उपयोग किसी विशेष प्रयोजन के लिए ही किया जा सकता है। ऋण की स्थिति में उसे वापस करना होता है जबकि अनुदान प्राप्त रकम को लौटाना नहीं होता। परन्तु इस संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि यह देखना होता है कि अनुदान जिस कार्य के लिए दिया गया है उसका उपयोग उसी कार्य के लिए किया जाए।

सहायता के रूप में विदेशी पूंजी का आधार उसका प्रयोजन, भुगतान की विधि, ऋणकर्ता को लागत तथा राजनीतिक विचार होने चाहिए। यह अनिश्चित ही नहीं होता बल्कि प्राय: सार्वजनिक क्षेत्रों के लिए उपलब्ध नहीं होता। यह उपभोक्ता उद्योगों के लिए दिया जाता है तथा इसके भुगतान के लिए कोई साधन नहीं होते। इसीलिए विदेशी देशों से सहायता लेने की तुलना में उनके साथ व्यापार करना अच्छा होता है।

निजी विदेशीय निवेश (Private Foreign Investment) : यह दो प्रकार का होता है : (i) विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, और (2) विदेशी का पोर्टफोलियो निवेश।

इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि विदेशीय निवेश और किसी विदेशी राष्ट्र के साथ सहयोग (collaboration) के बीच घनिष्ठ पारस्परिक संबंध तो होता है लेकिन ये दोनों एक दूसरे से अलग होते हैं। पूंजी निवेश का अर्थ होता है कि जो देश पूंजी प्राप्त कर रहा है इसके उद्यमों की पूंजी में किसी विदेशी देश द्वारा भाग लेना। इसके विपरीत सहयोग का अर्थ होता है किसी देश द्वारा किसी अन्य देश को तकनीकी और प्रबंधकीय जानकारी प्रदान करना तथा लाइसेंस, ट्रेड मार्क एवं पेटेन्ट की सुविधाएं प्रदान करना। अब हम निजी विदेशी निवेश के दो प्रमुख घटकों के संबंध में विचार करेंगे।

12.4 विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Foreign Direct Investment)

इसे प्रत्यक्ष व्यावसायिक निवेश (direct business investment) भी कहा जाता है। भुगतान-संतुलन (balance of payments) के संबंध में IMF की पुस्तिका के अनुसार विदेशीय प्रत्यक्ष निवेश (FDI) से आशय ऐसे निवेश से होता है जो प्रत्यक्ष निवेशकर्ता की अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थव्यवस्था के उद्यम में दीर्घकालीन हितों को तथा किसी अवशिष्ट इकाई पर नियंत्रण का सूचक होता है। ऐसे निवेशों में दो इकाईयों के बीच प्रारंभिक लेनदेन तथा बाद में इनके बीच के लेनदेन शामिल होते हैं।
उपर्युक्त परिभाषा से FDI में हम निम्नलिखित विशेषताएं पाते हैं:

1) किसी देश में किसी विदेशी कंपनी द्वारा किया हुआ यह निवेश है।

2) कोई विदेशी कंपनी किसी देश में अपनी शाखाएं खोल कर या उस देश में नियंत्रित कंपनी रखकर या विदेश नियंत्रित कंपनी रखकर निवेश कर सकती है। इस विदेशी कंपनी के अधीन पूर्ण स्वामित्व वाली नियंत्रित कंपनी हो सकती है या संयुक्त उद्यम हो सकते हैं या वर्तमान किसी उद्यम के कुछ अंशों को वह प्राप्त कर सकती है।

3) ऐसे निवेश का मुख्य प्रयोजन लाभ कमाना होता है। यह रायल्टी के रूप में हो सकता है या डिविडेंड के भुगतान के रूप में हो सकता है।

4) संबंधित फर्म के निवेश और उसके प्रबंध पर निवेशकर्ता का नियंत्रण होता है। FDI के अंतर्गत उप-संविदा (subcontracting), प्रबंध अनुबंध, टर्नकी व्यवस्था, मताधिकार, लाइसेंस, ट्रेडमार्क एवं पेटेन्ट आदि अन्य साधनों द्वारा प्रबंध पर निवेशकर्ताओं का नियंत्रण हो सकता है।

5) फर्म के समापन की स्थिति में परिसंपत्तियों को उद्गम देश (Country of origin) को वापस किया जा सकता है।

कंपनी अधिनियम 1956 की धारा 591 के अनुसार विदेशी कंपनी से अभिप्राय ऐसी किसी कंपनी से होता है जिसका निगमन भारत के बाहर के किसी देश में हुआ हो और जिसने भारत में कोई व्यवसाय 1.4.1956 के बाद या उससे पहले स्थापित किया हो। भारतीय रिजर्व बैंक ने विदेशी कंपनियों को निम्नलिखित तीन वर्गों में बांटा है।

क) वे सहायक कंपनियां (subsidiaries) जिनमें कोई एक विदेशी कंपनी के अधिकार में 50% से अधिक ईक्विटी शेयर पूंजी होती है।

ख) अल्पमत कंपनियां (minority companies) जिनकी 50% या उससे कम शेयर पूंजी किसी विदेशी कंपनी के हाथ में होती है।

ग) पूर्णत: तकनीकी सहयोग कंपनियां जिनमें कोई विदेशी ईक्विटी सहयोग नहीं होता। केवल तकनीकी सहयोग करार होता है।

विदेशी कंपनियां भारतीय आयकर अधिनियम 1961, MRTP अधिनियम 1969, उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम 1951 और विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 से भी अनुशासित होती है।

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) दीर्घकाल को ध्यान में रखकर किया जाता है क्योंकि इन निवेशों का समापन आसानी से नहीं किया जा सकता। निवेश के संबंध में निर्णय लेते समय विदेशी निवेशकर्ता को विश्वास हो जाना चाहिए कि किसी देश में वर्तमान तुलनात्मक लाभ तुलनात्मक हानियों से अधिक है। FDI निर्णयों को प्रभावित करने वाले अन्य अनेक कारक हैं, जैसे कि (क) दीर्घकाल तक राजनीतिक स्थिरता (ख) किसी देश की सरकारी नीति (ग) औद्योगिक और आर्थिक संभावना (घ) लाभों और विनिवेश के प्रत्यावर्तन (repatriation) के संबंध में नियम (च) सरकारी विभागों में सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार और (छ) कर संबंधी नियम।

जिस देश में निवेश हो रहा है उसे इस संबंध में सावधान रहना चाहिए कि यदि अर्थव्यवस्था अत्यधिक संरक्षित है और विदेशी निवेश अत्यधिक टैरिफ प्रतिबंधों के अधीन किया जाता है तो FDI हानिकर होता है।

12.5 पोर्टफोलियो निवेश (Portfolio Investment)

पोर्टफोलियो निवेश का अर्थ किसी ऐसे विदेशी राष्ट्र में निवेश करना होता है जहां पर निवेश करने वाले पक्ष का निवेश पर नियंत्रण नहीं होता। इस में निवेश का रूप होता है विदेशी स्टॉक बाजार में ईक्विटी खरीदना या निजी सा सरकारी स्त्रोतों से साख या पूंजी खरीदना। उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर पोर्टफोलियो निवेश में निम्नलिखित विशेषताएं पाते हैं:

1) निवेशकर्ता किसी विदेशी स्टॉक बाजार में ईक्विटी खरीदता है अर्थात् इसका स्वामित्व हित होता है।

2) इस ईक्विटी के अंतर्गत शेयर (स्टॉक) एवं लेनदार की पूंजी (डिबेंचर/बांड/अन्य प्रतिभूतियां) आती हैं।

3) खरीदी गई ईक्विटी संयुक्त पूंजी कंपनी की ईक्विटी होती है।

4) निवेशकर्ता अनिवासी होता है।

5) यदि निवेशकर्ता की पूंजी होती है तो वह निजी या सरकारी स्त्रोतों से हो सकती है तथा उसे पूंजी पाने वाले देश की संयुक्त पूंजी कंपनियों में लगाया जाता है।

6) संयुक्त पूंजी कंपनी के संवर्धन और प्रबंध के साथ यदि निवेशकर्ता का कोई संबंध नहीं होता तो वह निवेश पर नियंत्रण का प्रयास नहीं करता।

इनके साथ निम्नलिखित दो और विशेषताओं को जोड़ा जा सकता है :

क) पोर्टफोलियो निवेश का समापन आसानी से किया जा सकता है।

ख) पोर्टफोलियो निवेश अल्पकालीन लाभों से प्रेरित होते हैं तथा वे FDI की तुलना में अधिक संवेदनशील होते हैं।

भारत में मुख्यत: दो प्रकार के पोर्टफोलियो निवेश हैं: (क) विदेशी संस्थागत निवेशकों द्वारा जैसे कि म्युचुअल फंड तथा (ख) ग्लोबल डिपोजिटर्स रिसिटों और विदेशी मुद्रा परिवर्तनीय बांडों में निवेश।

क) विदेशी संस्थागत निवेशकर्ता (Foreign Institutional Investors)

भारत का स्टॉक बाजार विदेशी संस्थागत निवेशकर्ताओं (FII) के लिए 1992-93 में खोल दिया गया। FII के अंतर्गत आते हैं पेशन कोष, म्युचुअल फंड, परिसंपत्ति प्रबंध कंपनियां, निवेश ट्रस्ट, मनोनीत कंपनियां तथा कंपनियों के या संस्थागत प्रबंधक। 14 नवम्बर 1995 को भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा अधिसूचित विनियमों में FII की परिभाषा, पात्रता मापदंडों, निवेश प्रतिबंधों, पंजीकरण की प्रक्रिया एवं सामान्य दायित्वों से संबंधित अनेक प्रावधान दिए गए हैं। वे केवल निम्नलिखित में ही निवेश कर सकते हैं:

अ) प्राथमिक और द्वितीयक बाजारों में प्रतिभूतियां जिनके अंतर्गत भारत के किसी मान्यता प्राप्त स्टॉक बाजार में सूचीगत कंपनियों के शेयर, डिबेंचर और वारंट आ जाते हैं।

ब) म्युचुअल कोषों द्वारा जारी की गई यूनिटें जिसमें यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया भी आ जाता है, चाहे वे सूचीगत हो या नहीं।

1996-97 में भारत सरकार ने FII की निवेश नीति को उदार बना दिया। अब निवेश की मात्रा या रोध-अवधि (lock-in period) पर कोई प्रतिबंध नहीं है। केवल भारत के स्टॉक बाजारों द्वारा ही विनिवेशक को अनुमति दी जाती है। किसी कंपनी में किसी एक FII के धारण की सीमा कुल ईक्विटी पूंजी का 10% रखी गई है। पूंजीगत लाभों पर उन्हें रियायती दरों पर कर देना होता है। वे असूचीगत निगमित निकाय, एवं कंपनियों के और सरकार की प्रतिभूतियों में निवेश कर सकते हैं।

FII द्वारा निवेश के संबंध में सबसे बड़ा घाटा यह है कि यह निश्चित नहीं होता ऐसा निवेश कितने समय तक बना रहेगा। यदि उन्हें किसी कंपनी के अधिक ईक्विटियों (25% पर) को खरीदने की अनुमती दी जाती है तो वे उस कंपनी पर दबाव डाल सकते हैं। वे सट्टा निवेश (speculative investment) कर सकते हैं, दोहरी सराधान संधि के द्वारा कर नियमों का उल्लंघन कर सकते हैं तथा विनिमय दरों का दुरुपयोग कर सकते हैं। स्टॉक बाजारों की कार्यप्रणाली में सुधार लाकर ऐसा करने से उन्हें रोका जा सकता है। भारत सरकार को ऐसी नीति अपनानी चाहिए कि भारतीयों को घाटे में डालकर विदेशी संस्थागत निवेशकर्ता (FII) लाभान्वित होने का प्रयास न करें।

अनिवासी भारतीयों द्वारा निवेश (Investment by NRIs)

अनिवासी भारतीय (Non-Resident Indians) उन व्यक्तियों को कहा जाता है जो भारत में नहीं रहते। वे दो प्रकार के होते हैं: (क) (i) भारत का वह नागरिक जो स्थायी तौर पर भारत के बाहर रह रहा हो, (ii) जो देश के बाहर नौकरी करने या कोई कोई अर्जक व्यवसाय करने गया हो। (ख) भारत का वह नागरिक जो स्थायी रूप में भारत से बाहर रह रहा हो या जिसने किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त कर ली हो या वह व्यक्ति जो अविभक्त भारत से बाहर गए हुए किसी व्यक्ति का वंशज (descendent) हो।

इस परिभाषा का विस्तार करके विदेश में पैदा हुए किसी व्यक्ति को भी शामिल कर लिया गया है जो किसी भारतीय नागरिक का पति हो। श्रेणी (क) के आने वाले NRIs को निवेश करने की अनुमति उदारतापूर्वक दी जाती है। श्रेणी (ख) के अन्तर्गत आने वाले NRIs को भारत सरकार द्वारा बनाए गए नीति-निर्देशों के अधीन निवेश करना होता है। भारतीय रिजर्व बैंक ने मान्यता प्राप्त स्टॉक बाजारों के जरिए भारतीय कंपनियों के शेयरों/डिबेंचरों/बांडों के हस्तांतरण के संबंध में NRI को सामान्य छूट दी है। वे अपने घनिष्ठ संबंधियों को शेयर आदि उपहार के रूप में दे सकते हैं। वे सरकारी प्रतिभूतियों या UTI की यूनिटों में कोषों का निवेश कर सकते हैं। पोर्टफोलियो निवेश योजना के अंतर्गत अनिवासी भारतीय या प्रमुखत: अनिवासी भारतीयों के स्वामित्व के अधीन का कोई विदेशी कंपनी निकाय (overseas corporate bodies) भारतीय कंपनियों की प्रदत्त पूंजी के 24% तक उनकी सूचीगत प्रतिभूतियों (listed securities) को खरीद सकते हैं। नई उद्योग नीति 1991 की अनुसूची III में दिए गए उद्योगों की ईक्विटी में वे 100% तक प्रत्यक्ष निवेश कर सकते हैं। भारत में निवेश करने के संबंध में सभी प्रकार की सूचनाएं प्राप्त करने के लिए NRIs द्वारा निवेश के प्रस्ताव की स्वत: स्वीकृति की सुविधा की भी व्यवस्था की गई है।

ख) ग्लोबल डिपोजेटरी रिसिप्ट्स (Global Depository Receipts) और विदेशी मुद्रा परिवर्तनीय बांड (Foreign Currency Convertible Bonds)

ग्लोबल डिपोजिटरी रिसिप्ट्स (GDRs) और विदेशी मुद्रा परिवर्तनीय बांड (FCCBs) भारतीय कंपनियों द्वारा निवेश हैं जो पोर्टफोलियो निवेश द्वारा विदेशी पूंजी जुटाने के लिए यूरो और यू० एस० के बाजारों में जारी किए गए हैं।

GDR की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है: i) एक प्रपत्र, ii) डालर में अभिव्यक्त, iii) यूरोप और यू. एस. के स्टॉक बाजारों में इसे खरीदा-बेचा जाता है और iv) यह ईक्विटी शेयरों की एक निश्चित संख्या का प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन इन ईक्विटी शेयरों का अंकन रूपयों में किया जाता है।

GDR की प्रक्रिया इस प्रकार है: पहले कोई कंपनी ईक्विटी शेयरों का निर्गमन एक मध्यवर्ती (intermediary) को करती है जिसे Depository कहा जाता है। शेयरों का पंजीकरण डिपोजिटरी के नाम किया जाता है। GDR का निर्गमन डिपोज़िटरी करती है। डिपोज़िटरी के ऐजेंट भी होते हैं तथा ईक्विटी शेयरों पर वास्तविक कब्जा एजेन्ट का होता है। एजेन्ट को अभिरक्षक (custodian) कहा जाता है। उसके पश्चात् निर्गमन करने वाली कंपनी की पुस्तकों में GDR का नाम नहीं होता।

FCCB को यूरो परिवर्तनीय बांड (Euro Convertible Bond) भी कहा जाता है। ये अर्ध ऋण प्रतिभूतियां (quasi debt securities) होते हैं अर्थात् इन्हें डिपोजिटरी रसीदों या स्थानीय शेयरों में बदला जा सकता है। निवेशकर्ता को यह विकल्प होता है कि वह यदि चाहे तो वह एक न्यूनतम अवधि के बाद बांडों को एक

निश्चित कीमत पर शेयरों में बदल सकता है। परिवर्तन कीमत के लिए विनिमय दर तथा स्वयं परिवर्तन कीमत दर (conversion price) निश्चित होती है।

आप्शन (option) दो प्रकार के होते हैं: पुट आप्शन (put-option) और काल आप्शन (call-option)। पुट आप्शन निवेशकर्ताओं को दिए गए अधिकार हैं तथा काल आप्शन कंपनी को दिए गए अधिकार हैं। पुट आप्शन के अंतर्गत निवेशकर्ता को अधिकार है कि वह परिपक्वता अवधि के पहले सममूल्य पर अपना धन वापस ले ले या निर्गमन के समय में यू० एस० ट्रेजरी पर 100% आधार प्वाइंट पर ले ले। काल आप्शन के अंतर्गत कंपनी को अधिकार होता है कि उस स्थिति में वह बांडों को शेयरों में बदल सकती है जबकि शेयरों का बाजार मूल्य परिवर्तन मूल्य के एक विशेष प्रतिशत से अधिक हो। 1993 से ये बांड लोकप्रिय हो गए हैं।

12.6 विदेशी पूंजी की भूमिका (Role of Foreign Capital)

किसी देश के औद्योगिकरण की प्रारंभिक अवस्थाओं में विदेशी पूंजी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस भूमिका को निम्नलिखित शीर्षों के अंतर्गत भलीभांति समझा जा सकता है:

1) **संसाधनों में वृद्धि (Increase in Resources) :** विदेशी पूंजी से केवल देशीय बचतों और संसाधनों में ही वृद्धि नहीं होती बल्कि देश की उत्पादक परिसंपत्तियों में भी वृद्धि होती है। विदेशीय प्रत्यक्ष निवेश (FDI) के द्वारा कोई देश विदेशी मुद्रा प्राप्त करता है। जिस देश में विदेशी पूंजी आती है उसके निवेश स्तर को एवं इस प्रकार उस देश में आय एवं रोजगार को बढ़ाने में यह सहायक होती है।

2) **जोखिम उठाना (Risk Taking) :** विदेशी पूंजी उत्पादन की नई लाइनों को विकसित करने की प्रारंभिक जोखिम उठाती है। उत्पादन नई लाइनों को लाने एवं उन्हें विकसित करने के लिए इसके पास अनुभव एवं साधन दोनों ही होते हैं।

3) **तकनीकी जानकारी (Technical Know-how) :** विदेशी निवेशकर्ता अपने साथ तकनीकी और प्रबंधकीय जानकारी लाते हैं। इससे प्राप्तकर्ता देश को अपने संसाधनों को कुशलतापूर्वक संगठित करने में सहायता मिलती है। जिन स्थानीय कर्मचारियों को वे नियुक्त करते हैं उन्हें प्रशिक्षण की सुविधाएं भी प्रदान करते हैं

4) **उच्च मापदंड (High Standards) :** विदेशी पूंजी अपने साथ-साथ वस्तुओं की किस्मों, श्रमिकों को उच्च वास्तविक मजदूरी एवं व्यावसायिक व्यवहारों के संबंध में उच्च मापदंड की परम्पराओं को लाती है। इन सब से केवल निवेशकर्ताओं के हित का ही पोषण नहीं होता बल्कि उस देश के अन्य प्रतिष्ठानों के उत्पादों की किस्त में भी सुधार होता है।

5) **विपणन सुविधाएं (Marketing Facilities) :** विदेशी पूंजी विपणन के क्षेत्र प्रदान करती है। विभिन्न देशों में स्थित जिन इकाईयों को एक ही फर्म वित्त प्रदान करती है उनके बीच निर्यात और आयात को भी यह सहायता देती है।

6) **व्यापार घाटे को घटाती है (Reduces Trade Deficit) :** जो देश विदेश पूंजी को प्राप्त करता है उसके निर्यातों को बढ़ाने में सहायक होकर विदेशी पूंजी उसके व्यापार घाटे को घटाती है। उत्पादों की किस्म और उसकी मात्रा को बढ़ाकर और कीमतों को घटाकर निर्यात में वृद्धि की जाती है।

7) **प्रतियोगिता को बढ़ाती है (Increases Competition) :** विदेशी पूंजी प्रतियोगिता को बढ़ाने और देश के अंदर के एकाधिकार को दूर करने में सहायक हो सकती है। विदेशी पूंजी किसी देश की क्षमता का विश्व की दृष्टि से अच्छा मापक होती है।

सच ही कहा जाता है कि एक संतुष्ट विदेशी निवेशकर्ता किसी देश का सर्वोत्तम वाणिज्य-राजदूत होता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि विदेशी पूंजी उन तीन् महत्वपूर्ण क्षेत्रों को सहायता करती है जो किसी देश

की आर्थिक संवृद्धि के लिए आवश्यक होते हैं। ये तीन क्षेत्र हैं: बचत, व्यापार एवं विदेशी मुद्रा और प्रौद्योगिकी। विदेशी पूंजी तीन अंतरालों को पूरा करने का कार्य करती है अर्थात् विदेशी पूंजी प्राप्त करने वाले देश का बचत अंतराल (saving gap) व्यापार अंतराल और प्रौद्योगिकीय अंतराल। यह किसी देश की प्रौद्योगिकी में विकास, प्रबंधकीय विशेषज्ञता, विश्व की अन्य अर्थव्यवस्थाओं के साथ एकीकरण वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात और देश की अर्थव्यवस्था की संवृद्धि में सहायक सिद्ध होती है।

विदेशी पूंजी की कमियां (Short Comings of Foreign Capital)

विदेशी पूंजी की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की जाती है:

1) यह प्राथमिक क्षेत्रों की उपेक्षा करके अधिक लाभ वाले क्षेत्रों में जा सकती है।

2) विदेशी निवेशकर्ताओं के कार्य राष्ट्रीय हित के विरोध में हो सकते हैं। यह राष्ट्र की राजनीति में हस्तक्षेप कर सकती हैं या अनुचित व्यापारिक व्यवहार कर सकती है या अवरोधक स्थितियाँ ला सकती है।

3) यह विदेशी संसाधनों पर निर्भरता को बढ़ाती है। विदेशी प्रौद्योगिकी का उपयोग करने के कारण प्रतिस्थापना और रखरखाव के लिए बाहर से माल मंगाने पड़ते हैं। इससे विदेशी पूंजी का प्रभाव और भी बढ़ जाता है।

4) प्रारंभिक चरणों में लाभ प्राय: बहुत अधिक होता है जिससे बहुत अधिक धन दूसरे देशों को भेजना पड़ता है। विदेशी निवेशकर्ता जो धन लगाते हैं उसे अल्प समय में ही वसूल कर लेते हैं। परन्तु तकनीकी सेवाओं , रायल्टी आदि के रूप में उन्हें काफी लंबी अवधि तक भुगतान होता रहता है।

5) देश के अन्दर आय के वितरण, अंतरण कीमत और भुगतान संतुलन पर प्राय: प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

विदेशी पूंजी के पक्ष तथा विपक्ष में दलीलें दी जाती हैं एवं पक्ष और विपक्ष के समर्थन में आंकड़े भी उपलब्ध हैं परन्तु विदेशी पूंजी की भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

12.7 सरकारी नीति (Government Policy)

उद्योग नीति संकल्प 1948 (Industrial Policy Resolution 1948) पहला कदम था जिसमें निजी विदेशी पूंजी को आमंत्रित करने एवं उनका विनियमन करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। 6 अप्रैल 1949 को सरकार ने विदेशी पूंजी संबंधी नीति पर एक बयान जारी किया। विदेशी पूंजी के प्रति नीति का मुख्य सिद्धांत यह था कि विदेशी पूंजी को भारतीय पूंजी के समान माना जाएगा, लाभ के प्रेषण पर कोई रोक नहीं होगी तथा किसी विदेशी उद्यम का अधिग्रहण की स्थिति में पर्याप्त मात्रा में मुआवजा दिया जाएगा। 1970 में विदेशी पूंजी की भूमिका को, भारी एवं निर्यात -उन्मुख उद्योगों तक सीमित कर दिया गया। 1980 में विदेशी सहयोग (foreign collaboration) के प्रति नीति को कुछ उदार बना दिया गया।

1 जुलाई 1991 को एक नई नीति संबंधी विवरण दिया गया जिसके अनुसार विदेशी प्रौद्योगिकी करारों को प्रोत्साहित किया गया, उच्च प्राथमिक उद्योगों की ईक्विटी में विदेशीय प्रत्यक्ष निवेश (FDI) 51% तक होने की अनुमति दी गई तथा विदेशी फर्मों के साथ बातचीत करने के लिए एक विशेष बोर्ड का गठन किया गया।

1996-97 में विदेशी निवेशों के संबंध में निम्नलिखित परिवर्तन किए गए:

1) जिन उद्योगों में 51% तक विदेशी ईक्विटी के लिए स्वत: अनुमोदन प्राप्त हो जाता है उनकी सूची को 35 से बढ़ा कर 48 कर दिया गया है। खनन उद्योगों में 50% तक विदेशी ईक्विटी तथा 9 प्रकार के उद्योगों में 74% तक स्वत: अनुमोदन प्राप्त हो जाता है।

2) विदेशी निवेश संवर्धन परिषद् (FIPC) के जिम्मे प्रायोजना रिपोर्ट तैयार करने का काम एवं विदेशी निवेश संवर्धन बोर्ड (FIPB) के जिम्मे अधिक पारदर्शी विदेशी निवेश नियमों को बनाने का काम सौंपा गया है।

3) विदेशी संस्थागत निवेशकर्ताओं (FIIs) को असूचीगत कंपनियों में ईक्विटी निवेश करने की अनुमति दी जाती है।

4) विदेशी निवेशों के उन प्रस्तावों पर विचार करने के संबंध में जो 100% विदेशी ईक्विटी के स्वतः अनुमोदन क्षेत्र में नहीं आते तथा विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) के प्राथमिकता के क्षेत्रों पर विचार करने के संबंध में 1977 में मार्गदर्शी सिद्धांत जारी किए गए। इनमें से कुछ सिद्धांत निम्नलिखित

क) प्राथमिकता के क्षेत्र (priority areas) ये हैं: i) आधारिक संरचना, ii) जिनमें बड़े पैमाने पर रोजगार की संभावना हो, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रो में, iii) निर्यात की क्षमता, iv) फार्म क्षेत्र से जुड़ी हुई मदें, और v) अस्पताल, दवा और स्वास्थ की देखरेख जैसे सामाजिक क्षेत्र की प्रायोजनाएं।

ख) निम्नलिखित सीमाओं के अन्दर रहते हुए अनुमति दी जाएगी:

- बैंकिंग क्षेत्र – 20% (NRIs के लिए 40%)
- गैर बैंकिंग वित्तीय कंपनियां – 50% (FI के निर्दिष्ट न्यूनतम स्तर के साथ 100%)
- बिजली, बन्दरगाह, सड़क, पर्यटन और जोखिम पूंजी कोष – 100%
- दूरसंचार – 49%
- एयर लाइन/एयर टैक्सी – 40% (NRI के लिए 100%)
- छोटे पैमाने के उद्योग – 24%
- ड्रग्स और फार्मेसी – 100%
- पेट्रोलियम – 100%
- खनन – 50% (सोना, चाँदी और हीरा को छोड़कर)

ग) जब कोई विदेशी कंपनी उपयुक्त भारतीय संयुक्त उद्यम नहीं ढूंढ पाती है तब उसे 100% ईक्विटी लगाने की अनुमति दी जाती है बशर्ते कि 3 से 5 वर्षों के अंतर्गत वह अपनी 26% ईक्विटी किसी भारतीय कंपनी को दे दे।

घ) निर्यात, थोक आयात, नकद दो और माल लो (cash and carry) थोक बिक्री व्यापार एवं वस्तुओं और सेवाओं के अन्य आयात के लिए 100% व्यापारी फर्मों के लिए प्रस्ताव को उस स्थिति में स्वीकृति प्रदान की जाती है जबकि कम से कम 75% ग्रुप फर्मों के बीच विक्रय के लिए हो।

च) निम्नलिखित आधार पर विदेशी फर्मों को 100% ईक्विटी कंपनियां स्थापित करने की अनुमति है:

i) जिसमें केवल धारण कार्य (holding operation) शामिल हो तथा बाद के निवेशों के लिए पहले से अनुमति लेने की आवश्यकता हो।

ii) जब कम से कम 50% उत्पादन का निर्यात होता हो।

iii) परामर्श के प्रस्ताव।

iv) बिजली, बन्दरगाह, सड़क, औद्योगिक बस्तियों और उद्योग-नगरों संबंधी प्रायोजनाएं।

v) जब परिष्कृति प्रौद्योगिकी का आयात करना हो।

हाल में सरकार ने बीमा क्षेत्र में 26% विदेशी ईक्विटी सहयोग की एवं NRI के लिए 14% की अनुमति दे दी है।

इस नीति के प्रति विदेशी निवेशकों की प्रतिक्रिया अत्यधिक उत्साहजनक रही है। उदाहरणार्थ 1996-97 में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) 2696 मिलियन डालर हो गया जबकि 1991-92 में यह केवल 129 मिलियन डालर ही था। 1996-97 में पोर्टफोलियो निवेश 3312 मिलियन डालर था जबकि 1991-92 में ये केवल 158 मिलियन डालर ही था। 1991-92 और 1996-97 के बीच NRI जमा राशि 63 मिलियन डालर से बढ़ कर 639 मिलियन डालर हो गई। अक्टूबर 1996 तक SEBI के साथ 435 विदेशीय संस्थागत

क्वेटी 179 करोड़ रुपये की थी। इससे पता चलता है कि भारत के निवेश-वातावरण के प्रति भार का विश्वास बढ़ने लगा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार की नई नीति पुरानी नीति की वि में बहुत अच्छी है। उदारीकरण (liberalisation) के बाद अधिकतर निवेश प्राथमिकता के क्षेत्रों में तु हुआ है। तालिका 12.1 में विदेशी निवेश के संबंध में अद्यतन सूचना दी गई है।

तालिका 12.1: विदेशीय निवेश प्रवाह

यू० एस मिलियन डालर

	91-92	92-93	93-94	94-95	95-96	96-97	97-98
क. प्रत्यक्ष निवेश	129	315	586	1314	2133	2696	3197
i) RBI स्वत: रूट	--	42	89	171	169	135	202
ii) SIA/FIBB रूट	66	222	280	701	1249	1922	2754
iii) MRI(40% और 100%)	63	51	217	442	715	639	241
ख) पोर्टफोलियो निवेश	4	244	3567	3824	2748	3312	1601
i) FIIs *	--	1	1665	1503	2009	1926	752
ii) Euro equities (GDRs)**	--	240	1520	2082	683	1366	645
iii) ऑफशोर फंड और अन्य	4	3	382	239	56	20	204
कुल	133	559	4153	4153	5136	4881	4796

* इसके सम्मुख के आंकड़े FII द्वारा हाल में लाए कोषों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

** इसके सम्मुख के आंकड़े भारतीय कंपनियों द्वारा विदेशों में जुटाई गई GDRs रकमों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्रोत : इकनॉमिक सर्वे 1997-98

बोध प्रश्न क

1) विदेशी पूंजी क्या है?

.....

.....

.....

2) विदेशी पूंजी के विभिन्न रूप क्या हैं?

.....

.....

.....

3) बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत हैं।

i) विदेशीय प्रत्यक्ष निवेश वह निवेश है जिसमें निवेश पर विदेशी पक्ष का नियंत्रण रहता है।

ii) पोर्टफोलियो निवेश वह निवेश है जिसमें विदेशी पक्ष निवेश पर नियंत्रण करने का प्रयास नहीं करता।

iii) ग्लोबल डिपोजिटर्स रिसिट (GDRs) परिवर्तनीय बांड हैं।

iv) विदेशी मुद्रा परिवर्तनीय बांडों (FCCBs) को GDRs में बदला जा सकता है।

v) विदेशी पूंजी विदेशी सहायता के रूप में हो सकती है या निजी निवेश के रूप में हो सकती है।

2.8 संयुक्त उद्यम (Joint Ventures)

वेश्वव्यापी संयुक्त उद्यमों (global joint ventures) और विदेशीय प्रत्यक्ष निवेशों का निर्धारण तीन ारकों द्वारा होता है। प्रथम, किसी उत्पाद या ब्रांड नाम पर एकाधिकार के रूप में स्वामित्व लाभ, ुत्पादन प्रक्रिया या प्रौद्योगिकी का पेटेन्ट या बाजार और विपणन तकनीकों का श्रेष्ठ ज्ञान। दूसरा, बाजार ं माल पहुंचाने या निर्यात आधार या श्रमिकों को कम मजदूरी, कम परिवहन लागतों आदि के रूप में ातिथेयी देश (host country) को कुछ लाभ हो सकते हैं। तीसरा, वह स्थिति जो विदेशी बाजार को देश े अंदर के बाजार की तुलना में अधिक लाभप्रद बनाती है।

2.8.1 अर्थ

ंयुक्त उद्यम में वाणिज्य और उद्योग से संबंधित वे उद्यम शामिल होते हैं जिनको संयुक्त रूप से चलाने ी जिम्मेदारी दो या अधिक देश लेते हैं। ये जोखिम पूंजी, ख्याति तथा प्रबंधकीय एवं प्राकृतिक संसाधनों की प्रवस्था करते हैं। संयुक्त उद्यम में एक नियंत्रक साझेदार होता है जो मुख्य निर्णयकर्ता होता है। सरल ब्दों में संयुक्त उद्यम से आशय ऐसे उद्यम से होता है जिसका स्वामित्व संयुक्त रूप से किसी स्थानीय द्यमकर्ता और एक विदेशी उद्यमकर्ता के हाथ में होता है और वे ही संयुक्त रूप से उसका प्रबंध भी करते । संयुक्त उद्यम का गठन एक नई फर्म की शुरूआत करके या आतिथेयी देश में किसी फर्म के स्वत्व interest) को खरीद करके किया जा सकता है। इस प्रकार संयुक्त उद्यम दो पक्षों के बीच संबंध का एक प है जिसके अंतर्गत स्थानीय फर्म और विदेशी फर्म के बीच लम्बे समय तक सहयोग बना रहता है। ाकसित और विकासोन्मुख देशों में संयुक्त उद्यमों का प्रारंभ खनन और प्लांटेशन क्षेत्रों में हुआ।

2.8.2 संयुक्त उद्यमों के प्रकार (Types of Joint Ventures)

युक्त उद्यम निवेश उन्मुख हो सकते हैं या गैर निवेश उन्मुख हो सकते हैं। गैर निवेश-उन्मुख संयुक्त द्यमों में ब्रांड नाम का उपयोग होता है या मूल फर्म (parent firm) के उपयोग के लिए कच्चे माल की र्ति के स्त्रोत को विकसित किया जाता है। निवेश-उन्मुख संयुक्त उद्यमों की स्थिति में कोई विदेशी फर्म ानीय फर्मों की ईक्विटी में भाग लेती है – जो बहुमत की ईक्विटी या अल्पमत की ईक्विटी हो सकती । संयुक्त उद्यमों के अनेक प्रकार के संयोजन (combination) होते हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं।

- एक विदेशी निजी कंपनी और स्थानीय राज्य सरकार।
- एक विदेशी कंपनी का एक स्थानीय कंपनी के साथ सहयोग।
- सरकार द्वारा नियंत्रित कंपनी का विदेश में संयुक्त उद्यमों के साथ।
- एक विदेशी देश के दो फर्मों का आपस में मिलकर किसी विदेशी बाजार में सहयोग करना।
- दो या उससे अधिक देशों द्वारा किसी तीसरे देश में संयुक्त उद्यम स्थापित करना।
- एक ही संयुक्त उद्यम में दो से अधिक राष्ट्रों द्वारा मिलकर कार्य करना।

2.8.3 लाभ

ुक्त उद्यमों के निम्नलिखित लाभ हैं:

- जिन देशों में पूर्णत: विदेशी स्वामित्व वाली फर्मों को अनुमति नहीं दी जाती वहां ये विकल्प हैं
- किसी स्थानीय फर्म को विदेशी बाजारों में प्रवेश में ये सहायक होते हैं।
- तकनीकी जानकारी, पेटेन्ट आदि के उपयोग को ये संभव बनाते हैं।
- विदेशी मुद्रा को बढ़ाने में सहायक होते हैं

5) स्थानीय फर्म की पहुंच राष्ट्रीय सरकार और जनता तक आसानी से हो सकती है।

6) ये दो देशों के बीच व्यावसायिक संकट को बांटने में सहायक होते हैं।

12.8.4 हानि

आतिथेयी देश के दृष्टिकोण से संयुक्त उपक्रमों से कुछ हानियां होती हैं।
इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

1) आतिथेयी देश में स्थित सहायक उद्योगों को प्राय: पुरानी तकनीक का उपयोग करने दिया जाता है तथा उन देशों में प्रतिबंधित उत्पादों और अवांछित तकनीकों का ढेर लगा दिया जाता है।

2) स्थानीय कुशल तकनीकी कर्मचारियों को प्राय: नई प्रक्रियाओं को सीखने नहीं दिया तथा फर्म के मुख्य पदों से उन्हें वंचित रखा जाता है। जिसके फलस्परूप प्रतिभाशाली इनसे दूर रहते हैं।

3) समाज के रीति-रिवाजों का प्राय: आदर नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय योजनाओं के उद्देश्यों के विपरीत कार्य होता है तथा सरकारी कर्मचारियों को घूस देकर कानूनों का उल्लंघन किया जाता है।

4) संयुक्त उद्यम कुछ मूल उद्योग क्षेत्रों पर हावी हो जाते हैं। एकाधिकारी लाभ के चलते ये बहुत अधिक लाभ और फीस ले सकते हैं। दुर्लभ संसाधनों का उपयोग करके वे अनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और मुद्रास्फीति की स्थिति ला देते हैं।

5) वे स्थानीय बचतों को उत्पादकीय-निवेश से दूर ले जाते हैं। जिन उपकरणों और स्पेयरपार्टों का निर्यात् करना होता है उनकी कीमत अधिक करके बताई जाती है।

इन हानियों के होने बचने के लिए आतिथेयी देशों की सरकारें समय-समय पर प्राय: संयुक्त उपक्रमों के प्रति कानूनों को प्राय: बदल देती हैं। इस सम्बन्ध में सरकार जो कदम उठा सकती है वे हैं- ईक्विटी सहयोग को सीमित करना, निदेशक मंडल में स्थानीय व्यक्तियों को रखना, रायल्टियों की दरों और लाभ के प्रतिशत पर सीमा लगाना और स्थानीय पूंजी बाजार के बाहर से ऋण लेना।

12.8.5 भारतीय संयुक्त उद्यम (Indian Joint Ventures)

1995 के प्रारंभ में 177 भारतीय संयुक्त उद्यम कार्यरत थे जिनमें कुल 179 करोड़ की ईक्विटी थी। इसके अतिरिक्त अन्य 347 उद्यमों के संबंध में कार्य हो रहा था जिनमें 1400 करोड़ की भारतीय ईक्विटी थी। भारतीय संयुक्त उद्यम मुख्यत: दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका में है। ये देश प्राय: मध्यम आय वाले देश हैं, जैसे कि श्रीलंका, नाइजीरिया, केनिया, यू ए ई, थाईलैंड, उजबेकिस्तान और यूगेन्डा। भारतीय संयुक्त उद्यम मुख्यत: इंजीनियर्स, निर्माण, कपड़ा व रसायन, बिजली, कागज, ग्लास और जहाजरानी उद्यमों में हैं। ये निजी उद्यमकर्ताओं और सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों के हाथ में हैं।

लेकिन इन उद्यमों में असफलता की दरें बहुत ऊँची रही हैं। ऐसा होने का एक कारण है सरकार की ओर अनुमति मिलने में विलंब होना तथा दूसरा कारण यह है कि इनके उद्देश्यों को स्पष्ट नहीं किया गया। हाल में सरकार ने विदेशों में संयुक्त उद्यमों की स्थापना के संबंध में नीति को उदार बना दिया है। अब संयुक्त उद्यम संबंधी प्रस्तावों के संबंध में भारतीय उद्यमकर्ताओं को स्वत: अनुमति मिल जाएगी। 17.8.1995 को इस संबंध में नये मार्गदर्शी सिद्धांत जारी किए गए। ये सिद्धांत उद्योग कार्यों और व्यापार करने वाली फर्मों या होटल, पर्यटन और वित्तीय सेवाओं के लिए हैं। इन सिद्धान्तों के अंतर्गत बैंकिंग कार्यकलाप नहीं आते। इसके अनुसार विदेशों में 40 लाख डालर से कम के भारतीय प्रत्यक्ष निवेश को 'फास्ट ट्रैक रूट' योजना के अंतर्गत 21 दिन के अंतर्गत अनुमति प्राप्त हो जाएगी। इससे अधिक रकम वाले निवेश के संबंध में कार्यवाही एक विशेष समिति करेगी जिसमें वित्त, वाणिज्य और विदेश मंत्रालयों के प्रतिनिधि होंगे। इस योजना के अंतर्गत अनुमति तभी दी जाएगी जबकि निवेश की रकम पिछले तीन वर्षों में भारतीय कंपनी के वार्षिक

औसत निर्यात अर्जनों के 25% से अधिक नहीं है। निवेश के समय से पांच वर्षों के अंतर्गत निवेश की कुल रकम को डिविडेंड और रायल्टी के रूप में वापस कर दिया जाएगा। वित्तीय सेवाओं के लिए आवश्यक है कि पिछले तीन वर्षों में उनकी न्यूनतम निवल संपत्ति (net worth) 15 करोड़ रुपये की रही हो और उनका सविवेक मापदंड (prudential norm) 8% पूंजी पर्याप्तता को हो। प्रायोजना विवरण का सत्यापन चार्टर्ड एकाउंटेंट द्वारा होना चाहिए।

1995 से भारतीय फर्मों में निवेश से संबंधित एक नई प्रवृत्ति देखने में आई है। यह है ब्रिटिश विर्जिन आइलैंड जैसे कर-स्वर्गों (tax heavens) में समुद्रपारीय निवेश (overseas investment) करना। विदेशों में निवेश के संबंध में बिरला का स्थान प्रथम है। उसके बाद थापर्स, टाटा, जे० एंड के ग्रुप, मोदी, एच एम टी, उषा, मार्टिन ब्लैक, ओबेराय होटल्स, लार्सेन एंड टूब्रो और किर्लोस्कर का स्थान आता है।

12.9 बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Corporations)

आधुनिक काल में बड़े-बड़े निगम विदेशी पूंजी और तकनीकी जानकारी के प्रमुख वाहक हो गए हैं। इन्हें अनेक नामों से जाना जाता है, जैसे कि

i) बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Corporations),

ii) पारदेशीय निगम (Transnational Corporations), (iii) अंतर्राष्ट्रीय निगम (International Corporation), और विश्वव्यापी निगम (Global Corporations)। इन शब्दों का प्रयोग प्राय: एक दूसरे के लिए किया जाता है।

शुरू-शुरू में अधिकतर बहुराष्ट्रीय निगमों (MNCs) का केन्द्र यू. एस. ए. था। लेकिन अब जापान और यूरोप के MNC भी सामने आ रहे हैं। भारत में सबसे पहले MNC का प्रवेश 1921 में हुआ। यू एस ए की सिंगर सिलाई की मशीन इंग्लैंड में 1862-63 में आई।

12.9.1 परिभाषा

MNC शब्द की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। MNC की परिभाषा ऐसी कंपनी के रूप में की जा सकती है। "(क) जिसका अनेक देशों में प्रत्यक्ष निवेश आधार हो, (ख) जिसका 20% से 50% तक या उससे भी अधिक निवल लाभ विदेशों में चल रहे उसके कार्यों से हो तथा (ग) जिसके प्रबंधकों द्वारा लिए गए निर्णय का आधार विश्व के किन्हीं भी अन्य स्थानों पर उपलब्ध विकल्प हों।''

कोई फर्म अपने आकार, कार्यों, ढांचा और व्यवहार के आधार पर MNC बन जाती है। इनका गठन किसी एक देश में स्थित मुख्यालय में होता है जहां से समस्त विश्व में स्थित इनकी फर्मों पर नियंत्रण किया जाता है।

MNC शब्द अंतर्राष्ट्रीय निगमों से भिन्न होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय निगम एक कंपनी होता है जिसका विनिर्माण निवेश (या सेवा संबंधी कार्य) कम से कम एक देश में होता है। परन्तु MNCs का प्रत्यक्ष निवेश अनेक देशों में होता है तथा उनमें बहुत अधिक शेयर अन्य देशों में ही होते हैं। पारदेशीय निगम (TNCs) निगमित या अनिगमित उद्यम होते हैं जिनमें मूल उद्यम या उनके संबद्ध उद्यम होते हैं। TNC बहुराष्ट्रीय कंपनी होती है जिसके स्वामित्व और नियंत्रण का प्रसार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होता है। इसकी शक्ति केन्द्रित नहीं होती। विश्वव्यापी निगम का अर्थ भी प्राय: TNC जैसा ही होता है। परन्तु इस संबंध में एकमत यह भी है कि विश्वव्यापी निगम उसे कहते हैं जो समान विश्व को एक ही बाजार मानता है जिसमें विश्व के स्तर पर मानकित वस्तुओं को बेचा जाता है।

कंपनी के रूप में MNCs की निम्नलिखित पांच कसौटियां होती हैं:

1) इसका कार्य उन विभिन्न देशों में होता है जो आर्थिक विकास की विभिन्न दशाओं में होते हैं।

2) इसकी स्थानीय नियंत्रित कंपनियों का नियंत्रण संबंधित राष्ट्रों के व्यक्तियों द्वारा होता है।

3) इसका बहुराष्ट्रीय स्टॉक स्वामित्व होता है।

4) इसका बहुराष्ट्रीय केन्द्रीय प्रबंध होता है।

5) विभिन्न देशों में इसके संपूर्ण औद्योगिक संगठन होते हैं जिनके अंतर्गत अनुसंधान, विकास और विनिर्माण की सुविधाएं भी होती हैं।

MNC के प्रबंध मुख्यालय किसी एक देश (स्वदेश) में होते हैं जबकि इसके उद्यमों का कार्य अनेक देशों (आतिथेयी देश) में होता है।

कोई अनेक कारणों से अपना निवेश अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर करती है। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

1) टैरिफों के प्रभाव को कम करना।

2) उत्पादन लागत को घटाना। ऐसे सस्ते श्रम, सामग्री-लागत परिवहन-लागतों का उपयोग द्वारा किया जाता है।

3) विदेशी बाजार में बड़ा भाग प्राप्त करना या प्रतियोगिता का मुकाबला करना।

4) आतिथेयी देश (host country) के प्राकृतिक संसाधनों को काम में लाना।

5) स्वदेश (home country) के व्यापार और उद्योग संबंधी कठोर नियमों और विनियमों के प्रभाव को कम करना, उदाहरणार्थ प्रदूषणों संबंधी कानून।

6) कर-छूट के लाभ प्राप्त करना।

12.9.2 बहुराष्ट्रीय निगमों की विशेषताएं

क) **बहुत बड़ा आकार (Giant Size):** MNC की परिसंपत्तियां और बिक्री कई करोड़ डालरों में होती है। कुल परिसंपत्तियों की दृष्टि से यू० एस० ए० का जनरल इलेक्ट्रिक्स (GE) तथा विदेशी परिसंपत्तियों की दृष्टि से रायल डच शॉल (यू. के. तथा नीदरलैंड) का स्थान विश्व के सबसे बड़े 50 निगमों में है। कुल बिक्री से जापान के मितसुई का स्थान सबसे ऊपर है। कुछ MNCs की परिसंपत्तियां अनेक देशों के GNP से अधिक है।

ख) **अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संचालन (International Operations):** MNC का कार्य स्वदेश के मूल निगम के द्वारा होता है। इसकी शाखाएं या नियंत्रित कंपनियां (subsidiaries) होती है। इन्हें संबद्ध कंपनियां कहा जाता है। नियंत्रण 20% से 100% तक होता है।

ग) **अल्पाधिकारी ढांचा (Oligopolistic Structure):** अपने आकार के कारण यह विलयन या अधिकरण के द्वारा अन्य कंपनियों को अपने अधीन कर लेता है। इस प्रकार इसका स्वरूप अल्पाधिकारी होता है।

घ) **संसाधनों का सामूहिक हस्तांतरण (Collective Transfer of Resources):** MNC के पास पैकेज के रूप में संसाधनों के हस्तांतरण की सुविधाएं होती हैं। इसके अंतर्गत तकनीकी जानकारी, उपकरण और मशीनरी, प्रबंध कुशलता और कच्चे माल आदि आते हैं।

च) **संवृद्धि (Growth):** आतिथेयी देश में मजदूरी में अंतर और अवसरों की उपलब्धता के फलस्वरूप MNC का विकास तेजी से हो सकता है। MNC की अन्य विशेषताएं हैं– आर्थिक प्रभुत्व, विकसित अर्थव्यवस्थाओं में निवेश एवं विश्व व्यापार में वृद्धि।

12.9.3 गुण (Merits)

1) ये अल्पविकसित देशों को प्रौद्योगिकीय एवं प्रबंध संबंधी जानकारी प्रदान करते है।

2) विकसित देशों से पूंजी की व्यवस्था करके ये निवेश के स्तर को बढ़ाते हैं तथा आतिथेयी देशों में अपनी शाखाएं या नियंत्रित कंपनियां खोल कर आय एवं रोजगार के बढ़ाने में सहायता करते हैं।

3) एकाधिकार को समाप्त करने में ये सहायक होते हैं। ये देशीय पूर्तिकर्ताओं की भी सहायता करते हैं।

4) अल्पविकसित देशों के अन्य उद्योगों में ये कड़ी का काम करते हैं। यह कड़ी पश्चग्रामी हो सकती है या अग्रगामी होती है।

5) ये प्रबंध-प्रौद्योगिकी की व्यवस्था करते हैं और इस प्रकार ज्ञान का भंडार बनाते हैं। ये अनुसंधान और विकास (R & D) की सहायता करते हैं

6) आतिथेयी देश के निर्यातों को बढ़ाकर और आयातों को घटाकर ये वहां अनुकूल भुगतान-संतुलन (balance of payments) बनाते हैं। वे विश्वव्यापी सूक्ष्मव्यापी सूक्ष्मदर्शी (global scanner) होते हैं।

12.9.4 दोष (Demerits)

MNC के खिलाफ निम्नलिखित आपत्तियां की जाती हैं:

1) ये आतिथेयी देश में बहुत कम रोज़गार पैदा करते हैं और वहां की बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने में सहायता नहीं करते।

2) अल्पविकसित देशों में ये ऐसे प्रौद्योगिकी लाते हैं, जिन्हें ये देश आसानी से अपना नहीं सकते। इस प्रकार इन देशों को MNC पर स्थायी रूप में निर्भर रहना पड़ता है।

3) अनुसंधान और विकास पर MNC बहुत ही कम खर्च करते हैं। प्रौद्योगिकी का हस्तांतरण प्राय: बहुत ही महंगा पड़ता है।

4) डिविडेन्ड, रायल्टी, पेशेवर सेवाओं और तकनीकी जानकारी के लिए भुगतान दुर्लभ मुद्रा (hard currency) में किया जाता है। इससे आतिथेयी देशों की विदेशी मुद्रा का अपवाह होता है। इसके फलस्वरूप उन्हें अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ता है।

5) MNC कभी-कभी एकाधिकारी हो जाते हैं। अपने लाभों को वे पूर्णत: अपने अधीन की कंपनियों में ले जा सकती हैं।

6) वे अनावश्यक वस्तुओं और उपभोक्ता-पदार्थों के उत्पादन में भाग ले सकती हैं।

7) बोली में भाव बढ़ाकर, कीमत विभेदन, कीमत-नियतन आदि के द्वारा ये अवांछित और अनुचित व्यापारिक व्यवहार कर सकते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि इनका स्वरूप अल्पाधिकारी होता है।

लेकिन आतिथेयी देशों की सरकारें अपनी नीतियों से उपर्युक्त खतरों को कम कर सकती हैं। राष्ट्रीयकरण की धमकी दी जा सकती है। कुछ चुने हुए उद्योगों में सहयोग और एक निश्चित अवधि तक के लिए निवेश की अनुमति सरकार दे सकती है तथा MNC की आयों पर वह ऊँची दर पर कर लगा सकती है। वह निर्यात के मापदंड को भी निर्धारित कर सकती है। बहुराष्ट्रीय उद्यमों के संबंध में ब्रैड्ट आयोग ने आचार-संहिता की सिफारिश की है।

इस समय बहुराष्ट्रीय कंपनियों की आलोचना उतनी नहीं की जाती जितनी कि पहले की जाती थी। विकासोन्मुख देश MNC का स्वागत करने लगे हैं। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) के संवर्धन और संरक्षण के संबंध में अब द्विपक्षीय सहयोग होने लगे हैं। निजीकरण की नीतियों के फलस्वरूप अब विदेशी निवेशकों को नए-नए अवसर मिलने लगे हैं।

लेकिन भारतीय कंपनियों ने अभी तक देश के बाहर बहुत अधिक विदेशीय निवेश नहीं किया है। इसकी तुलना में भारत मे अन्दर भी विदेशीय निवेश कम ही हुआ है। भारत सरकार की नई नीति विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करने की है। विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम 1973 के स्थान पर अब प्रवेन्शन ऑफ मनी लौंडटिग अधिनियम और विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम लाया जा रहा है।

बोध प्रश्न ख

1) संयुक्त उद्यम और बहुराष्ट्रीय निगम (MNC) शब्दों की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

2) संयुक्त उद्यमों के विभिन्न प्रकार कौन-कौन से होते हैं?

.....

.....

.....

3) बहुराष्ट्रीय निगमों की कुछ विशेषताएं बताइए।

.....

.....

.....

12.10 सारांश

विदेशी पूंजी के अंतर्गत विदेशों से किसी देश के अंतर्गत पूंजी का प्रवाह शामिल होता है। यह पूंजी विदेशी सहायता या सरकारी स्तर पर ऋण या अनुदान के रूप में हो सकती है या उद्यम के स्तर पर या सरकारी स्तर पर विदेशीय निवेश और वाणिज्य ऋण के रूप में हो सकती है। विदेशी पूंजी दो प्रकार की होती है: 1) विदेशी सहायता और 2) निजी विदेशी निवेश। विदेशी निजी निवेश को दो वर्गों में बांटा जा सकता है: (क) विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) और (ख) विदेशी पोर्टफोलियो निवेश (FPI)। FDI संयुक्त उद्यमों, पूर्णत: स्वामित्व वाली नियंमित कंपनियों या अधिग्रहण के रूप में हो सकते हैं। FPI के अंतर्गत विदेशी संस्थाओं, NRI और GDR, FCCB के निवेश शामिल होते हैं। किसी देश के विकास में विदेशी पूंजी की अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसकी भूमिका को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है: (क) संसाधनों में वृद्धि, (ख) जोखिम उठाना, (ग) तकनीकी जानकारी, (घ) उच्च मापदंड, (च) विपणन की सुविधाएं, (छ) व्यापार घाटे को कम करना और (ज) प्रतियोगिता को बढ़ाना। विदेशी पूंजी की आलोचना के आधार ये हैं: यह राष्ट्रीय हित के विरोध में हो सकती है, इसका निवेश कम प्राथमिकता के क्षेत्रों में हो सकता है और यह भुगतान संतुलन तथा आय के वितरण को प्रभावित करती है। 1991 में सरकार द्वारा घोषित नीति तथा 1996-97 में किए गए परिवर्तनों के फलस्वरूप विदेशी निवेशों को प्रोत्साहन मिला है।

संयुक्त उद्यमों में वाणिज्यिक और औद्योगिक उद्यम आते हैं जिनके अंतर्गत दो या उससे अधिक देशों के दो या उससे अधिक पक्ष उद्यमों को चलाने की एक साथ जिम्मेदारी लेते हैं। ये जोखिम पूंजी, ख्याति, जानकारी, प्रबंध और प्राकृतिक संसाधनों की भी व्यवस्था करते हैं। इसके अनेक रूप हो सकते हैं।

बड़े-बड़े निगमों को अनेक नामों से जाना जा सकता है : जैसे कि बहुराष्ट्रीय निगम (MNC), पारदेशीय निगम, विश्वव्यापी निगम और अंतर्राष्ट्रीय निगम। MNC की परिभाषा ऐसी कंपनी के रूप में की जाती है जिसका कि अनेक देशों में प्रत्यक्ष निवेश का आधार होता है, जिसके निवल लाभ के 20% से 50% तक या उससे भी अधिक भाग विदेशों में चल रहे कार्यों से होता है और उसका प्रबंध जो नीति-निर्णय लेता है उसका आधार विश्व के किन्हीं भी अन्य स्थानों पर उपलब्ध विकल्प होते हैं। MNC की विशेषताएं ये हैं : बहुत बड़ा आकार, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संचालन, अल्पाधिकारी ढांचा, संसाधनों का सामूहिक हस्तांतरण और संवृद्धि अनेक आधार पर MNC के पक्ष और विपक्ष में दलीलें दी जाती हैं। हाल के वर्षों में इनकी भूमिका की पहचान की जाने लगी है तथा विकासोन्मुख देशों में इनकी अधिकाधिक स्थापना होने लगी है।

2.11 शब्दावली

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Foreign Direct Investment) : इससे आशय विदेश में किए गए निवेश से होता है जहां पर निवेश पर निवेशकर्ता का नियंत्रण रहता है।

विदेशी संस्थागत निवेशकर्ता (Foreign Institutional Investors): वे वित्तीय संस्थाएं जो किसी अन्य देश में अपना धन लगाती हैं।

विदेशी मुद्रा परिवर्तनीय बांड (Foreign Currency Convertible Bonds): ये अर्ध-ऋण प्रतिभूतियां होते हैं। निवेशकर्ता को यह विकल्प होता है कि एक निश्चित अवधि के बाद वह एक निश्चित कीमत पर इन बांडों को डिपोजिटरी रिसिटों या ईक्विटी शेयरों में बदल दे।

ग्लोबल डिपोजिटरी रिसिट (Global Depository Receipt): यह एक प्रकार का प्रपत्र है जिसका मूल्य डॉलर में अंकित होता है तथा इसका क्रय-विक्रय यू. एस. ए. और यूरोप में होता है। कंपनी डेपोजिटरी को शेयर जारी करती है तथा फिर डिपोजिटरी उसे GDR को जारी करता है। इस प्रकार यह जारी करने वाली कंपनी के शेयरों का प्रतिनिधित्व करता है।

संयुक्त उद्यम (Joint Venture): इसके अंतर्गत वाणिज्यिक और औद्योगिक उद्यम आते हैं जिनमें दो या उससे अधिक देशों के दो या उससे अधिक पक्ष उपक्रम को चलाने की जिम्मेदारी संयुक्त रूप में अपने ऊपर लेते हैं।

बहुराष्ट्रीय निगम (Multinational Corporation): एक ऐसा निगम जिसका एक से अधिक देशों में व्यावसायिक या वाणिज्यिक उपक्रमों पर स्वामित्व तथा नियंत्रण होता है।

अनिवासी भारतीय (Non-Resident Indian): वे भारतीय जिनका निवास भारत में नहीं है।

पोर्टफोलियो निवेश (Portfolio Investment): इससे आशय होता है किसी अन्य देश में निवेश करना जहां पर निवेश करने वाला पक्ष निवेश पर नियंत्रण करने का प्रयास नहीं करता।

12.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

क 3. i) गलत ii) सही iii) गलत iv) सही v) सही

12.13 स्व-परख प्रश्न

1. किसी देश में विदेशी पूंजी का प्रवाह किन रूपों में होता है?
2. "विदेशी पूंजी खतरनाक होती है और इसकी अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? यदि नहीं, तो क्यों?
3. किसी उद्यम का बहुराष्ट्रीय निगम (MNC) कहे जाने के मुख्य आधार क्या हैं। MNC से क्या कोई लाभ होते हैं?
4. विदेशीय प्रत्यक्ष निवेश (FDI) की मुख्य विशेषताएं बताइए।
5. संयुक्त उद्यम की परिभाषा दीजिए। उनके गुणों और दोषों के संबंध में विवेचन कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह [illegible] सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय [illegible]। ये केवल आपके अभ्यास के लिए है।

इकाई 13 भारत का विदेश व्यापार (India's Foreign Trade)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 विदेश व्यापार का महत्व
13.3 भारत के विदेश व्यापार की प्रवृत्तियां
13.4 विदेश व्यापार का संघटन
  13.4.1 निर्यातों का संघटन
  13.4.2 आयातों का संघटन
13.5 विदेश व्यापार की दिशा
  13.5.1 निर्यातों की दिशा
  13.5.2 आयातों की दिशा
13.6 विदेश व्यापार का विनियमन
13.7 निर्यात संवर्धन के उपाय
  13.7.1 उत्पादन आधार बनाने की सुविधाएं
  13.7.2 विशेष प्रतिष्ठा के निर्माण द्वारा सुविधाएं
  13.7.3 राजकोषीय प्रोत्साहन
  13.7.4 बाजार विकास सहायता
13.8 सारांश
13.9 शब्दावली
13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
13.11 स्वपरख प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- विदेश व्यापार के महत्व का वर्णन कर सकें
- भारत के विदेश व्यापार की प्रवृत्ति का विवेचन कर सकें
- विदेश व्यापार के संघटन की व्याख्या कर सकें
- विदेश व्यापार की दिशा का विश्लेषण कर सकें
- निर्यात संवर्धन के उपायों का विवेचन कर सकें।

13.1 प्रस्तावना

विदेश व्यापार को आर्थिक संवृद्धि का इंजन माना जाता है। संसाधनों के विविधीकरण से किसी देश को अपने विदेश व्यापार में प्रोत्साहन मिलता है। विदेश व्यापार के द्वारा विश्व के संसाधनों का अधिक कुशलता पूर्वक उपयोग किया जा सकता है। हाल में हुई विश्वव्यापीकरण और उदारीकरण की घटनाओं से भी विदेश व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। इस इकाई में आप विदेश व्यापार के महत्व और प्रवृत्तियों के संबंध में पढ़ेंगे। भारत के विदेश व्यापार का विश्लेषणात्मक चित्र प्रस्तुत की दृष्टि से विदेश व्यापार के संघटन और उसकी दिशा पर जोर दिया जाएगा। भारत सरकार द्वारा किए जा रहे निर्यात संवर्धन उपायों के संबंध में भी आप जानकारी प्राप्त करेंगे।

13.2 विदेश व्यापार का महत्व (Importance of Foreign Trade)

विदेश व्यापार अनेक देशों के लिए अत्यंत हितकारी सिद्ध हुआ है। देशों के बीच के व्यापार से उन देशों की विकास प्रक्रिया में तेजी आती है। ऐसा इसलिए कि विश्व के विभिन्न भागों में प्राकृतिक संसाधनों और उत्पादन के कारकों का वितरण समान रूप से नहीं होता। इसके फलस्वरूप कुछ देश कुछ वस्तुओं का उत्पादन सस्ती लागत पर कर लेते हैं और वे उन वस्तुओं के उत्पादन के संबंध में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ हम यह मान लेते हैं कि किसी देश ने इस्पात के उत्पादन के संबंध में विशेषज्ञता हासिल कर लिया है। एक दूसरे देश के लिए इतनी सस्ती लागत पर उस वस्तु का उत्पादन करना कठिन होता है, लेकिन वह देश किसी अन्य वस्तु (जैसे सीमेंट) का उत्पादन सस्ती लागत पर कर लेता है। इस प्रकार इन दोनों देशों के लिए लाभप्रद यह होता है कि वे परस्पर सीमेंट और इस्पात के अतिरिक्त स्टॉक का विनिमय कर लें। इस प्रकार विदेश व्यापार से विश्व के संसाधनों को प्रभावी ढंग से उपयोग में लाना संभव हो पाता है। किसी देश का विकास बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि शेष विश्व के साथ व्यापार करने की क्षमता उसमें कहां तक है। इसके फलस्वरूप विश्व की उत्पादन शक्तियों कुशलतापूर्वक उपयोग हो पाता है। इस प्रकार किसी देश में विदेशीय निवेश और नई प्रौद्योगिकी आते हैं; तथा देश के अन्दर की फर्में प्रतियोगी बनती हैं और वे विश्व की अर्थव्यवस्था की चुनौतियों का सामना कर पाती हैं। विदेश व्यापार के महत्व पर नीचे प्रकाश डाला जा रहा है।

i) **वस्तुओं की अधिक उपलब्धता (Greater availability of Goods) :** विदेश व्यापार के द्वारा किसी देश के लिए उन वस्तुओं को प्राप्त करना आसान हो जाता है जिनका उत्पादन वह नहीं कर सकता या अन्य देशों के समान सस्ती दर पर उत्पादन नहीं कर सकता। अत: किसी देश की सम्पन्नता इस बात पर निर्भर करती है कि वह विदेश व्यापार में किस मात्रा तक हिस्सा ले पाता है। इससे उपभोक्ताओं को भी लाभ होता है क्योंकि वे वस्तुओं को सबसे सस्ते स्त्रोतों से खरीद सकते हैं। रसायन पदार्थों और पूंजीगत पदार्थों के एक बहुत बड़े भाग की पूर्ति के लिए भारत विदेशों पर निर्भर है। यू. एस. ए. के उपभोक्ता कॉफी तथा चीनी के संबंध में अन्य देशों पर निर्भर है, जब कि यू. के. के उपभोक्ताओं की खाद्यान्नों संबंधी आवश्यकताओं को एक बहुत बड़े की पूर्ति विदेशों से आयात द्वारा होती है। चाय की पूर्ति के संबंध में यह देश पूर्णत: विदेशों पर निर्भर है। विदेश व्यापार अकाल एवं फसलों के चौपट होने के दुष्प्रभावों से भी किसी देश को बचाता है।

ii) **देश के संसाधनों का भलीभांति उपयोग (Better use of Country's resources):** विदेश व्यापार किसी देश के संसाधनों का सर्वोत्तम ढंग से उपयोग में सहायक होता है। अनेक स्थितियों में किसी देश के उद्योग अपने उत्पादों को बेचने के लिए विदेशी बाजार पर निर्भर होते हैं। उदाहरणार्थ भारत के पटसन और चाय उद्योग मुख्यत: निर्यात बाजार पर ही निर्भर हैं। जापान निर्यात की सहायता से ही एक संपन्न देश बन पाया है। यद्यपि यू. एस. ए. की विदेश व्यापार पर निर्भरता उतनी अधिक नहीं है फिर भी इस देश के कृषि और औद्योगिक उत्पादनों का 25% भाग बाहर भेजा जाता है। अनेक स्थितियों में निर्यात बाजार के होने से उत्पादक अपने उत्पाद को बढ़ा पाते हैं और इस प्रकार वे बड़े पैमाने की किफायतें (economies or large scale) का लाभ उठा पाते हैं। कुछ देश के उद्योग तो पूंजीगत पदार्थों, उपकरणों, कच्चे माल आदि के लिए विदेशों पर ही निर्भर होते हैं।

iii) **उत्पादन-लागत में कमी (Reduction in Cost of Production):** क्योंकि पूंजीगत माल और कच्चे माल को सबसे सस्ते स्त्रोतों से खरीदा जाता है अत: उत्पादन की लागत कम हो जाती है और माल की कीमत कम हो जाती है।

iv) **कीमत स्थिरता (Stability of Prices):** किसी देश में जब किसी वस्तु की कीमत बढ़ने लगती है तब वह देश उस वस्तु का अधिक आयात करके कीमत-वृद्धि को रोक सकता है। उसी प्रकार किसी वस्तु की बहुत अधिक पूर्ति हो जाने के फलस्परूप जब उस वस्तु की कीमत गिर जाती है तब उसका निर्यात करके कीमतों के गिरने की प्रवृत्ति पर रोक लगाया जा सकता है। इस प्रकार समस्त विश्व में किसी वस्तु की कीमत लगभग एक समान हो जाती है। विदेश व्यापार का उपयोग एकाधिकारियों के दुष्कार्यों पर रोक लगाने के लिए भी किया जा सकता है।

v) **अधिक रोजगार के अवसर (Greater employment opportunities):** विदेश व्यापार के चलते किसी देश के कृषि और औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप वहां पर रोजगार के अवसर और बढ़ते हैं।

vi) **आर्थिक संवृद्धि की ऊँची दर (High rate of economic development):** विदेश व्यापार के चलते तेजी से आर्थिक संवृद्धि होती है और राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर भी बढ़ती है। वास्तव में विदेश व्यापार को संवृद्धि का इंजन माना जाता है। यू. के., यू. एस. ए. और जापान जैसे देश अपने यहां निर्मित वस्तुओं का निर्यात करके ही सम्पन्न हो पाये हैं। हाल के वर्षों में कोरिया, तेहरान, थाईलैंड, सिंगापुर और हांककांग जैसे देशों को विदेश व्यापार में सक्रिय सहयोग द्वारा बहुत अधिक लाभ हुआ है।

vii) **सरकार की आय में योगदान (Contribution to government revenues):** लगभग सभी देश आयातों पर और कभी-कभी निर्यातों पर भी शुल्क लगाते हैं। इन शुल्कों से सरकारी खजाने की आय बढ़ती है। उदाहरणार्थ, 1996-97 में भारत में कुल कर आय में सीमाशुल्क का भाग 33.6% था।

viii) **विभिन्न देशों में मधुर संबंध (Harmonious relationship between various countries):** विदेश व्यापार विभिन्न देशों को एक-दूसरे के नजदीक लाता है। वह इनके बीच मधुर और सौहार्दपूर्ण संबंध कायम करता है। इससे विश्व में आर्थिक एकीकरण हो सकता है, जिसके फलस्वरूप राजनीतिक शांति होगी तथा सामाजिक-आर्थिक विकास के संबंध में विभिन्न देशों के बीच सहयोग बढ़ेगा। इस प्रकार व्यापार में विकास होने से युद्ध की संभावना कम हो जाएगी।

13.3 भारत के विदेश व्यापार की प्रवृत्तियां (Trends in India's Foreign Trade)

भारत के नियार्तों, आयातों और व्यापार शेष (trade balance) को भलीभांति समझने के लिए नीचे दी गई सारणी 13.1 को देखें। भारत के निर्यात में लगातार वृद्धि होती गई है लेकिन आयात में वृद्धि की दर अधिक रही है। इसके फलस्वरूप व्यापार शेष ऋणात्मक होता गया है। इस सारणी में हम देखते हैं कि 1950-51 में भारत का व्यापार शेष –2 करोड़ रुपया था, पर 1996-67 तब यह बढ़कर –20,120 करोड़ रुपया हो गया। 1997-98 व्यापार शेष के -23,644 करोड़ रुपया हो जाने की संभावना है। इसके फलस्वरूप व्यापार घाटे में लगातार वृद्धि हो गई है।

सारणी 13.1 भारत के विदेश व्यापार में प्रवृत्तियां

(करोड़ रु. में)

वर्ष	निर्यात(पुनः निर्यातों के साथ)	आयात	व्यापार शेष
1950-51	606	608	–2
1960-61	642	1112	–480
1970-71	1535	1634	–99
1980-81	6711	12549	–5838
1990-91	32553	43198	–10645
1991-92	44041	47851	–3810
1992-93	53688	63375	–9687
1993-94	69751	73101	–3350
1994-95	82674	89971	–7297
1995-96	106353	122678	–16325
1996-97	118817	138919	–20102
1997-98(P) (April-Feb) (P=Provisional)	113018	136662	–23644

स्त्रोत: इकनॉमिक सर्वे (1997-98), वित्त मंत्रालय, भारत सरकार

व्यापार घाटे (trade deficit) को कम करने के दो उपाय हैं– आयातों को कम करना या निर्यातों को बढ़ाना। आयात को कम करना केवल व्यापार घटाने के लिए ही आवश्यक नहीं है बल्कि इसके साथ ही साथ बात यह भी है कि आयात की गई वस्तुएं कभी-कभी देश के अन्दर बनी हुई वस्तुओं की तुलना में अधिक मंहगी होती हैं। हमारे कुछ आयात आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के होते हैं जो देश में कीमत स्थिरता बनाए रखने के लिए आवश्यक होते हैं। इनके आयात को घटाने से उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, जिससे उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जा सकेगा और निर्यात में भी कमी होगी। 1996-97 में कुल आयात में पूंजीगत पदार्थों का आयात 22% था क्योंकि प्रौद्योगिकी को और अधिक आधुनिक बनाना पड़ रहा है। इसी वर्ष में कुल आयात में ईंधन का आयात 26% था। इनके आयातों को घटाना कठिन है क्योंकि राष्ट्र के आर्थिक विकास में इनका बहुत अधिक योगदान है।

आयातों के वित्तीयन के लिए पहले हमें विदेशी सहायता (जिसमें ऋण की मात्रा बहुत अधिक होती थी) पर निर्भर रहना पड़ता था। सितंबर 1997 के अंत में भारत का कुल ऋण 92.9 बिलियन डालर था। 1996-97 में ऋण सेवा अनुपात लगभग 21.4% था। हाल के वर्षों में समस्त विश्व के संदर्भ में भारत की बाह्य ऋण भार स्थिति (external indeptedness position) में सुधार हुआ है। वर्ल्ड बैंक डिवलपमेंट फाइनेंस 1998 के अनुसार कुल ऋणभार के संबंध में विकासोन्मुख देशों में भारत का स्थान आठवां था। भारत का बाह्य ऋण बहुत अधिक है। अत: निर्यात को बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है। निर्यात क्षेत्रक का विस्तार करके आयात की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन कमाया जा सकता है।

अर्थव्यवस्था के विकास में निर्यात के महत्व को देखते हुए भारत सरकार निर्यात को बढ़ाने के लिए सतत् प्रयास कर रही है। जुलाई 1991 में भारत सरकार ने उद्योग, व्यापार और राजकोषीय नीतियों में सुधार करके अत्यंत महत्वपूर्ण कदम उठाया। व्यापार में सुधार का लक्ष्य ऐसा पर्यावरण लाना था जिससे निर्यातों में वृद्धि तीव्र गति से हो सके। निर्यातों के संवर्धन के लिए देश-प्रधान और वस्तु-प्रधान उपाय किए गए। बोर्ड ऑफ ट्रेड ने ऐसे 34 उत्पादों की पहचान की जिनके निर्यात में 30% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य रखने की आवश्यकता थी।

वाणिज्य मंत्रालय ने गहराई से विश्लेषण करके उन देशों और वस्तुओं की पहचान की है जिनके संबंध में निर्यातों को बढ़ाने की आवश्यकता है। 15 उत्पादों और 15 देशों की पहचान की गई है जिनका संबंध भारत के विदेश व्यापार के 75% से है। जिन वस्तुओं की पहचान की गई है वे निम्नलिखित है: जवाहरात और आभूषण, सूत के धागे, कपड़े और सिलसिलाए वस्त्र, मानव निर्मित धागे, समुद्र जनित पदार्थ, परिवहन-उपकरण, धातुओं से बजे पदार्थ, मशीनरी, उपकरण, चमड़ा, रसायन, रंग, मध्यवर्ती पदार्थ, प्लास्टिक, लिनोनियम पदार्थ, कृषि-रसायन, तैल आदि। जिन देशों की पहचान की गई है वे हैं : यू. एस. ए., जापान, जर्मनी, बेल्जियम, यू. ए. ई., सऊदी अरेबिया, यू. के., सिंगापुर, रूस, इटली, बांग्लादेश, फ्रांस, नीदरलैंड्स, हांगकांग और थाईलैंड। निर्यात को बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि इस संबंध में सभी आवश्यक उपाय किए जाएं।

बोध प्रश्न क

1) विदेश व्यापार के महत्व का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

2) व्यापार घाटे को कम करने की दो विधियां बताइए।

.....

.....

.....

13.4 विदेश व्यापार का संघटन (Composition of Foreign Trade)

समय बीतने के साथ-साथ विदेश व्यापार के संघटन में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। अनेक नई वस्तुओं का निर्यात होने लगा है। इन वस्तुओं के ढांचे के संबंध में अब हम विस्तार पूर्वक चर्चा करेंगे। पहले निर्यात के संघटन के संबंध में विचार किया जाएगा और उसके बाद आयात के संघटन के संबंध में विचार किया जाएगा।

13.4.1 निर्यातों का संघटन (Composition of Exports)

1950 के दशक में भारत का व्यापार मुख्यत: कृषि पर आधारित था। देश के कुल निर्यात में तीन प्रमुख परंपरागत मदों (कपड़ा, जूट से बने पदार्थ और चाय) का अंश लगभग 54% था। कुल निर्यात में सभी प्राथमिक और परंपरागत वस्तुओं का योगदान लगभग 85% था। इस अवधि में स्वावलंबन की प्राप्ति पर जोर दिया गया तथा आयातों पर कठोर नियंत्रण लगा दिया गया। औद्योगिकरण की आवश्यकता महसूस की गई। औद्योगिकरण के लिए पूंजीगत पदार्थों और प्रौद्योगिकी की आवश्यकता थी। देश के तेजी से विकास के लिए देश के पास पर्याप्त मात्रा में आधुनिक प्रौद्योगिकी, पूंजीगत पदार्थ और कच्चे माल नहीं थे। अत: यह भी महसूस किया गया कि प्रौद्योगिकी, मशीनरी और आवश्यक कच्चे माल के आयात को बढ़ाकर ही औद्योगिक विकास का आधार बनाया जा सकता है। इस प्रकार विश्व बाजार के निर्यात के लिए देश के अंदर माल का उत्पादन हो सकेगा। 1960 के दशक में भारत के विदेश व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक उपाय किए गए। आयात को अपेक्षाकृत सरल बना दिया गया एवं निर्यात संवर्धन के उपाय किए गए। इसके फलस्वरूप कुल निर्यात में परंपरागत वस्तुओं का अंश धीरे-धीरे घटने लगा था लोहा और इस्पात, मशीनरी, परिवहन उपकरण, रसायन आदि का अंश बढने लगा।

भारत सरकार ने निर्यात नीति का एक निश्चित रूप पहली बार 1970 के दशक में दिया। रक्षा एवं खाद्यानों के बाद निर्यात को तीसरा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इसके फलस्वरूप निर्यातों के संघटन में बहुत अधिक परिवर्तन हुए। निर्यात में परंपरागत वस्तुओं का अंश और भी घट गया और गैर-परंपरागत वस्तुओं का अंश बढ़ने लगा। इंजीनियरी वस्तुओं, चमड़ा एवं चमड़े से बनी वस्तुओं, सिले-सिलाये कपड़ों, जवाहरात और आभूषणों, रसायन और समुद्र जनित पदार्थों का निर्यात बहुत बढ़ा। इस प्रकार विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ने लगा। कुल निर्यात में विनिर्मित वस्तुओं का अंश 1960-61 के 45% से 1970-71 में 50% तथा 1980-81 में लगभग 59% हो गया।

1980 के दशक में निर्यात को और बढाने के प्रयास जारी रहे। कुल निर्यात में विनिर्मित निर्यात (manufactured export) का अंश बहुत अधिक बढ़ा। इस अवधि में विदेशी मुद्रा का अर्जन करने वाली प्रमुख वस्तुएं थीं: जवाहरात और आभूषण, सिले-सिलाए कपड़े, इंजीनियरी वस्तुएं, चमड़े से बनी वस्तुएं, समुद्र जनित वस्तुएं, रसायन आदि।

सारणी 13.2 निर्यातों का संघटन

मदें	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	199-93	1993-94	1994-95	1995-96	1996-97
कृषि और सहबद्ध पदार्थ	284 (44.2)	487 (36.0))	2057 (30.7)	6317 (19.4)	9457 (17.6)	13021 (18.7)	13712 (16.6)	21138 (19.9)	25040 (21.0)
अयस्क और खनिज	52 (8.1)	164 (12.1)	414 (6.2)	1497 (4.6)	1814 (3.4)	2371 (3.4)	2538 (3.1)	3061 (2.9)	3185 (2.7)
कपड़े और सिले सिलाये कपड़े	73 (11.4)	145 (10.7)	933 (14.0)	6832 (21.0)	12498 (23.3)	14863 (21.3)	19945 (24.1)	24149 (22.7)	27793 (23.4)

चमड़ा और चमड़े से बनी वस्तुएं	28 (4.4)	80 (5.9)	390 (5.8)	2600 (8.0)	3700 (6.9)	4077 (5.8)	5057 (6.1)	5790 (5.4)	5609 (4.7)
जवाहरात और आभूषण	1 (0.2)	45 (3.3)	618 (9.2)	5247 (16.1)	8896 (16.6)	12533 (18.0)	14131 (17.1)	17644 (16.6)	16872 (14.2)
रसायन और सहबद्ध पदार्थ	7 (1.1)	29 (2.1)	225 (3.4)	2111 (6.5)	3991 (7.4)	5688 (8.2)	7642 (9.2)	9849 (9.2)	11463 (9.6)
मशीनरी परिवहन और धातुओं से बने पदार्थ (लोहा और इस्पात सहित)	22 (3.4)	198 (14.6)	827 (12.3)	3892 (11.9)	7118 (13.3)	9484 (13.6)	10947 (13.2)	14578 (13.7)	17431 (14.7)
खनिज, इंधन और तैल (कोयला सहित)	7 (1.1)	13 (1.0)	28 (0.4)	948 (2.9)	1520 (2.8)	1554 (2.2)	1610 (1.9)	1761 (1.7)	1832 (1.5)
अन्य	168 (26.1)	194 (13.3)	1219 (18.2)	3129 (9.6)	4694 (8.7)	6160 (8.8)	7092 (8.6)	8383 (7.9)	9592 (8.1)
कुल	642	1355	6711	32553	53688	69751	82674	106353	118817

(कोष्ठक में दिए गए आंकड़े प्रतिशत के द्योतक हैं)
स्त्रोत: ये आंकड़े वित्त मंत्रालय, भारत सरकार के इकनॉमिक सर्वे से लिए गए हैं।

1990 का दशक भारत के विदेश व्यापार के लिए एक नये युग का आरंभ था। 1990-91 में विदेशी मुद्रा अत्यंत निम्न स्तर पर आ गई। अर्थव्यवस्था के विकास में निर्यात के महत्व को देखते हुए भारत ने जुलाई 1991 में उद्योग, व्यापार और राजकोषीय नीतियों में सुधार का सूत्रपात किया। आयातों को और अधिक उदार बना दिया गया और निर्यात के संवर्धन के नये उपाय अपनाए गए। कुल निर्यात में विनिर्मित पदार्थों का अंश 1980-81 के 59% से बढ़कर 1990-91 में 73% हो गया। 1996-97 तक यह बढ़कर 75% हो गया। 1990 के दशक में निर्यातों के संघटन में भी बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। अनेक नये पदार्थों का निर्यात होने लगा है। सारणी 13.2 को देखिए जिसमें निर्यातों के संघटक को दिखाया गया है। भारत से निर्यात किए जाने वाले प्रमुख, उत्पादों की प्रवृत्तियों के संबंध में अब संक्षेप में विश्लेषण किया जाएगा।

कृषि उत्पाद (Agricultural Products): वर्ष 1960-61 में कृषि उत्पादों का अंश 44.2% था। निर्यात में इस अंश के इतना अधिक होने का कारण यह था कि उस समय प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात अधिक होता था। निर्यात में कृषि पदार्थों का अंश घटकर 1970-71 में 36% और 1980-81 में 30.7% हो गया। 1990-91 तक यह और भी घटकर 19.4% हो गया। विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात पर और अधिक जोर देने एवं कृषि उत्पादों में और अधिक मूल्य वर्धन (Value addition) के फलस्वरूप कुल उत्पादों में कृषिजन्य पदार्थों का अंश और भी घट गया।

कृषि उत्पादों और सहबद्ध उत्पादों (allied products) का अंश 1990-91 के 19.4% से बढ़कर 1996-97 तक 21.1% हो गया। निर्यात किए जाने वाले कृषि पदार्थों में कुछ नई वस्तुओं का प्रवेश हुआ है। इस समय निर्यात किए जाने वाले प्रमुख कृषि पदार्थ ये हैं : चाय, कॉफी, खाद्यान्न, अनिर्मित तम्बाकू, मसाले, काजू, अलसी की खली, फल, सब्जियां, समुद्र जनित पदार्थ तथा कच्चा कपास। सबसे अधिक विदेशी मुद्रा का अर्जन समुद्री उत्पाद (marine products) से हुआ। इसके बाद खाद्यान्नों और अलसी की खली का स्थान था।

रबर, चावन, गेहूं, तम्बाकू, सोयाबीन, समुद्री उत्पाद, बागवानी के उत्पाद तथा प्रक्रमित खाद्य पदार्थों के निर्यात से अधिक अर्जन होता है। कृषि निर्यात 1996-97 के 10.3% से घटकर अप्रैल-जनवरी 1997-98

तक 6.6% हो गया। यह कमी खाद्यान्नों एवं अलसी खली के कारण हुई। 1996-97 में देश के अन्दर इन वस्तुओं की मांग बहुत बढ़ गई। चावल और गेहूं की निर्यात-सीमा निश्चित हो जाने तथा यूरोपियन यूनियन द्वारा समुद्री पदार्थों के आयात पर प्रतिबंध लगाने के कारण कृषि उत्पाद के निर्यातों में वृद्धि की दर कम रही। कृषि वस्तुओं के निर्यातों के लिए अभी बहुत अधिक गुंजाइश है। विदेशी मुद्रा अर्जन को बढ़ाने एवं लक्षित 20% संवृद्धि को प्राप्त करने के लिए कृषि उत्पादों में और अधिक मूल्य वर्धन करना आवश्यक है।

कपड़े और उनसे बने पदार्थ (Textiles frabics and manufacturers): 1996-97 वर्ष में कुल निर्यात में कपड़ों और उनसे बने पदार्थों का अंश 23.4% था। 1960-61 और 1970-71 में कुल निर्यात में यह अंशत: क्रमश: 11.4% और 10.7% ही था। 1980 और 1990 के दशकों में इस अंश में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी। निर्यात संवर्धन की योजनाओं के चलते कपड़ा के क्षेत्रक में आधुनिकीकरण किया जा सका। अनुकूल निर्यात पर्यावरण और सरकारी नीति ने 1990 के दशक में निर्यात को बढ़ावा दिया। 1990-91 से निर्यात में लगातार वृद्धि होती गई है। तब से अब तक निर्यात में चौगुनी वृद्धि हुई है। सबसे अधिक विदेशी मुद्रा कपड़े के निर्यात से कमाई जाती है क्योंकि कपड़े में आयातित तत्व (import content) बहुत ही कम होता है। श्रम-प्रधान उद्योग होने के कारण वस्त्र-जनित वस्तुओं के निर्माण में भारत को तुलनात्मक लाभ हैं। GATT के फलस्वरूप और उसके बाद बाजार पहुंच प्रावधान के कार्यान्वित होने से वस्त्र के निर्यात के लिए बहुत अधिक क्षेत्र उपलब्ध है। लेकिन इस संबंध में भारत को दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों की ओर से कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना होगा। ऐसी स्थिति में वस्त्र के लिए बढ़ते हुए विश्व बाजार के अधिकाधिक भाग पर कब्जा करने के लिए प्रौद्योगिकी का आधुनिकीकरण करने और उनको नवीनतम् बनाने की आवश्यकता है।

चमड़ा और उससे निर्मित पदार्थ (Leather and leather manufacturers): 1996-97 वर्ष में कुल निर्यातों में इसका अंश 4.7% था। 1960-61 में कुल निर्यातों में चमड़ा और उससे निर्मित वस्तुओं का अंश केवल 4.4% ही था। इसमें लगातार वृद्धि होती गई तथा 1990-91 तक कुल निर्यातों में इसका अश 8% हो गया। लेकिन 1996-97 तक यह अंश घटकर 4.7% हो गया। भारत की टैनरियों में रसायनों के उपयोग के संबंध में औद्योगिक देशों द्वारा आपत्ति करने के कारण चमड़े से बनी वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। चमड़े को निर्यात का एक प्रमुख क्षेत्र माना जा रहा है और चमड़े से बनी वस्तुओं के वर्धित मूल्य निर्यात को प्रोत्साहित करने के संबंध में पहल किए गए हैं।

जवाहरात और आभूषण (Gems and Jewellary): 1996-97 वर्ष में देश के कुल निर्यात में इसका अंश 14.2% था। वर्ष 1960-61 में देश के कुल निर्यात में जवाहरात और आभूषणों के निर्यात का अंश केवल 0.2% ही था। इसमें क्रमश: वृद्धि होती गई और 1980-81 तक इसका अंश 9.2% हो गया। 1990 के दशक में अनुकूल निर्यात पर्यावरण के होने एवं आभूषण बनाने में आवश्यक आगतों के आयात नियमों का उदार होने के फलस्वरूप इस अवधि में इनके निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। 1990-91 में जवाहरातों और आभूषणों का अंश 16.1% था तथा 1993-94 तक यह बढ़कर 18% हो गया। उसके पश्चात् यह अंश घटने लगा और 1996-97 तक यह 14.2% हो गया। जवाहरातों और आभूषणों में आयातित तत्व बहुत अधिक होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में कच्चे माल की लागत में उतार-चढ़ाव होता रहा है। विश्व बाजार में सुस्ती (recession) के कारण मांग बहुत अधिक घट गई है। जवाहरातों और आभूषणों को बनाने के लिए भारत में बहुत बड़ी मात्रा में कुशल कारोबर है। बढ़ते हुए बाजार में प्रतियोगिता का सामना करने के लिए इस उद्योग को और अधिक आधुनिक बनाने की आवश्यकता है।

रसायन और सहबद्ध पदार्थ (Chemical and Allied Products): 1996-97 में कुल निर्यातों में इसका भाग 9.6% था। निर्यात में लगातार वृद्धि होती रही है। 1960-61 में यह भाग केवल 1.1% था। 1980-81 तक यह 3.4% हो गया। 1990 के दशक में इसकी वृद्धि दर बहुत अधिक रही। उदारीकरण की युक्ति के फलस्वरूप इन वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाना आसान हो गया। 1990-91 के 6.5% से 1996-97 तक यह 9.6% हो गया। विकसित देशों में प्रदूषण पर कड़ा नियंत्रण लगाने के फलस्वरूप विकासोन्मुख देशों में रसायन-पदार्थों के निर्यात को बल मिला है। विश्व व्यापार की मांग को पूरा करने के लिए आवश्यक है कि भारत में विश्व के मापदंड के अनुसार रासायनिक पदार्थों का उत्पादन किया जाए।

मशीनरी परिवहन और धातु निर्मित पदार्थ (Machinary transport and metal manufacturers): 1996-97 में कुल निर्यातो में इसका भाग 14.7% था। 1960-61 में यह भाग केवल 3.4% ही था। औद्योगीकरण की नीति में इस उद्योग में निर्मित वस्तुओं के निर्यात पर जोर दिया गया। 1970-71 तक देश के कुल निर्यात में इस उद्योग के निर्यात का भाग बढ़कर 14.6% हो गया। यह भाग घटकर 1980-81 में 12.3% और 1990-91 में 11.9% हो गया। निर्यात के इस प्रकार घटने के कारण थे धीमी गति से औद्योगिक संवृद्धि और बाजार में सुस्ती का होना। 190-91 से निर्यात में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही है। मशीनरी पदार्थों और धातु निर्मित पदार्थों के निर्यात की बहुत अधिक संभावना है। इस अवसर का लाभ उठाने के लिए सोच समझ कर बनाई गई युक्ति की आवश्यकता है। अंतर्राष्ट्रीय मापदंड के अनुसार निर्यात करने के लिए इन वस्तुओं की किस्म में सुधार लाने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में शीघ्र की स्वचालन, आधुनिकीकरण और नवीनीकरण करने की आवश्यकता है।

खनिज, ईंधन और तैल (Minerals, fuels and lubricants): 1996-97 में कुल निर्यात में इसका भाग 1.5% था। 1960-61 में यह भाग 1.1% था। 1990-91 तक यह बढ़कर 2.9% हो गया। 196-97 में यह घटकर 1.5% हो गया। इन वस्तुओं के निर्यात के संबंध में विश्व बाजार में बहुत जबरदस्त प्रतियोगिता है। निर्यात को बढ़ाने के लिए बहुत अधिक प्रयास करने होंगे।

उपर्युक्त वस्तुओं के अलावा पर्यटन, परामर्श सेवा, हस्तशिल्प की वस्तुओं आदि को विश्व बाजार में निर्यात करने की बहुत अधिक गुंजाइश है। इन क्षेत्रों में निर्यात का लाभ उठाने के लिए समुचित आधारिक संरचना सुविधाओं को विकसित करने की आवश्यकता है।

13.4.2 आयातों का संघटन (Composition of Imports)

स्वावलंबन प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने शुरू से ही आयातों पर कड़ा प्रतिबंध लगा दिया। देशीय उद्योगों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से आयात प्रतिस्थापन (importn substitution) नीति अपनाई गई। दूसरी पंचवर्षीय योजना में आयोजित विकास की प्रक्रिया पर जोर दिया गया, जिसमें पूंजी-प्रधान निवेश को मुख्य स्थान दिया गया। विकास के लिए जिन पूंजीगत पदार्थों की आवश्यकता थी उनका उत्पादन देश के अंदर नहीं हो सकता था। इसीलिए पूंजीगत पदार्थों का आयात करने की आवश्यकता हुई। क्रमिक रूप से महसूस किया गया कि प्रौद्योगिकी, मशीनरी और आवश्यक कच्चे माल के आयात को बढ़ाने से देश के औद्योगिकरण की प्रक्रिया को बल मिलेगा। उत्पादन की सुविधाओं को बढ़ाने से निर्यात भी बढ़ेगा। इस प्रकार देश के निर्यात को बढ़ाने के लिए पूंजीगत पदार्थों, प्रौद्योगिकी और कच्चे माल के आयात की प्रक्रिया को उदार बनाने की आवश्यकता है। इस संबंध में आपको याद रखना चाहिए कि आयात पर जो खर्च होता है उसकी पूर्ति निर्यात से प्राप्त धन से हो जानी चाहिए। इसलिए आयात प्रबंध की नीति का पालन इस प्रकार होना चाहिए कि निर्यात कार्यों को बल मिले।

1960 के दशक में भारत का आयात यों था : पूंजीगत पदार्थ (31.7%), लोहा और इस्पात (11.0%), पेट्रोलियम और तैल (6.1%), फेरस मेटल (4.2%), केमिकल्स (3.5%), और उर्वरक (1.2%)। आयात संघटन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। वर्ष 1996-97 में आयात किए जाने वाले मुख्य पदार्थ थे : पेट्रोलियम, तैल और लुब्रिकैन्ट (25.6%), जिनके बाद पूंजीगत पदार्थों (21.5%) मूंगा एवं जवाहरात (7.5%), लोहा और इस्पात (4.9%), फेरस मेटल्स (2.8%), उर्वरकों (2.3%) और प्लास्टिक की वस्तुओं (2.0%) का स्थान था। सारणी 13.3 को देखें जिसमें भारत के आयात की प्रवृत्ति को प्रदर्शित किया गया है। आयात की जाने वाली मुख्य वस्तुओं की प्रवृत्ति के संबंध में संक्षेप में नीचे विवेचन किया जाएगा।

पेट्रोलियम, तैल और लुब्रिकैंट : वर्ष 1996-97 में भारत के कुल आयात का यह 25.6% था। 1960-61 से 1996-97 के बीच कुल आयातों में इसके अंश में चौगुनी वृद्धि हुई है। 1960-61 में यह कुल आयात का 6.1% था जबकि 1996-97 में यह 25.6% हो गया। 1973 में पेट्रोलियम की कीमतों में वृद्धि होने के बाद इसका आयात लगातार बढ़ता गया है। देश के अन्दर क्रूड आयल का उत्पादन कम होने एवं गल्फ संकट के फलस्वरूप पेट्रोलियम पदार्थों के आयात पर खर्च की जाने वाली रकमों में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। वर्ष 1980-81 में कुल आयात में पेट्रोलियम पदार्थों का आयात बढ़ कर 42% हो गया। देश के अंदर

पेट्रोलियम के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयास किया गया। उत्पादन बढ़ने के फलस्वरूप पेट्रोलियम के आयात में वृद्धि की प्रवृत्ति पर कुछ रोक लगी है। 1990-91 में कुल आयात में इसका अंश घटकर 25.0% हो गया।

1992-93 में आयात बढ़कर 27% हो गया लेकिन 1995-96 में घटकर यह 20.5% हो गया। 1996-97 में पुन: यह बढ़कर 25.6% हो गया। पेट्रोलियम अत्यंत महत्वपूर्ण वस्तु है। अत: इसके संचय के संबंध में सभी उपाय किए जाने चाहिए। इसका इष्टतम उपयोग होना चाहिए तथा इसके संबंध में समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। पेट्रोलियम पर बढ़ते हुए खर्च को देखते हुए इष्टतम उपयोग करना एवं देश के अंदर इसके उत्पादन को बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है।

सारणी 13.3 आयातों का संघटन

(करोड रु. में)

	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1992-93	1993-94	1994-95	1995-96	1996-97
पेट्रोलियम और लुब्रिकैंट	69 (6.1)	136 (8.3)	5264 (42.0)	10816 (25.0)	17142 (27.0)	10046 (13.7)	18613 (20.7)	25173 (20.5)	35629 (25.6)
उर्वरक और उर्वरक मेट	13 (1.2)	86 (5.3)	818 (6.5)	1766 (4.1)	2832 (4.5)	2591 (3.5)	3304 (3.7)	5628 (4.6)	3235 (2.3)
रसायन तत्व और मिश्रण	39 (3.5)	68 (4.2)	358 (2.9)	2289 (5.3)	4134 (6.5)	4823 (6.6)	7344 (8.2)	9403 (7.7)	10832 (7.5)
प्लास्टिक की वस्तुएं	9 (0.8)	8 (0.5)	121 (1.0)	1095 (2.5)	1218 (1.9)	1363 (1.7)	1903 (2.1)	2687 (2.2)	2826 (2.0)
मूंगा और जवाहरात	1 (0.08)	25 (1.5)	417 (3.3)	3738 (8.7)	7072 (11.1)	8263 (11.3)	5116 (5.7)	7045 (5.7)	10384 (7.5)
लोहा और इस्पात	123 (11.0)	147 (9.0)	852 (6.8)	2113 (4.9)	2254 (3.6)	2494 (3.4)	3653 (4.1)	4838 (3.9)	6866 (4.9)
नॉन फेरस मेटल	47 (4.2)	119 (7.3)	477 (3.8)	1102 (2.6)	1144 (1.8)	1503 (2.1)	2954 (3.3)	3024 (2.5)	3925 (2.8)
पूंजीगत माल	356 (31.7)	404 (25.0)	1910 (15.2)	10466 (24.2)	10839 (17.1)	16663 (22.8)	19990 (22.1)	28289 (23.0)	29868 (21.5)
अन्य	465 (41.4)	641 (39.2)	2332 (18.6)	9813 (22.7)	16740 (26.4)	25355 (34.7)	27094 (30.1)	36591 (29.8)	35804 (25.8)
कुल	**1122**	**1634**	**12549**	**43198**	**63375**	**73101**	**89971**	**122678**	**138919**

स्त्रोत: इकानॉमिक सर्वे (1997-98), वित्त मंत्रालय, भारत सरकार

पूंजीगत पदार्थ (Capital Goods): वर्ष 1996-97 में कुल आयात में इसका भाग 21.5% था। आयात-प्रतिस्थापन (import substitution) योजना को कार्यान्वित करने के फलस्वरूप पूंजीगत पदार्थों के आयात का भाग 1960-61 के 31.7 से घटकर 1970-71 में 25% हो गया। 1980-81 तक यह और भी घटकर 15.2% हो गया। इस अवधि में प्रौद्योगिकी के आधुनिकीकरण और उसकी कोटि को उच्च बनाने

को प्रोत्साहित किया गया। 1990-91 में आयात का अंश बढ़कर 24.2% हो गया। विदेशी पूंजी की दुर्लभता और सुस्ती के फलस्वरूप 1992-93 में पूंजीगत पदार्थों का अंश घटकर 17.1% हो गया। आर्थिक सुधारों के चलते आयात शुल्क कम हुआ तो पूंजीगत पदार्थों का महत्व और भी बढ़ गया और 1996-97 में कुल आयात में पूंजीगत पदार्थों का अंश 23% हो गया। सुस्ती की स्थिति के आने एवं निवेश में कमी होने के फलस्वरूप 1996-97 में इसके भाग में थोड़ी सी कमी आ गई है।

रासायनिक तत्व और मिश्रण **(Chemical elements and compounds):** 1996-97 में कुल आयातों में इसका भाग 7.5% था। 1960-61 में यह भाग केवल 3.5% था। 1970-71 में यह भाग बढ़कर 4.2% हो गया, लेकिन 1980-81 में यह घटकर 2.9% हो गया। 1990 के दशक में फर्मासूटिकल और केमिकल क्षेत्रों में विनिर्माण कार्यों के बढ़ने के फलस्वरूप रासायनिक तत्वों की मांग बढ़ गई। 1990-91 में कुल आयात में इसका भाग बढ़कर 5.3% हो गया। 1994-95 तक यह और भी बढ़कर 8.2% हो गया। 1995-96 और 1996-97 में यह घटकर क्रमश: 7.7% और 7.5% हो गया।

मूंगा और जवाहरात **(Pearls, Precious and Semi-precious Stones):** 1996-97 में कुल आयातों में इसका अंश 7.5% था। 1960-61 में आयात का यह अंश केवल 0.08% ही था। 1970-71 और 1980-81 तक यह अंश धीरे-धीरे बढ़कर क्रमश: 1.5% और 3.3% हो गया। 1990 के दशक में जवाहरात और आभूषण क्षेत्रों के निर्यात में बहुत अधिक वृद्धि हुई। जवाहरात और आभूषणों को बनाने में मूंगा और कुछ जवाहरातों की प्रमुख रूप से आवश्यकता पड़ती है, अत: 1990-91 तक कुल आयातों में इनका भाग बढ़कर 8.7% हो गया। 1992-93 में यह वृद्धि जारी रही तथा 1993-94 वर्ष में कुल आयातों से मूंगा और जवाहरातों के आयात का अंश बढ़कर 11.3% हो गया। 1994-96 की अवधि में जवाहरातों एवं आभूषणों के निर्यात में कमी हुई। इसके फलस्वरूप वर्ष 1994-95 और 1995-96 में यह अंश घटकर 5.7% हो गया। वर्श 1996-97 में यह अंश फिर बढ़कर 7.5% हो गया।

लोहा और इस्पात **(Iron and Steel):** 1996-97 में कुल आयातों में लोहा और इस्पात के आयात का अंश 4.9% था। 1960-61 में यह अंश 11% था। तब से इन वस्तुओं के आयात का अंश क्रमश: घटता रहा है। 1990 के दशक में कुल आयात से लोहा और इस्पात के आयात का अंश लगभग 3.4% था। 1996-97 में इस अंश में थोड़ी सी वृद्धि हुई और इस प्रकार यह 4.9% हो गया।

उर्वरक और उर्वरक मेट **(Fertilisers & Fertilisers mate) :** वर्ष 1996-97 में कुल आयातों में इन वस्तुओं के आयात का अंश 2.3% था। 1960-61 में यह अंश 1.2% था। 1970 के दशक में नई कृषि प्रौद्योगिकी को अपनाने के बाद उर्वरकों का उपयोग बढ़ने लगा। 1970-71 में यह अंश बढ़कर 5.3% हो गया। 1980-81 तक यह बढकर 6.5% हो गया। देश के अंदर भी उर्वरकों का उत्पादन बढने लगा। इसके फलस्वरूप 1990-91 में कुल आयात में उर्वरकों के आयात का अंश घटकर 4.1% हो गया। 1992-93 और 1993-94 में यह क्रमश: 4.5% और 3.5% हो गया। 1995-96 में यह 4.6% था तथा 1996-97 में यह घटकर 2.3% हो गया।

13.5 विदेश व्यापार की दिशा (Directions of Foreign Trade)

विदेश व्यापार की दिशा में भी बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। यू. एस.ए. अब भारत का प्रमुख व्यापारी साझेदार (trading partner) हो गया है। अब हम विदेश व्यापार के दिशा स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

13.5.1 निर्यातों की दिशा (Direction of Exports)

सारणी 13.4 को देखें जिसमें विभिन्न देशों को भारत के निर्यात को दिखाया गया है। वर्ष 1960-61 में भारत के निर्यात का प्रमुख साझेदार यू. के. था, जिसके बाद यू. एस. ए., जापान, रूस, जर्मनी और फ्रांस का स्थान था। भारत के कुल निर्यात का 57.4% इन देशों को जाता था। अलग-अलग देशों को भारत का निर्यात यों था : यू. के. (26.9%), यू. एस. ए. (16.0%), जापान (5.5%), रूस (4.5%), जर्मनी (3.1%) और फ्रांस (1.4%)।

भारत और पूर्वी यूरोप के देशों के बीच रुपया भुगतान संबंधी व्यापार समझौते के फलस्वरूप 1970 के दशक में इनके बीच व्यापार में वृद्धि होने लगी। प्रति व्यापार की नीति ने भारत और सोवियत संघ के बीच व्यापार को तेजी से बढ़ाने में सहायता किया। इसके फलस्वरूप 1970-71 में सोवियत संघ भारत की वस्तुओं के लिए प्रमुख बाजार हो गया। 1980 के दशक में सोवियत संघ ही भारत के लिए सबसे बड़ा बाजार था। इसके बाद यू. एस. ए., जापान, जर्मनी, यू. के. और जर्मनी का स्थान था। 1980-81 में जर्मनी का स्थान चौथा था। 1990-91 में भी भारत को निर्यात के लिए सबसे बड़ा बाज़ार सोवियत संघ था, जिसके बाद यू. एस. ए., जापान, जर्मनी, यू.के., बेल्जियम और फ्रांस का स्थान था।

सोवियत संघ के टूटने के बाद 1990 के दशक में भारत के निर्यात की दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये। 1990-91 में भारत के कुल निर्यात में सोवियत संघ को निर्यात 16.1% था. लेकिन अब उस देश को भारत का निर्यात कम हो गया। भारत की व्यापार नीति में परिवर्तन के फलस्वरूप व्यापार की दिशा में भी परिवर्तन हो गए। 1996-97 में भारत के लिए प्रमुख निर्यात बाजार यू. एस. ए. था, जिसके बाद यू. के., जापान, जर्मनी, बेल्जियम, नीदरलैंड्स और फ्रांस का स्थान था। यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के रूप में यूरोप के देशों के एकीकरण के फलस्वरूप वहां पर भारत से निर्यात करना सुविधापूर्ण हो गया। अत: भारत के कुल निर्यात में यूरोप को निर्यात का अंश बढ़ गया। देशों के अनुसार निर्यात में अंश यों था: यू. एस. ए. 19.8%, यू. के. 6.1%, जापान 6%, जर्मनी 5.6%, बेल्जियम 3.3%, नीदरलैंड्स 2.5% और फ्रांस 2.2%। भारत के कुल निर्यात में इन छः देशों का अंश 45.5% था।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों से पता चलता है कि भारत का निर्यात कुछ थोड़े से बाजारों में ही केन्द्रित है। बाजार के विविधीकरण के लिए प्रयुक्त युक्तियां बनाना आवश्यक है।

सारणी 13.4 निर्यातों की दिशा

प्रतिशत अंश

देश	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1992-93	1993-94	1994-95	1995-96	1996-97
यू. के	26.9	11.1	5.9	6.5	6.5	6.2	6.4	6.3	6.1
जर्मनी	3.1	2.1	5.7	7.8	7.7	6.9	6.6	6.2	6.5
बेल्जियम	0.8	1.3	2.2	3.9	3.7	3.8	3.8	3.5	3.3
फ्रांस	1.4	1.2	2.2	2.4	2.5	2.3	2.2	2.3	2.2
नीदरलैंड्स	1.3	0.9	2.3	2.0	2.2	2.3	2.2	2.4	2.5
यू. एस. ए.	16.0	13.5	11.1	14.7	19.0	18.0	19.1	17.4	19.8
जापान	5.5	13.3	8.9	9.3	7.7	7.8	7.7	7.0	6.0
सऊदी अरब	0.5	0.9	2.5	1.3	2.2	2.3	1.7	1.5	1.7
रूस	4.5	13.7	18.3	16.1	3.3	2.9	3.1	3.3	2.4
अन्य सबसे कम विकसित देश	14.8	19.8	19.2	16.8	20.8	24.2	23.9	25.7	26.9
अन्य	25.2	23.2	21.7	19.2	24.4	23.3	23.3	24.4	23 5
कुल	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**

स्त्रोत: इकनॉमिक सर्वे (1997-98), वित्त मंत्रालय, भारत सरकार

13.5.2 आयातों की दिशा (Direction of Imports)

सारणी 13.5 को देखें जिसमें प्रमुख देशों से भारत को होने वाले आयात को दिखाया गया है। वर्ष 1960-61 में भारत का प्रमुख आयात-साझेदार यू. एस. (29.2%) था, जिसके बाद यू. के. (19.4%), जर्मनी (10.9%), जापान (5.4%), इराक (2.6%), फ्रांस (1.9%), बेल्जियम और रूस (प्रत्येक 1.4%), और सऊदी अरब (1.3%) का स्थान था। पिछले 40 वर्ष में स्थिति बदल गई है। 1996-97 में भारत का प्रमुख आयात-साझेदार यू. एस. ए. (8.8%) था, जिसके बाद सऊदी अरब (7.3%), जर्मनी (7.2%), बेल्जियम (6.3%), कुवैत (6.2%), जापान (5.7%), यू. के. (5.4%), ईरान (2.3%) और रूस (1.6%) का स्थान था। पेट्रोलियम पदार्थों के आयात में अत्यंत वृद्धि के फलस्वरूप सऊदी अरब और कुवैत भारत के दूसरे और पांचवें सबसे बड़े आयात-साझेदार (importing partner) हो गए हैं।

सारणी 13.5 आयातों की दिशा

प्रतिशत अंश

देश	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1992-93	1994-95	1995-96	1996-97
यू. के.	19.4	7.8	5.8	6.7	6.5	5.4	5.2	5.4
जर्मनी	10.9	6.6	5.5	8.0	7.6	7.6	8.6	7.2
बेल्जियम	1.4	0.7	2.4	6.3	8.3	4.2	4.6	6.3
फ्रांस	1.9	1.3	2.2	3.0	2.7	2.1	2.3	2.0
यू. एस. ए.	29.2	27.7	12.9	12.1	9.8	10.1	10.5	8.8
जापान	5.4	5.1	6.0	7.5	6.5	7.1	6.7	5.7
सऊदी अरब	1.3	1.5	4.3	6.7	6.8	5.5	5.5	7.3
कुवैत	0.0	0.3	2.7	0.8	4.4	5.2	5.4	6.2
ईरान	2.6	5.6	10.7	2.4	1.8	1.9	1.6	2.3
रूस (पूर्व सोवियत संघ)	1.4	6.5	8.1	5.9	1.2	1.8	2.3	1.6
अन्य सबसे कम विकसित देश	11.8	14.6	15.7	18.4	15.2	20.2	18.3	16.9
अन्य	14.7	22.3	23.7	22.2	29.2	28.9	29.0	30.3
कुल	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**

स्त्रोत: इकनॉमिक सर्वे (1997-98) वित्त मंत्रालय, भारत सरकार

बोध प्रश्न ख

1) भारत से निर्यात किए जाने वाले पाँच मुख्य उत्पादों के नाम लिखिए।

.....

.....

.....

2) भारत में निर्यात की जाने वाली तीन मुख्य वस्तुओं के नाम लिखिए।

.....

.....

.....

3) खाली स्थानों को भरिये

i) 1996-97 वर्ष में भारत के कुल निर्यात में कपड़ा और सिले-सिलाए कपड़े का अंश ..... था।

ii) 1996-97 में भारत के कुल आयात में पूंजीगत माल का स्थान .... था।

iii) 1996-97 वर्ष में भारत का प्रमुख निर्यात साझेदार ..... था।

iv) 1996-97 वर्ष में भारत का प्रमुख आयात साझेदार ..... था।

v) 1970 के दशक में निर्यात को ..... महत्व का स्थान दिया गया।

13.6 विदेश व्यापार का विनियमन (Regulation of Foreign Trade)

भारत की व्यापार नीति का लक्ष्य रहा है निर्यातों को बढ़ावा देना और देश में उपलब्ध-विदेशी मुद्रा के अनुसार आयातों का विनियमन करना। आयातों को बढ़ाने के लिए सरकार लगातार प्रयास करती रही है। कुछ वस्तुएं देश के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होती हैं। अत: इन वस्तुओं पर नियंत्रण रखा जाता है जिससे देश में इनकी दुर्लभता की स्थिति न आ जाए। उदाहरणार्थ आप जानते हैं कि हाल में देश में प्याज की अत्यंत कमी होने और इसका दाम बहुत बढ़ जाने के फलस्वरूप सरकार ने इसके निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया। अत: निर्यात का संवर्धन इस प्रकार होना चाहिए कि इसके फलस्वरूप देश में किसी वस्तु की बहुत कमी न हो जाए।

किसी वस्तु का आयात करने के दो उद्देश्य होते हैं – देश के अंदर की मांग को पूरा करना या निर्यात किए जाने वाले उत्पाद में उसका उपयोग करना। आमतौर पर विकासोन्मुख देशों और विशेषत: भारत को कच्चे माल, पूंजीगत पदार्थों और प्रौद्योगिकी की कमी का सामना करना पड़ रहा है। देश के विकास के लिए इनका आयात करना आवश्यक है परन्तु इसके लिए दुर्लभ विदेशी मुद्रा को खर्च करना पड़ता है। अत: आयात के समुचित प्रबंध के लिए इसका विनियमन करने की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ यह है कि उस देशीय बाजार पर आयात का विपरीत प्रभाव नहीं पडना चाहिए। आयात इस प्रकार से होना चाहिए कि व्यापार को बढावा मिले और अर्थव्यवस्था की संवृद्धि हो सके।

विदेश व्यापार का विनियमन आयात-निर्यात नीति 1997-2002 के प्रावधानों या तत्कालीन किसी अन्य कानून के द्वारा होता है। भारत के विदेश व्यापार का विनियमन विदेश व्यापार (विकास एवं विनियमन) अधिनियम 1992 और उसके अंतर्गत जारी किए गए नियमों और आदेशों द्वारा होता है। विदेश व्यापार के अंतर्गत विदेशी मुद्रा का अंत:प्रवाह (inflow) और उत्प्रवाह (outflow) आता है। विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम 1973 (इसका स्थान अब विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम ने ले लिया है) उन लेनदेनों का विनियमन करता है जिनमें विदेशी मुद्रा का लेनदेन शामिल होता है निर्यात और आयात के अंतर्गत एक देश से दूसरे देश का माल का आना-जाना शामिल होता है। सीमाशुल्क अधिनियम 1962 वस्तुओं और सेवाओं के इस प्रकार के आने-जाने पर नियंत्रण रखता है। देश में उत्पादित वस्तुओं की छवि में सुधार के लिए

उच्च कोटि की वस्तुओं को बनाना आवश्यक होता है। कोटि नियंत्रण एवं निरीक्षण अधिनियम 1963 यह सुनिश्चित करता है कि विश्व बाजार में बेचे जाने वाले उत्पादों की किस्म अच्छी प्रकार की हो। उपर्युक्त इन चार प्रमुख अधिनियमों के अतिरिक्त अनेक अन्य नियम और विनियम भी बनाए गए हैं, जिनका संबंध वस्तुओं के आयात और निर्यात, परिवहन की विधियों, माल के बीमा, अंतर्राष्ट्रीय कंवेन्शनों आदि के साथ होता है। विदेशी बाजार में लेनदेन करते समय इन सबका पालन करना होता है। इन प्रमुख अधिनियमों के संबंध में नीचे संक्षेप में चर्चा की जा रही है।

विदेश व्यापार (विकास एवं विनियमन) अधिनियम 1992 (Foreign Trade (Development and Regulation) Act 1992): यह अधिनियम आयातों को सुविधापूर्ण बनाकर तथा निर्यातों को बढ़ाकर भारत के विदेश व्यापार के विकास तथा विनियमन की व्यवस्था करता है। संक्षेप में इस अधि नियम के निम्नलिखित प्रावधान हैं:

i) विदेश व्यापार के विकास और विनियमन के संबंध में केन्द्रीय सरकार को अनुमति देता है। सरकार वस्तुओं के आयात-निर्यात पर निषेध, प्रतिबंध या नियंत्रण लगा सकती है।

ii) यह अधिनियम केन्द्रीय सरकार को अनुमति देता है कि वह आयात-नीति का निर्धारण करे तथा उसे घोषित करे।

iii) इस अधिनियम के अंतर्गत आयात-निर्यात कोड संख्या और लाइसेंस का आबंटन करने और रद्द करने का विस्तृत प्रावधान है।

iv) इस अधिनियम के द्वारा वस्तुओं और प्रलेखों आदि की जांच करने, दंड लगाने और जब्त करने के अधिकार दिए गए हैं।

v) अधिनियम के अंतर्गत दिए गए किसी आदेश के खिलाफ अपील करने उस पर पुन: विचार के लिए निवेदन करने के लिए इसमें प्रावधान हैं।

विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम (Foreign Exchange Management Act): आप जानते हैं कि विदेशी मुद्रा अत्यंत दुर्लभ वस्तु होती है अत: इसे सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। इसीलिए विदेशी मुद्रा के लेनदेनों की विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act, FERA), 1973 के अंतर्गत लाया गया। FERA के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे:

i) विदेशी मुद्रा को सुरक्षित रखना
ii) देश में उपलब्ध विदेशी मुद्रा का सही ढंग से प्रयोग करना
iii) देश में विदेशी मुद्रा के उत्प्रवाह को रोकना।

FERA का स्थान विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम (Foreign Exchange Management Act, FEMA) ले सके इसके लिए 27 जुलाई 1998 को संसद में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक के मुख्य उद्देश्य हैं: विदेशी व्यापार और भुगतानों को सुविधाजनक बनाना तथा भारत में विदेशी मुद्रा का विकास और सुरक्षा करना। जोर इस बात पर दिया गया है कि विदेशी मुद्रा को बचाया जाए तथा उसका उपयोग समुचित ढंग से किया जाए। इस विधेयक में निम्नलिखित प्रावधान हैं: विदेशी मुद्रा के विनियमन और प्रबंध की व्यवस्था, अधिकृत व्यक्तियों के माध्यम से ही विदेशी मुद्रा की लेनदेन, अधिनियम के उल्लंघन और दंड के संबंध में व्यवस्था, अधिनिर्णय और अपील की प्रक्रिया तथा विदेशी मुद्रा के लेनदेनों संबंधी विनियमों को लागू करने के संबंध में निदेशालय के अधिकार।

निर्यात कोटि नियंत्रण और निरीक्षण अधिनियम (Export Quality Control and Inspection Act) 1963: इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य है कोटि [illegible] तथा पूर्व-लदान निरीक्षण के द्वारा निर्यात व्यापार को बढ़ावा देना। यह अधिनियम सरकार को अधिकार देता है कि वह उन वस्तुओं के संबंध में अधिसूचना जारी करे जिनके संबंध में अनिवार्य [illegible] और निरीक्षण की आवश्यकता है।

इस अधिनियम में विभिन्न वस्तुओं के लिए आवश्यक कोटि-नियंत्रण के प्रकार को भी निर्धारित किया गया है। आवश्यक मापदंड को पूरा न करने वाली वस्तुओं के निर्यात पर निषेध लगा दिया गया है। निर्यातित वस्तुओं की कोटि को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से सरकार ने निर्यात निरीक्षण परिषद् तथा निर्यात निरीक्षण एजेन्सियों की स्थापना की है।

सीमाशुल्क अधिनियम (Customs Act), 1962: सीमाशुल्क अधिकारियों की अनुमति के बिना वस्तुओं और सेवाओं को देश के बाहर नहीं भेजा जा सकता। वस्तुओं को एक देश से दूसरे देश में ले जाने के संबंध में अधिनियम के अंतर्गत कानूनी ढांचा, मार्गदर्शन, और प्रक्रियाओं की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम के मुख्य उद्देश्य हैं :

i) निर्यात और आयात संबंधी व्यापारिक लेनदेनों को विनियमित करना,

ii) तस्करी को रोकना,

iii) सीमाशुल्क लगाना,

iv) कर, शुल्क आदि को वसूल करन, तथा

v) व्यापारिक आंकड़े इकठ्ठे करना।

13.7 निर्यात संवर्धन के उपाय (Export Promotion Measures)

निर्यात संवर्धन आर्थिक संवृद्धि की प्रमुख विधि हो गया है। निर्यात व्यापार के बढ़ने से दुर्लभ विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है तथा विश्व बाजार में बेचने के लिए देश के अंदर के उद्योग अच्छी किस्म की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। इसके अतिरिक्त ऋण सेवा (debt servicing) का भार बढ़ने के साथ देश के लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा को प्राप्त करने का एकमात्र साधन निर्यात ही सिद्ध हो रहा है। निर्यात को बढ़ाने के लिए निर्यात-अनुकूल पर्यावरण बनाने के प्रयास नई नीति में किए गए हैं। सरकार निर्यात संवर्धन के लिए सभी प्रयास कर रही है। अब संक्षेप में उन प्रमुख निर्यात संवर्धन उपायों के संबंध में चर्चा की जाएगी जिनकी शुरूआत भारत सरकार ने की है।

13.7.1 उत्पादन आधार बनाने की सुविधाएं (Facilities for Creation of Production Base)

निर्यातों को बढ़ाने के लिए मजबूत उत्पादन आधार बनाने की आवश्यकता होती है। विनिर्माण को समुचित सुविधाएं होने से निर्यात के लिए पर्याप्त मात्रा में माल उपलब्ध हो जाता है। इसके लिए आवश्यक होता है कि काफी मात्रा में निवेश किया जाए तथा विनिर्माण इकाइयों को आसानी से आगतें उपलब्ध कराई जाएं। प्रमुख सुविधाओं के बारे में संक्षेप में नीचे चर्चा की जाएगी।

निर्यात संवर्धन पूंजीगत माल योजना (Export Promotion Capital Goods (EPCG) Scheme): पूंजीगत पदार्थों का उदारतापूर्वक आयात के लिए यह योजना लागू की गई है। इस योजना के अंतर्गत वस्तुओं का निर्माण करने के लिए तथा सेवाएं प्रदान करने के लिए आवश्यक पूंजीगत माल पदार्थों का आयात शून्य शुल्क पर किया जा सकता है या 5 वर्षों के अन्दर CIF मूल्य के चौगुना निर्यात करने या 8 वर्षों के अन्दर CIF मूल्य के छः गुना निर्यात करने के दायित्व के 10% शुल्क पर आयात किया जा सकता है। इस योजना के अंतर्गत कम्प्यूटर सिस्टम का भी आयात किया जा सकता है। फार्म क्षेत्रकों के लिए आवश्यक पूंजीगत पदार्थों के आयात की भी अनुमति दी जा सकती है।

निर्यात प्रक्रमण क्षेत्र (Export Processing Zones (EPZs): 100% निर्यात-उन्मुख इकाइयां। निर्यात प्रक्रमण क्षेत्रों की स्थापना निर्यात उत्पादन के लिए अतंर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धी शुल्क मुक्त पर्यावरण की व्यवस्था करने के लिए की गई है। इन क्षेत्रों में स्थापित इकाइयों को अनेक सुविधाएं दी गई हैं जिससे कि वे समुचित लागतों पर विश्व बाजार के लिए उच्च कोटि की वस्तुओं का उत्पादन कर सकें। देश में निम्नलिखित सात EPZ हैं: कांडला (गुजरात), सांताक्रुज (बम्बई), फाल्टा (पश्चिम बंगाल), ज्योडा

), कोचीन (केरल), चेन्नई (तमिलनाडु) और विशाखापट्टम (आंध्रप्रदेश)। सांताक्रुज इलेक्ट्रॉनिक्स एक्सपोर्ट प्रोसेसिंग जोन केवल इलेक्ट्रॉनिक्स वस्तुओं तथा जवाहरातों एवं आभूषणों के निर्यात के लिए है। अन्य क्षेत्रों में सभी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है। 100 EOU की योजना के अंतर्गत यदि विनिर्माण इकाई का एकमात्र उद्देश्य निर्यात करना है तो उसकी स्थापना देश के किसी भी भाग में की जा सकती है। हार्डवियर और सॉफ्टवेयर के निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए इलेक्ट्रॉनिक्स हार्डवियर टेकनालॉजी पार्को (EHTP) और सॉफ्टवेयर टेकनॉलॉजी पार्कों (STP) की भी स्थापना की गई है।

इन इकाइयों को मूल रूप में अपने उत्पादन के 25% को देशीय टैरिफ क्षेत्र (DTA) में बेचने की अनुमति प्राप्त है, बशर्ते कि ये लागू होने वाले शुल्कों का भुगतान कर दें। कुल उत्पादन मूल्य के 5% तक ऐसी वस्तुओं को भी देशीय बाजार में बेचा जा सकता है जिन्हें निर्यात योग्य नहीं माना गया है। DTA से उनकी इकाइयों की पूर्ति को डिम्ड निर्यात माना जाता है। इन इकाईयों में 100% तक विदेशी ईक्विटी की अनुमति दी जाती है। इन इकाइयों के प्रचालन के प्रथम आठ वर्षों में 5 वर्षों के एक ब्लाक के लिए इन्हें कंपनी आयकर के भुगतान के संबंध में छूट दी जाती है।

शुल्क मुक्त लाइसेंस (Duty Free Licenses): निर्यात क्षेत्रक को आयातित कच्चे माल की पूर्ति को सुविधाजनक बनाने के लिए शुल्क मुक्त लाइसेंस की व्यवस्था की गई है। शुल्क मुक्त लाइसेंस पर कच्चे माल, मध्यवर्ती पदार्थों; पुर्जों, पैकिंग सामग्री आदि का आयात करने की अनुमति दी जाती है। शुल्क मुक्त के अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं - अग्रिम लाइसेंस, अग्रिम मध्यवर्ती लाइसेंस तथा विशेष इम्प्रेस्ट लाइसेंस।

व्यापारी निर्यातक या विनिर्माता को मूल सीमाशुल्क का भुगतान किए बिना ही उन आगतों का आयात करने के लिए अग्रिम लाइसेंस दिया जाता है जो वस्तुओं के निर्माण में आवश्यक होते हैं। विनिर्माता निर्यातक को अग्रिम मध्यवर्ती लाइसेंस उन आगतों के आयात के लिए दिए जाते हैं जो अंतिम निर्यातक की पूर्ति किए जाने वाले माल को बनाने के लिए आवश्यक होते हैं। विनिर्माता निर्यातक को विशेष इम्प्रेस्ट लाइसेंस उन आगतों के आयात के लिए दिए जाते हैं जो नीति में निर्धारित वर्गों को पूर्ति किए जाने वाले माल बनाने के लिए आवश्यक होते हैं। निर्यातकों के लिए ड्यूटी एक्जेम्पशन पास बुक योजना की भी व्यवस्था की गई है। इसके संबंध में आप इकाई 14 में पढ़ेंगे।

13.7.2 विशेष प्रतिष्ठा के निर्माण द्वारा सुविधाएं (Facilities by Creating Special Status)

निर्यात प्रतिष्ठान, व्यापारिक प्रतिष्ठान, स्टार व्यापारिक प्रतिष्ठान तथा सुपर स्टार व्यापारिक प्रतिष्ठान: निर्यात के संबंध में अच्छा रिकार्ड रखने वाले पंजीकृत निर्यातकों को निर्यात प्रतिष्ठान/व्यापारिक प्रतिष्ठान/स्टार व्यापारिक प्रतिष्ठान/सुपर स्टार व्यापारिक प्रतिष्ठान के रूप में विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की जाती है। यह प्रतिष्ठा उन्हें इस शर्त पर प्रदान की जाती है कि वे न्यूनतम वार्षिक औसत निर्यात मात्रा की पूर्ति करें। निर्यात निष्पादन कसौटी का आधार निर्यात का FOB मूल्य हो सकता है या पिछले वर्षों में अर्जित निवल विदेशी मुद्रा (NFE) हो सकती है। इस योजना का उद्देश्य निर्यातकों की विशेष प्रतिष्ठा प्रदान करना तथा अर्थव्यवस्था के बाह्य क्षेत्रक में योगदान करने के लिए उन्हें प्रेरित करना। उन्हें विभिन्न प्रकार की सुविधाएं उन्हें इसलिए दी जाती है कि निर्यात को बढ़ाने के कार्य में भाग लेने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जा सके

13.7.3 राजकोषीय प्रोत्साहन (Fiscal Incentives)

निर्यातकों को राजकोषीय प्रोत्साहन देने का प्रावधान इसलिए किया गया है कि उन्हें देश का निर्यात बढ़ाने को प्रेरित किया जा सके। मुख्य राजकोषीय प्रोत्साहन ये हैं - शुल्क वापसी योजना, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क, छूट तथा निर्यात लाभों पर आयकर की छूट। इनके संबंध में नीचे संक्षेप में चर्चा की गई है:

i) **शुल्क वापसी (Duty Drawback):** इस योजना के अंतर्गत निर्यात उत्पादों के निर्माण में उपयोग किए गए कच्चे माल, घटकों और पैकिंग सामग्री पर दिए गए आयात शुल्क की वापसी

का प्रावधान है। इसके फलस्वरूप निर्यात उत्पादन में लगाये गये आगतों (inputs) की लागतों में बहुत कमी हो जाती है। इस योजना का प्रशासन शुल्क वापसी निदेशक, वित्त मंत्रालय द्वारा अधिसुचित नियमों के द्वारा होता है। शुल्क वापसी योजना दो प्रकार की होती है। (i) सभी मंत्रालय की दरें तथा (ii) निर्यात उत्पादों के व्यक्तिगत निर्माताओं के लिए निश्चित की गई ब्रैंड दरें। शुल्क वापसी योजना में बहुत कुछ सुधार किया गया है। भारत सरकार ने शुल्क वापसी ऋण योजना (duty drawback credit scheme) की भी व्यवस्था की है। इस योजना के अंतर्गत कुछ निश्चित वाणिज्य बैंक निर्यातकों की शुल्क वापसी पात्रता के आधार पर उन्हें ऋण दे सकते हैं। शुल्क वापसी योजना निर्यात उत्पादन में आवश्यक आगतों की लागतों को घटाने में निर्यातकों की सहायता करती है।

ii) **केन्द्रीय उत्पाद शुल्क छूट (Central excise rebate):** इस योजनाओं के अंतर्गत आगतों और अन्तिम उत्पादों पर लगाए गए केन्द्रीय उत्पाद शुल्क निर्यातकों को वापस कर दिए जाते हैं। इस योजना में बांड प्रणाली की भी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत कोई निर्यातक केन्द्रीय उत्पाद शुल्क से पूर्णत: मुक्ति का भी दावा कर सकता है। इससे निर्यातक की कुल उत्पादन-लागत को घटाने में सहायता मिलती है।

iii) **आयकर की छूट (Income Tax Exemption):** निर्यात पर लाभ पूर्णत: कर मुक्त होते हैं। यह लाभ अब निर्यात प्रतिष्ठानों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों तथा स्टार प्रतिष्ठानों द्वारा निर्यात करने वाले निर्यातकों को भी दिए जाने लगे हैं। EPZ/EOU में स्थित इकाइयों को 5 वर्षों का करावकाश (tax holiday) दिया जाता है। निर्यात बिक्री को बिक्री कर से भी मुक्त रखा गया है।

इन राजकोषीय प्रोत्साहनों के अलावा निर्यात क्षेत्रक के लिए अनेक वित्तीय प्रोत्साहनों की भी व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ निर्यातकों को रियायती दर पर कार्यशील पूंजी उपलब्ध कराई जाती है।

13.7.4 बाजार विकास सहायता (Market Development Assistance)

यह सहायता विदेशी बाजार के समस्त विकास के लिए दी जाती है। देश के अन्दर तथा देश के बाहर व्यापारिक प्रतिनिधि मंडलों को प्रायोजित एवं नियंत्रित करने, बाजार-अध्ययन, प्रचार, गोदामों/शोरूमों को स्थापित करने, अनुसंधान एवं विकास, कोटि नियंत्रण, आदि कार्यों के लिए यह सहायता दी जाती है। फेडरेशन ऑफ इंडियन एक्सपोर्ट आर्गेनाइजेशन, वाणिज्य मंत्रालय इस सहायता का वितरण करता है।

बोध प्रश्न ग

1) अग्रिम लाइसेंस (Advance Licence) क्या है?

.....

.....

.....

2) शुल्क वापसी (Duty drawback) से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

3) विशेष इम्प्रेस्ट लाइसेंस (Special Imprest Licence) क्या है?

.....

.....

.....

4) बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत हैं?

i) भारत का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार यू.एस.ए.है।

ii) आयातों को बढ़ा कर व्यापार घाटे को कम किया जा सकता है।

iii) वर्ष 1996-97 मे भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में सबसे प्रमुख स्थान कपड़ा और विनिर्मित वस्तुओं का रहा है।

iv) वर्ष 1996-97 में भारत के कुल आयात में पेट्रोलियम तैल, लुब्रिकैंट और पूंजीगत पदार्थों का आयात 47% था।

v) नई निर्यात-आयात नीति 1997-2002 में आयात पर और भी अधिक प्रतिबंध लगा दिया गया।

13.8 सारांश

विदेश व्यापार विश्व के संसाधनों का कुशलता पूर्वक उपयोग करने में सहायता करता है। इसे आर्थिक समृद्धि का इंजन माना जाता है। विदेश व्यापार का महत्व निम्नलिखित में होता है : वस्तुओं की अधिक उपलब्धता, देश के संसाधनों का अच्छी तरह से उपयोग, उत्पादन-लागत में कमी, कीमत-स्थिरता, रोजगार के अवसरों में वृद्धि आर्थिक विकास की उच्च दर, सरकार की आय में वृद्धि तथा विभिन्न देशों के बीच मधुर संबंध। भारत के व्यापार घाटे की मात्रा बहुत है, जिसे निर्यात को बढ़ाकर पूरा किया जा सकता है।

समय गुरजने के साथ-साथ भारत के विदेश व्यापार के स्वरूप में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। 1950 और 1960 के दशकों में भारत का निर्यात मुख्यत: कपास, जूट और चाय जैसे प्राथमिक पदार्थों का ही होता था। कुल निर्यात में इनका भाग 54% था। वर्ष 1996-97 में यहां से निर्यात की मुख्य वस्तुएं थीं कपड़ा और विनिर्मित पदार्थ, कृषि और सहबद्ध पदार्थ, जवाहरात और आभूषण, मशीनरी, परिवहन और धातु-निर्मित वस्तुएं, रासायनिक और सहबद्ध उत्पाद, चमड़ा और उससे बनी वस्तुएं, आदि। 1996-97 में जिन वस्तुओं का आयात हुआ वे थीं - पेट्रोलियम तैल और लुब्रिकैंट, पूंजीगत पदार्थ, मूंगा और जवाहरात, रासायनिक पदार्थ, लोहा और इस्पात, उर्वरक आदि। भारत के विदेश व्यापार के प्रमुख बाजारों में भी काफी परिवर्तन हुए हैं। 1996-97 में भारत के प्रमुख निर्यात साझेदार थे- यू. एस. ए., यू. के., जर्मनी, बेल्जियम, नीदरलैंड्स। 1996-97 में आयात साझेदार थे - यू. एस. ए., सऊदी अरब, जर्मनी, बेल्जियम, कुवैत और जापान।

भारत के विदेश व्यापार का मुख्य उद्देश्य है निर्यातों को बढ़ावा देना तथा देश में उपलब्ध विदेशी मुद्रा के स्तर के अनुसार आयात पर प्रतिबंध लगाना। देश के लिए कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण वस्तुओं के संबंध में भी प्रतिबंध लगाया जाता है। अत: विदेश व्यापार के कुशलतापूर्वक प्रचालन के लिए विदेश व्यापार का विनियमन आवश्यक हो जाता है। विदेश व्यापार का विनियमन निर्यात-आयात नीति 1997-2002 के प्रावधानों के द्वारा होता है। विदेश व्यापार का प्रशासन करने वाले प्रमुख अधिनियम हैं- विदेश व्यापार (विकास एवं विनियमन) अधिनियम, 1992, विदेशी पूंजी-प्रबंध अधिनियम, सीमाशुल्क अधिनियम, 1962 और कोटि नियंत्रण एवं निरीक्षण अधिनियम, 1963।

सरकार के लिए निर्यात को बढ़ावा देना अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य हो गया है। निर्यात संवर्धन के प्रमुख उपाय ये हैं - निर्यात संवर्धन पूंजीगत पदार्थ योजना, निर्यात प्रक्रमण क्षेत्र, 100 निर्यात उन्मुख यूनिटें, शुल्क मुक्त लाइसेंस, निर्यात प्रतिष्ठान/व्यापारिक प्रतिष्ठान/स्टार व्यापारिक प्रतिष्ठान और सुपर स्टार व्यापारिक प्रतिष्ठान, शुल्क वापसी योजना, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क छूट, आयकर छूट और बाजार विकास सहायता।

13.9 शब्दावली

पूंजीगत पदार्थ (Capital Goods) : उत्पादन प्रक्रिया के लिए आवश्यक प्लांट, मशीनरी, उपकरण, सहायक सामग्री आदि।

शुल्क वापसी (Duty Drawback) : निर्यात के लिए वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग किए गए कच्चे माल, घटकों और पैकिंग सामग्रियों पर दिए गए आयात शुल्क की वापसी की योजना।

विनिर्माता निर्यातक (Manufacturer Exporter) : वह व्यक्ति जो अपने द्वारा विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात करता है।

व्यापारी निर्यातक (Merchant Exporter) : वह व्यक्ति जो व्यापार और निर्यात का कार्य करता है।

व्यापार घाटा (Trade Deficit) : निर्यातों पर आयातों का आधिक्य।

13.10 बोध-प्रश्नों के उत्तर

ख) 3 i) 23.4% ii) 21.5% iii) यू.एस.ए. iv) यू.एस.ए. v) तीसरा

ग) 4 i) सही ii) गलत iii) सही iv) सही v) गलत

13.11 स्व-परख प्रश्न

1) भारत के विदेश व्यपार की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए। क्या आप समझते हैं कि भारत का व्यापार घाटा चिन्ताजनक है? व्यापार घाटा को कम करने वाले उपायों का सुझाव देते हुए विवेचन कीजिए।

2) भारत के निर्यात के संघटन में होने वाले परिवर्तनों के संबंध में विवेचना कीजिए। नई वस्तुओं के बढ़ते हुए निर्यात के अंश का विश्लेषण कीजिए।

3) भारत के विदेश व्यापार के दिशा-स्वरूप का वर्णन कीजिए।

4) भारत सरकार ह्रास हाल में घोषित निर्यात संवर्धन उपायों का वर्णन कीजिए।

5) निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   i) शुल्क वापसी योजना
   ii) शुल्क मुक्त लाइसेंस
   iii) आयातों की दिशा
   iv) विदेश व्यापार (विकास और विनियमन) अधिनियम

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए है।

इकाई 14 भुगतान-शेष एवं निर्यात आयात नीति (Balance of Payment and Exim Policy)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 भुगतान शेष की अवधारणा एवं इसकी उपयोगिता
  14.2.1 चालू-खाता एवं पूँजी-खाता
  14.2.2 भुगतान शेष
14.3 भारत के भुगतान-शेष की प्रवृत्तियाँ
14.4 भुगतान-शेष में घाटों के कारण
14.5 समस्या के समाधान के लिए उठाए गए कदम
14.6 विनिमय दर की अवधारणा
  14.6.1 विदेशी विनिमय दर
  14.6.2 चालू दर एवं समता दर
14.7 विनिमय दर निर्धारण की प्रणाली
  14.7.1 मांग एव आपूर्ति
  14.7.2 भारत में विदेशी विनिमय दर निर्धारण की प्रणाली
14.8 1997-2002 की निर्यात आयात नीति
14.9 एक्सिम बैंक की भूमिका
  14.9.1 एक्सिम बैंक का औचित्य
  14.9.2 एक्सिम बैंक के ऋण सम्बंधी कार्यक्रम
14.10 सारांश
14.11 शब्दावली
14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर
14.13 स्व-परख प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगें कि

- व्यापार शेष एवं भुगतान शेष में भेद कर सकें
- चालू खाते एवं पूँजी खाते में भेद कर सकें
- भुगतान शेष की अवधारणा और इसके महत्व की व्याख्या कर सकें
- विनिमय दर की अवधारणा की व्याख्या कर सकें
- विनिमय दर के निर्धारण के प्रणाली की चर्चा कर सकें
- सरकार की वर्तमान निर्यात-आयात नीति का मूल्यांकन कर सकें
- भारत के विदेशी व्यापार में Extm Bank की भूमिका की चर्चा कर सकें।

14.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने के स्वतंत्रता उपरांत भारत के विदेशी व्यापार के ढांचे में होने वाले परिवर्तनों का मूल्यांकन किया था। विदेशी व्यापार समग्र अन्तर्राष्ट्रीय संव्यवहारों का मात्र एक हिस्सा है। वस्तुओं की तरह ही श्रमिक, पूँजी और कच्चे माल का लेन-देन भी बराबर सभी देशों के बीच होता रहता है। इन सभी संव्यवहारों के बदले एक देश दूसरे देशों से विदेशी मुद्रा में आय प्राप्त करते हैं और साथ ही विदेशों से प्राप्त माल एवं सेवाओं की विदेशी मुद्रा में भुगतान करता है। इन संव्यवहारों का उचित

लेखा-जोखा रखे जाना अनिर्वार्य है। इसी तरह के लेखे की सहायता से ही किसी देश को इस बात की स्पष्ट जानकारी हो पाती है कि वह किस हद तक विदेशी स्रोतों पर निर्भर है और विदेशी साधन आंतरिक विकास में कितना योगदान दे पा रहे हैं। आर्थिक संव्यवहारों के इस लेखे को ही भुगतान शेष कहते हैं।

14.2 भुगतान शेष की अवधारणा एवं इसकी उपयोगिता (Concept of Balance of Payments and Its Usefulness)

भुगतान शेष का आशय उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संव्यवहारों के लेखे-जोखे से है जिसमें वित्तीय वर्ष में एक अर्थव्यवस्था की दृश्य एवं अदृश्य मदों के आयात-निर्यात का विवरण होता है।

14.2.1 चालू खाता एवं पूँजी खाता (Current Account and Capital Account)

सरल अध्ययन की दृष्टि से भुगतान शेष को दो भागों में बाँटा जा सकता है। ये भाग हैं:

1) चालू खाते पर भुगतान-शेष, और
2) पूँजी खाते पर भुगतान-शेष।

1) **चालू खाते पर भुगतान शेष** (Current Account on Balance of Payments) को पुन: दो उप-भागों में बांटा जा सकता है :
   क) व्यापार शेष, एवं
   ख) अदृश्य मदों अथवा सेवाओं व्यापार का शेष।

क) **व्यापार-शेष (Balance of Trade)** में एक देश द्वारा एक वर्ष के दौरान किए गए निर्यात एवं आयात का लेखा तैयार किया जाता है। उल्लेखनीय है कि इस लेख में केवल वस्तुओं अथवा दृश्य मदों (visible items) के निर्यात और आयात को ही जोड़ा जाता है। एक वर्ष के दौरान किए गए निर्यात के मूल्य (X) उसी अवधि में इस देश द्वारा प्राप्त आयात के मूल्य (M) से कम भी हो सकते हैं अथवा अधिक भी या दोनों ही बराबर भी हो सकते हैं। इस प्रकार, एक वर्ष के दौरान व्यापार-शेष (BOT) निम्न में से कोई एक रूप धारण कर सकता है:

   i) व्यापार-शेष के घाटे (Deficits in BOT) यदि X<M;
   ii) व्यापार-शेष में अतिरेक (Surplus in BOT) यदि X>M; और
   iii) व्यापार-शेष में संतुलन (Balance in BOT) यदि X = M।

ख) **सेवाओं में व्यापार का शेष (Balance of Trade in Services)** - इस लेखे में वस्तुओं के आयात-निर्यात छोड़कर एक देश द्वारा शेष विश्व के साथ बाकी जो सभी संव्यवहार किए जाते हैं उन सभी को शामिल करते हैं। इन विभिन्न संव्यवहारों को हम अदृश्य मदों में व्यापार की संज्ञा देते हैं। इन विभिन्न अदृश्य मदों को हम निम्न पांच वर्गों में बांट सकते हैं:

i) सेवाएँ, जैसे बैंकों की सेवाएँ, बीमा, जहाजरानी, हवाई सेवाएँ, डाक की सेवाएँ आदि। i) विनियोग से आय, जैसे विदेशियों द्वारा किए गए प्रत्यक्ष निवेश या पोर्टफोलियो निवेश या किसी अन्य रूप के निवेश पर प्राप्त लाभांश या ब्याज की राशि, द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय ऋणों से अर्जित ब्याज की राशि, आदि; iii) पर्यटकों का एक देश से दूसरे देशों को आना-जाना, iv) सरकारी हस्तांतरण, एवं v) निजी हस्तांतरण। ये सभी संव्यवहार दो-तरफा होते हैं। उदाहरण के लिए भारत शेष-विश्व से ये सभी सेवाएँ प्राप्त भी करता है और शेष-विश्व को सभी सेवाएँ प्रदान भी करता है। भारत द्वारा जब ये सेवाएँ प्रदान की जाती हैं तो भारत को शेष-विश्व से विदेशी-मुद्रा में आय प्राप्त होती है जिसे चालू आगम (Current Receipts या R) का नाम दिया जाता है। इसी तरह विदेशों द्वारा भारत को प्रदान की गई सेवाओं के बदले में भारत द्वारा कीमत चुकाई जाती है जिसे चालू भुगतान (Current Payments या P) का नाम दिया जाता है। एक वर्ष के दौरान R के मूल्य P के बराबर, P से अधिक अथवा P से कम हो सकते हैं। अर्थात् व्यापार-शेष की तरह सेवाओं में

i) BOI में घाटे यदि R<P,

ii) BOI में अतिरेक यदि R>P, और

iii) BOI में संतुलन यदि R=P।

BOT एवं BOI के योग को चालु खाते पर भुगतान-शेष (BOP on Current Accounts) का नाम दिया जाता है।

BOP on Current Account में एक तरफ एक देश द्वारा शेष-विश्व से प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा तथा दूसरी तरफ शेष-विश्व को किए जाने वाले भुगतानों का लेखा-जोखा रखा जाता है। स्पष्टत: पुन: निम्न तीनों में से कोई भी स्थिति सम्भव हो सकती है: 1) चालू खाते में अतिरेक यदि प्राप्तियां भुगतानों से अधिक है, 2) चालू खाते में घाटे यदि प्राप्तियां भुगतानों से कम हैं, एवं 3) चालू खाते में संतुलन यदि प्राप्तियां भुगतानों के बराबर हैं।

1) **चालू खाते में अतिरेक** से यह अभिप्राय है कि इस देश द्वारा इस वर्ष कमाई गई विदेशी मुद्रा की राशि इसके द्वारा खर्च की गई विदेशी मुद्रा की राशि से अधिक है। ऐसी परिस्थिति में यह देश चाहे तो अन्य देशों को बची हुई विदेशी मुद्रा ऋण के रूप में दे सकता है। अन्यथा अपने ऋणों के भार को कम करने के लिए अपने ऋणदाताओं को लौटा सकता है।

2) इसके विपरीत, यदि इसके समक्ष भुगतान शेष के घाटे की स्थिति बन आई है तो इसे निम्न दो विकल्पों में से चुनना होगा। पहला, घाटे के भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा भंडार में से पर्याप्त रकम ली जा सकती है जिससे इस देश के पास उपलब्ध विदेशी मुद्रा के भंडार कम हो जाएंगे। दूसरा, घाटे के भुगतान के लिए विदेशों से ऋण लिए जा सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में इस देश के भावी दायित्वों की राशि बढ़ जाएगी।

3) यदि भुगतान शेष संतुलन में पाए जाते हैं तो इसके बारे में इस देश को किसी भी तरह के विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होगी।

2) **पूंजी-खाते पर भुगतान-शेष (Balance of Payments on Capital Account)** - पूंजी खाते में चालू खाते के संव्यवहारों के कारण देश की विदेशी निधियों एवं दायित्वों में हुए परिवर्तनों तथा पूंजी के अन्तरण का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है।

जैसा कि हम चालू खाते का वर्णन करते हुए उल्लेख कर आए हैं कि यदि देश के चालू खाते में अतिरेक पाए जाते हैं तो यह देश अन्य देशों को ऋण दे सकता है। इसी तरह यदि चालू खाते में घाटे पाएं जाएं तो इन घाटों की पूर्ति विदेशों से ऋण लेकर की जा सकती है। इन सभी संव्यवहारों को पूंजी खाते में जोड़ा जाता है। विदेशों से प्राप्त पूंजी को पूंजी खाते में प्राप्तियों (credits) के रूप में जोड़ा जाता है जबकि विदेशों को दी जाने वाली पूंजी को दायित्वों (debits) के रूप में।

पूंजी खाते की सहायता से चालू खाते के घाटों अथवा अतिरेकों का निपटारा किया जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि किसी देश के चालू खाते में अतिरेक हैं तो पूंजी खाते में इसके दायित्व इसकी प्राप्तियों से अधिक होंगे अर्थात् चालू खाते में घाटा बनाना होगा। अतिरेक और घाटा मिलकर भुगतान-शेष में संतुलन स्थापित कर देंगे।

इसी तरह, यदि चालू खाते में घाटे पाए जाते हैं तो यह आवश्यक है कि यह देश विदेशों से अतिरिक्त पूंजी जुटाए जिससे कि पूंजी खाते में अतिरेक बन पाएं। इन अतिरेकों से चालू घाटों का भुगतान किया जा सकता है।

संक्षेप में,

शेष-विश्व से निवल पूंजी का प्रवाह = चालू खाते में घाटा + पुराने ऋणों की निवल अदायगी

14.2.2 भुगतान-शेष (Balance of Payments)

'भुगतान शेष' चालू खाते पर भुगतान-शेष और पूंजी खाते पर भुगतान-शेष के जोड़ को प्रस्तुत करते हैं। चूँकि चालू खाते और पूंजी खाते के शेष विपरीत दिशा में इस प्रकार परिवर्तित होंगे कि चालू खाते के घाटे पूंजी खाते के अतिरेकों के बराबर होंगें। भुगतान-शेष सदैव अनिवार्यत: ही संतुलन में होंगे। अन्य शब्दों में, एक देश का समग्र भुगतान-शेष अनिवार्यत: सन्तुलन में ही होगा।

बोध प्रश्न क

1) भुगतान-शेष से क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

2) व्यापार की दृश्य मदों एवं अदृश्य मदों में भेद कीजिए। प्रत्येक के तीन उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

3) व्यापार-शेष एवं भुगतान-शेष में भेद कीजिए।

.....

.....

.....

4) किन परिस्थितियों में पूंजी खाते में अतिरेकों की आवश्यकता होती है?

.....

.....

.....

14.3 भारत के भुगतान-शेष की प्रवृत्तियाँ (Trends in India's Balance of Payments)

समय-समय पर भारत भुगतान-शेष के दबाव को घरेलू कठिनाईयों या विदेशी कारकों के कारण महसूस करता रहा है। योजनाकाल की समस्त अवधि को भुगतान-शेष के विश्लेषण हेतु तीन आधारों पर विभाजित किया जा सकता है: i) भुगतान-शेष की समस्या की प्रकृति का आधार ii) समस्त समष्टिगत वातावरण का आधार, तथा iii) बाह्य सहायता की स्थिति का आधार। इन तीनों आधारों पर समस्त समयावधि को चार उप-अवधियों में वर्गीकृत किया जा सकता है: 1) वर्ष 1975-76 (प्रथम समयावधि); 2) वर्ष 1976-77 से 1979-80 तक (दूसरी समयावधि); 3) 1980-81 से 1989-90 तक (तीसरी समस्यावधि); एवं 4) 1991-97 के पश्चात् (चौथी समयाविधि)।

प्रथम समयावधि (वर्ष 1975-76 तक) (First sub-period) – यह सम्पूर्ण अवधि के भुगतान-शेष के लिए बहुत कठिन रही, आंशिक रूप से इसलिए कि आयात की आवश्यकताओं की तुलना में निर्यात धीमी गति से बढ़ रहे थे, तथा विदेशी कारकों की प्रतिकूलता के कारण, कठोर आयात नियंत्रणों (परिमाणात्मक नियंत्रणों के माध्यम से) तथा विदेशी विनिमय नियमनों के बावजूद चालू खाते का घाटा सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का 1.8 प्रतिशत था। विदेशी विनिमय निधियां (foreign exchainge reserves) बहुत नीचे स्तर तक बनी

रहीं जो कि तीन माह के आयात को पूरा करने के लिए भी अपर्याप्त थी। चालू खाते के घाटे का लगभग 90 प्रतिशत रियायती दरों पर विदेशी सहायता का अन्तर्वाह करके पूरा किया गया।

दूसरी समयावधि (1977-76 से 1979-80 तक) (Second sub-period)– इसको भुगतान-शेष की स्वर्णिम अवधि कहा जाता है। भारत के चालू खाते में GDP के 0.6 प्रतिशत के बराबर अधिशेष उत्पन्न हुआ तथा लगभग 7 माहों के आयातों के लिए विदेशी विनिमय निधियाँ उपलब्ध थीं। यद्यपि निर्यातों में वृद्धि हुई किन्तु BOP में नाटकीय वृद्धि का प्रमुख कारण शुद्ध अदृश्य मदों में वृद्धि थी। वर्ष 1974-7 5 में निवल अदृश्य मदों का मूल्य 193 करोड़ रुपये था जो कि वर्ष 1979-80 में बढ़कर 2.486 करोड़ रुपये हो गया।

तीसरी समयावधि (1980 से 1989-90 तक) (Third sub-period)– यह अवधि छठी और सातवीं योजना की अवधि थी। छठी योजना को उस समय लागू किया गया जबकि देश के समक्ष गम्भीर BOP संकट था। विस्तारक कोष सुविधा (Extended Fund Facility) के अन्तर्गत भारत ने वर्ष 1981 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से 5 बिलियन SDR के ऋण का समझौता किया। सातवीं योजना के आरम्भ से ही व्यापार-शेष और भुगतान-शेष के घाटे में वृद्धि होने लगी और योजना के अंतिम दो वर्षों में स्थिति बहुत गम्भीर हो गई।

चौथी समयावधि (1990-91 के पश्चात्) (Fourt period)– वर्ष 1990-91 में BOP संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जबकि चालू खाते का घाटा GDP का 3.26 प्रतिशत हो गया। जैसा कि तालिका 14.1 से स्पष्ट होगा।

तालिका 14.1: भारत के भुगतान-शेष के प्रमुख संकेतक

(GDP के प्रतिशत के रूप में)

वर्ष a	निर्यात b	आयात c	व्यापार-शेष d(b-c)	निवल अदृश्य e	चालू खाता (d+c)
(औसत) 1985-90	5.1	8.3	–3.2	0.9	–2.3
1990-91	6.25	9.43	–3.18	-0.08	–3.26
1991-92	7.30	8.15	–0.85	0.01	–0.84
1992-93	7.60	9.00	–1.40	0.10	–1.50
1993-94	8.90	9.30	–0.40	0.30	–0.10
1994-95	8.90	10.40	–1.50	0.70	–0.80
1995-96	9.90	12.60	2.70	1.10	–1.70
1996-97*	9.70	12.50	–2.80	1.40	–1.40

*(संभावित)

भारत के समक्ष BOP घाटे का गम्भीर संकट बन आया था। इससे निपटने के लिए समुचित नीति अपनाई गई। वर्ष 1992-93 तक स्थिति पर काबू पर लिया गया था। हालाँकि घाटों का दबाव बना रहा। उसके बाद से BOP में बराबर सुधार जारी हैं हालांकि हम संकट से पूरा तरह से बाहर नहीं आ पाए हैं।

14.4 भुगतान-शेष में घाटों के कारण (Causes of BOP Deficit)

विकास-प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण से भारत को भुगतान-शेष में घाटों का सामना करना पड़ा है। यहाँ हम समस्त स्थिति पर एक-साथ विचार करेंगे और उन प्रमुख कारकों पर प्रकाश डालेंगे जोकि इन घाटों के लिए जिम्मेदार रहे हैं। हम हाल के घटनाचक्र पर विषेष रूचि रखेंगे।

1) **व्यापार-शेष के घाटे (Balance of Trade Deficit)**– जैसा कि अपेक्षित ही था विकास-क्रम में अर्थव्यवस्था की आयात-वस्तुओं की मांग निरन्तर बढ़ती रही है जबकि निर्यातों में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हो पाई। परिणामत: व्यापार-शेष के घाटे निरन्तर बढ़ते गए।

इधर कुछ वर्षों से जब निर्यात-वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया निर्यातों की वृद्धि दर उत्साहजनक रही है। किन्तु, निर्यातों के साथ ही आयात भी तेज गति से ही बढ़ते रहे हैं। बल्कि जैसे-जैसे अन्तर्राष्ट्रीय, प्रतिस्पर्धा कड़ी होती जा रही है भारतीय उद्योगों की आयात-गहनता भी बढ़ती जा रही है। परिणामस्वरूप व्यापार-शेष के घाटे अब भी उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे हैं।

2) **अदृश्य मदों के अतिरेक में गिरावट (Declining Surpluses on account of individuals)** – अतीत में भारत अदृश्य मदों के व्यापार में अतिरेक कमाता रहा है। ये अतिरेक प्रमुख रूप से दो कारणों से उत्पन्न होते रहे हैं: पहला, विदेशों में काम करने वाले भारतीयों द्वारा अपनी आय का भारत को प्रेषण तथा दूसरा विदेशी पर्यटनों से प्राप्त शुद्ध आय। किन्तु, इधर पिछले चंद वर्षों से इस संदर्भ में स्थिति उतनी मजबूत नहीं रही है। विदेशों से प्रेषित की जाने वाली आय अथवा पर्यटकों से प्राप्त आय में एक ओर कोई विशेष सुधार नहीं दिखलाई दे रहे हैं और दूसरी ओर विदेशियों, द्वारा भारत में किए गए निवेश पर लाभांश, कमीशन आदि के रूप में प्राप्त आय में वृद्धि होती जा रही है। भारत में विदेशी निवेश की राशि जैसे-जैसे बढ़ेगी अदृश्य मदों के अतिरेक में उत्तरोत्तर गिरावट अपेक्षित है।

3) **विदेशी ऋण-सेवाओं का बढ़ता बोझ (Mounting burden of external debt servicing)**– विदेशी ऋण-सेवाओं का बढ़ता बोझ भुगतान-शेष में घाटों का अन्य महत्वपूर्ण कारक है। ऋण-सेवा की राशि जो वर्ष 1989-90 में $7.6 बिलियन थी। 1995-96 में बढ़कर $12.4 बिलियन हो गई। ऋण-सेवाओं की राशि में भारी वृद्धि दो कारकों का परिणाम है: एक. विदेशी ऋण का बोझ निरन्तर बढ़ता जा रहा है, और दूसरा कुल विदेशी ऋण में उस ऋण का अनुपात कम होता जा रहा है जोकि हमें रियायती दरों पर प्राप्त हो रहा था। नये ऋण के लिए हमें खुले बाज़ार की दरें स्वीकार करनी पड़ रही हैं जोकि स्वभावत: ऊँची हैं। निकट भविष्य में भी ऊँचे ब्याज की दर पर ऋण स्वीकार करने की बात से इंकार नहीं किया जा सकता।

4) **रियायती सहायता मिलने की धूमिल सम्भावनाएँ (Dim Prospects of Getting Consessional Aid)**– आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरण में भुगतान-शेष के घाटों के भुगतान के लिए आसान शर्तों पर विदेशी सहायता उपलब्ध हो रही थी। परिणामत: भुगतान-शेष के घाटे चिन्तन का विषय नहीं थी। इधर पिछले कुछ वर्षों से आसान शर्तों पर विदेशी सहायता अतीत की बात बनकर रह गई है। इसके लिए निम्न चार कारक जिम्मेदार हैं: (i) विकसित देश अपेक्षाकृत कम राशि में विदेशी सहायता उपलब्ध करवा रहे हैं। (ii) ऋणदाताओं में यह धारणा बन गई है कि विकास की वर्तमान अवस्था में भारत को रियायती सहायता की आवश्यकता नहीं है बल्कि भारत व्यावसायिक बाजारों में अपनी आवश्यकता अनुरूप पर्याप्त राशि जुटा सकता है। (iii) चीन एवं पूर्वी यूरोप के देश विकसित देशों से रियायती सहायता की अपेक्षा करने लगे हैं। (iv) अनेक नए स्वतंत्र राष्ट्रों की ओर विकसित देश अधिक सहानुभूति प्रदर्शित कर रहे हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं इस्टोनिया, लिथूआनिया, लाटविया, यूक्रेन आदि। परिणामत: भुगतान-शेष के घाटों की पूर्ति के लिए भारत को व्यावसायिक ऋणों का सहारा लेना पड़ रहा है। जिसका अभिप्राय यह है घाटों की पूर्ति के वास्ते अब अपेक्षाकृत ऊँची कीमत चुकानी पड़ रही है और यही है भुगतान-शेष के विषय में चिंता की बात।

1) भारत के भुगतान-शेष के संदर्भ में कौन-सी अवधि सबसे कठिन रही है?

.....

.....

.....

2) भारत में भुगतान-शेष की कठिनाइओं के चार प्रमुख कारण बताएं।

.....

.....

.....

.....

14.5 समस्या के समाधान के लिए अपनाए गए उपाय (Measures Adopted to Solve the Problem)

भुगतान-शेष के घाटों से निपटने के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए कदमों की दृष्टि से समस्त अवधि को दो भागों में बांटा जा सकता है: 1) 1951-91, तथा (2) 1991 के पश्चात्।

1) **1991 तक की अवधि** – इस अवधि में भुगतान-घाटों से निपटने के लिए जो प्रमुख कदम उठाए गए उनमें से कुछ यह हैं: i) आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों को बढ़ावा देना, ii) आयातों पर भौतिक प्रतिबन्ध लगाना, iii) निर्यात सम्वर्धन के लिए विशेष प्रोत्साहन देना, तथा iv) अदृश्य मदों से प्राप्त विदेशी मुद्रा को बढ़ावा देने के लिए विशेष प्रोत्साहन प्रदान करना। इन सभी नीतिगत उपायों को सीमित सफलता ही प्राप्त हो पाई थी जैसा कि इस बात से स्पष्ट होता है कि वर्ष 1990 के लगभग भारत को कठिन भुगतान-शेष की समस्या का सामना करना पड़ा था।

2) **1991के पश्चात्** – इस अवधि में भुगतान-शेष की समस्या से निपटने के लिए एक व्यापक नीति का निर्माण कर उसे क्रियांवित-किया गया। भुगतान-शेष की राणनीति के प्रमुख तत्वों को संक्षिप्त रूप में नीचे प्रस्तुत किया गया है।

i) **वित्तीय एवं मौद्रिक अनुशासन (Fiscal and Monetary Discipline)** – सामूहिक मांग को नियंत्रित करने के लिए कठोर वित्तीय एवं मौद्रिक अनुशासन को लागू करने के प्रयास किए गए हैं। केन्द्र सरकार के बजट में वित्तीय घाटा जोकि 1990-91 तके GDP के 8.4 प्रतिशत के बराबर था क्रमशः कम किया गया है। वर्ष 1997-98 के बजट में इसके GDP के 4.5 प्रतिशत तक रह जाने के प्रावधान किए गए हैं।

इसी तरह मौद्रिक नीति के समक्ष प्रमुख उद्देश्य मुद्रा की आपूर्ति दर को नियंत्रित करना है। मुद्रा की आपूर्ति दर जोकि वर्ष 1991-92 में 18.5 प्रतिशत थी वर्ष 1995-96 में कम होकर 13.2 प्रतिशत तथा वर्ष 1996-97 में 15.7 प्रतिशत रह गई।

ii) **विनिमय दर नीति एवं विदेशी व्यापार नीति में सुधार (Exchange Rate Policy and Foreign Trade Policy Reforms)** – वर्ष 1993 तक भारतीय मुद्रा की विदेशी विनिमय दर भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित की जाती थी। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जुलाई 1991 में रुपए का लगभग 20 प्रतिशत की दर से अवमूल्यन किया गया। रुपए के अवमूल्यन का प्रमुख उद्देश्य भारत के निर्यातों को प्रोत्साहन प्रदान करना था। 1 मार्च 1993 से विनिमय दर प्रणाली को ही बदल दिया गया। अब भारतीय मुद्रा की विनिमय दर बाजार में मांग और आपूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। इसी तरह वर्ष 1994-95 के संघीय बजट में चालू खाते पर रुपये की पूर्ण परिवर्तनीयता की घोषणा की गई। जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संव्यवहारों पर लगे अनेक तरह के बन्धनों को हटा लिया गया है।

आर्थिक संव्यवहारों को ढील देने के क्रम में विदेशी व्यापार नीति में भी आवश्यक सुधार किए गए हैं। व्यापार-शेष के घाटे को दूर करने के लिए पूंजीगत वस्तुओं, कच्चे माल और संघटकों पर आयात नियंत्रण को प्राय: समाप्त कर दिया गया है। शीर्ष तटकरों(tariffs), विशेष कर पूंजीगत तटकरों में बहुत कटौती की गई है। आयात ऋण पर नकद अपेक्षाओं व ब्याज अधिकार को समाप्त कर दिया गया है।

iii) **संरचनात्मक सुधार (Structural Reforms)** – इनमें प्रमुखत: निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं:

i) उद्योग व व्यापार पर नियंत्रणों में बहुत ढील दी गई है।

ii) कई उद्योगों को विलाइसेंसीकृत कर दिया गया है।

ii) कई क्षेत्र जो पहले केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित थे अब प्रतिस्पर्धा बढ़ाने की दृष्टि से निजी व विदेशी निवेश के लिए मुक्त कर दिए गए हैं।

iv) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एवं पत्राधान निवेश (portfolio investment) को आकर्षित करने के लिए नीतिगत उपाय अपनाए गए हैं।

v) वित्तीय क्षेत्र में तथा कर प्रणाली में अनेक सुधारों को लागू किया गया है।

iv) **अपवादिक वित्तीयन का संघटन (Mobilisation of Exceptional Financing)** - बहुपक्षीय एजेंसियों तथा द्विपक्षीय दानकर्ताओं से अपवादिक वित्तीयन का संघटन किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहारे के विन्यास (stand-by arrangements) किए गए। विश्व बैंक से संरचनात्मक समन्वयकारी और सामाजिक सुरक्षा जाल ऋण प्राप्त किए गए। एशियाई विकास बैंक से भी संरचानात्मक क्षेत्र ऋणों के समझौते किए गए।

परिणाम (Results) – भुगतान-शेष की समस्या से निपटने के लिए वर्तमान में अपनाई गई राजनीति पूर्ण रूप से समस्या का हल ढूँढ निकालने में सक्षम है। परिणाम भी शीघ्र ही सामने आते दिखलाई दिए हैं। भुगतान-शेष के घाटों के दबाव क्रमश: शिथिल पड़ते जा रहे हैं। यह इस बात से पता चलता है कि देश के विदेशी मुद्रा भंडारों में निरन्तर वृद्धि जारी है। भारत के विदेशी मुद्रा भंडार जोकि वर्ष 1991 में केवल $2,236 मिलियन थे वर्तमान में बढ़कर $21,000 मिलियन से अधिक हो चुके हैं जैसा कि तालिका 14.2 से स्पष्ट है।

तालिका-142: भारत के विदेशी मुद्रा भंडार

मार्च के अन्त पर	राशि $ मिलियन	आयात-अवधि के लिए पर्याप्त (मास)	चालू भुगतानों के लिए पर्याप्त (मास)
1951	1914	16.8	14.6
1961	390	2.0	1.7
1971	584	2.9	2.2
1981	5850	4.5	4.0
1991	2236	1.0	0.8
1992	5631	3.3	2.3
1993	6434	3.4	2.5
1994	15068	7.6	2.3
1995	20809	8.2	5.9
1996	17000	5.44	3.8
1997	21500	7.0	4.5

तालिका 14.2 से स्पष्ट है कि जहाँ वर्ष 1991 में उपलब्ध विदेशी मुद्रा के भंडार मात्र एक माह के आयात अथवा 0.8 माह के चालू भुगतानों के लिए भी पर्याप्त नहीं थे ये अब बढ़कर 7.0 माह की आयात आवश्यकताओं अथवा 4 मास के चालू भुगतानों के लिए भी पर्याप्त हो रहे हैं। विदेशी मुद्रा भंडारों के सहारे ही विदेशी व्यापार नीति में उदारता बरतना और लचीलापन लाना सम्भव हो रहा है।

अन्त में, निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत ने भुगतान-शेष के घाटों से निपटने के लिए एक समुचित नीति का गठन किया है तथा इसके परिणाम भी सुखद रहे हैं। किन्तु, उल्लेखनीय है कि समस्या पर पूरी तरह से काबू पा लेना सम्भव नहीं हो पाया है। चालू खाते पर घाटों की स्थिति पूर्ववत् बनी हुई है और इन घाटों का आकार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। विकास क्रम में आयातों की आवश्यकताएँ बढ़ती ही रहेंगी। परिणामस्वरूप यह आवश्यक है कि हम निर्यातों के बढ़ाने में विशेष रूचि रखे और इस वास्ते सुडौल नीति का गठन करें। अन्यथा चालू खाते के बढ़ते घाटे हमारे विकास क्रम में गम्भीर बाधा बन कर सामने आ सकते हैं।

14.6 विनिमय-दर की अवधारणा (Concept of the Rate of Exchange)

विनिमय-दर से अभिप्राय घरेलू मुद्रा की उन इकाइयों से है जोकि किसी विदेशी मुद्रा की एक इकाई पाने के बदले में दी जाती हैं। वे बैंक जो विदेशी मुद्रा का लेन-देन करते हैं एवं एक मुद्रा के बदले में दूसरी मुद्रा की व्यवस्था करते हैं। विदेशी विनिमय के प्राधिकृत व्यापारी कहलाते हैं।

14.6.1 विदेशी विनिमय-दर (Foreign Exchange Rate)

विदेशी विनिमय बाजार में सभी लेन-देन निर्धारित दरों पर ही होते हैं। जब कोई विदेशी मुद्रा का व्यापारी किसी मुद्रा की खरीद अथवा बिक्री करता है तो वह इस तरह के सौदे के लिए विदेशी मुद्रा की कीमत लगाता है। इस कीमत के अनुसार ही घरेलू मुद्रा की उन इकाइयों का निर्धारण होता है जोकि सौदे के रूप में देय होती है।

उदाहरण स्वरूप मान लीजिए कोई एक आयात भारत में किसी एक बैंक से $1,000 का एक ड्राफ्ट खरीदता है जोकि इंग्लैंड भेजा जाना है और बैंक 100 रुपए के बदले $1.8375 देने को तैयार है तो इस व्यापारी द्वारा बैंक को 54421.76 रुपए देय होंगे। इस तरह एक मुद्रा की एक इकाई के बदले देय किसी अन्य मुद्रा की इकाइयां दो मुद्राओं की विनिमय दर व्यक्त करती है।

14.6.2 चालू दर एवं समता दर (Current Rate and Par of Exchange)

बाजार में किसी वस्तु की कीमत में निरंतर उतार-चढ़ाव आते रहते है। ये उतार-चढ़ाव मांग एवं पूर्ति की अल्पकालिक शक्तियों के कारण उत्पन्न होते हैं। किन्तु ये उतार-चढ़ाव न ही अचानक हो जाते हैं और न ही इन्हें पहले से नहीं देखा जा सकता ऐसा कुछ नहीं होता। बल्कि ये उतार-चढ़ाव किन्हीं पूर्व-परिचित कारणों का परिणाम होते हैं तथा इनके सामान्य परिस्थिति में लौटने की प्रवृत्ति होती है।

इसी तरह विदेशी मुद्रा की कीमत में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। मुद्रा की मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा एवं पूर्ति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा की दरें निरन्तर घटती बढ़ती रहती हैं। किन्तु ये उतार-चढाव किसी एक सामान्य दर के इर्द-गिर्द ही होते हैं। इसी सामान्य दर को दो मुद्राओं की समता दर का नाम भी दिया जा सकता है।

दो मुद्राओं की समता दर चालू दर से भिन्न कारकों द्वारा प्रभावित होती है। समता दर के निर्धारण में सबसे अहम भूमिका दोनों देशों में प्रचलित मौद्रिक व्यवस्था की होती है। इसी प्रकार, समता दर विनिमय नियंत्रण द्वारा भी प्रभावित होती है। यदि किसी देश में विनिमय नियंत्रण की विधि अपनाई जा रही है तो इन परिस्थितियों में विदेशी विनिमय दर मौद्रिक प्राधिकरण द्वारा निर्धारित की जाती है। यह दर प्राय: स्थिर रहती है और इसमें किन्हीं निर्धारित सीमाओं में ही बंधे परिवर्तन किए जा सकते हैं।

14.7 विनिमय दर निर्धारण की प्रणाली (Mechanism of Exchange Rate Determination)

विदेशी विनिमय बाज़ारों में विनिमय दर दो रूपों में प्रकट की जाती है। पहला तो यह कि घरेलू मुद्रा की एक इकाई या कुछ इकाइयों के बदले में किसी विदेशी मुद्रा की कितनी इकाई प्राप्त हो सकती है। और दूसरा यह कि विदेशी मुद्रा की एक इकाई या कुछ निश्चित इकाई लेने के लिए घरेलू मुद्रा की कितनी इकाई देनी होंगी। मुक्त विदेशी विनिमय बाज़ारों में विनिमय दर मांग एवं पूर्ति की स्वतंत्र शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है।

14.7.1 मांग एवं आपूर्ति (Demand and Supply)

किसी वस्तु की बाज़ार कीमत उसकी मांग एवं आपूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। उदाहरणत: यदि किसी दिन किसी कारणवश दूध की कुल मांग बढ़ जाती है। दूध-विक्रेता इस परिस्थिति का लाभ उठाना चाहते हैं। चूंकि उनके पास दूध के असीमित स्टॉक उपलब्ध नहीं होते वे दूध की कीमत बढ़ा देते हैं। इसके विपरीत यदि उनके पास स्टॉक उपलब्ध हो और उतनी मांग में उपभोक्ता दूध की मांग न करें तो वे दूध की कीमत कम कर देंगे।

इसी तरह विदेशी विनिमय बाज़ारों में विनिमय दर का निर्धारण भी विदेशी मुद्रा की मांग एवं आपूर्ति के आधार पर होता है। यदि किन्हीं परिस्थितियों में विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है तो स्वभावत: विदेशी मुद्रा की कीमत बढ़ जाएगी अर्थात् घरेलू मुद्रा के विदेशी मूल्य का ह्रास हो जाएगा। इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा की आपूर्ति इनकी मांग से अधिक हो जाती है तो घरेलू मुद्रा की विदेशी विनिमय दर बढ़ जाएगी अर्थात् विदेशी मुद्रा के मूल्य में कमी आ जाएगी।

विदेशी मुद्रा बाज़ारों में घरेलू मुद्रा की मांग अर्थात् विदेशी मुद्रा की आपूर्ति निम्नलिखित कारणों से की जाती है।

i) घरेलू उप्पादकों द्वारा अपने उत्पादों का निर्यात किया जाना जिसके बदले में वे विदेशियों से भुगतान प्राप्त करेंगे।
ii) एक देश द्वारा विदेशों को जहाजरानी, बैंकों, बीमा कम्पनियों आदि की सेवाएँ प्रदान करना जिसकी कीमत उन्हें प्राप्त होगी।
iii) उपक्रमियों द्वारा विदेशों में उपक्रमों की स्थापना करना तथा तकनीकी सहयोग उपलब्ध करवाना जिसके बदले में उन्हें लाभ एवं अन्य मुआवज़ा प्राप्त होगा।
iv) विदेशी पर्यटकों एवं विद्यार्थियों का इस देश में आना। वे अपने निर्वाह के लिए इस देश की मुद्रा की मांग करेंगे।
v) इसी तरह से अन्य विदेशियों के आगमन के परिणामस्वरूप भी घरेलू मुद्रा की मांग की जाती है।

इसी प्रकार घरेलू मुद्रा की विदेशी मुद्रा बाज़ारों में आपूर्ति (या विदेशी मुद्रा की मांग) निम्नलिखित कारणों से की जाती है:

i) अन्य देशों से आयात
ii) अन्य देशों की जहाजरानी, बैंक, बीमा कम्पनियों आदि की सेवाओं का प्रयोग।
iii) विदेशी नागरिकों को लाभ, वेतन आदि के रूप में किए जाने वाले भुगतान,
iv) देश से विदेशों को जाने वाले पर्यटक एवं विद्यार्थियों द्वारा विदेशों में किए जाने वाले खर्चे।

14.7.2 भारत में विदेशी विनिमय दर निर्धारण की प्रणाली (Exchange Rate Determination in India)

1 मार्च, 1993 से भारत में विदेशी विनिमय दर का निर्धारण मांग एवं आपूर्ति की बाज़ार शक्तियों द्वारा ही होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सरकार बाज़ार क्रियाओं में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगी।

वरन् सरकार को यह अधिकार प्राप्त है और सरकार ने यह अधिकार भारतीय रिज़र्व बैंक को सौंप दिया है कि वह जब भी चाहे विदेशी विनिमय बाज़ारों में हस्तक्षेप कर सकता है। भारतीय रिज़र्व बैंक यदा कदा ऐसा करता भी है।

उदाहरणत: यदि किसी कारणवश भारत के विदेशी मुद्रा बाज़ार में अमरीकी डालर की मांग अचानक ही बहुत ज्यादा बढ़ जाए तो इस परिस्थिति में अमरीकी डालर की कीमत ऊँची हो जाएगी जिसका शोध भारतीय अर्थव्यवस्था को सहना होगा। डालर की कीमत पर काबू पाने के लिए रिज़र्व बैंक अपने स्टॉक में से डालर निकालकर बाज़ार में बिक्री के लिए प्रस्तुत करेगा जिससे मुद्रा बाज़ार में डालर की कीमत नहीं बढ़ पाएगी।

इसी तरह यदि किन्हीं परिस्थितियों में अमरीकी डालर की आपूर्ति इसकी मांग की तुलना में अधिक हो जाती है तो डालर की कीमत गिरनी आरम्भ हो जाएगी। डालर की गिरती कीमतों से भारत के निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। इस परिस्थिति से निपटने के लिए रिज़र्व बैंक स्वयं ही विदेशी मुद्रा बाज़ार से डालर खरीदना शुरू कर देता है।

संक्षेप में, भारत में विदेशी, विनिमय की दर मांग एवं आपूर्ति की बाज़ारी शक्तियों के आधार पर ही होती है किन्तु रिज़र्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्थिति के अनुसार विदेशी मुद्रा में हस्तक्षेप कर सकते हैं।

बोध प्रश्न ग

1) 'विदेशी विनिमय' और 'विनिमय दर' से आप क्या समझते हैं।

.....

.....

.....

2) दो मुद्रा में विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है?

.....

.....

.....

3) भारतीय रूपयों के विनिमय दर निर्धारण में भारतीय रिज़र्व बैंक की क्या भूमिका है? संक्षेप में व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

14.8 निर्यात आयात नीति 1997-2002 (Export Import Policy 1997-2002)

पाँच वर्ष की अवधि 1997-2002 के लिए सरकार ने नयी निर्यात नीति की घोषणा 31 मार्च, 1997 को की थी। नयी निर्यात आयात नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

1) विश्व व्यापार अर्थव्यवस्था का लाभ उठाने के लिए अर्थव्यवस्था के विश्वीकृत उन्मुख स्वरूप का तेजी से विकास करना।
2) आर्थिक विकास की ऊँची दर को बनाए रखने के लिए आवश्यक कच्चे माल मध्यवर्ती वस्तुओं, संघटनों तथा उत्पादन को बढ़ाने के लिए उपयोग पद्धतियों व पुर्जों की उपलब्धि को सुनिश्चित करना।

3) भारतीय कृषि, उद्योग एवं सेवाओं की औद्योगिक शक्ति एवं कुशलता में सुधार करना ताकि उनकी प्रतियोगिता शक्ति बढ़ सके और अन्तर्राष्ट्रीय गुणात्मकता के मानकों को प्रोत्साहन मिल सके।

4) उचित कीमतों पर गुणात्मक वस्तुएं उपलब्ध करवाना।

नई नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1) सरकार द्वारा लगाए गए नियंत्रणों के अलावा सभी आयात और निर्यात स्वतंत्र होगे। सरकार ने नियंत्रित मदों के लिए आयात व निर्यात की नकारात्मक सूची जारी की है।

2) आयात की नकारात्मक सूची के मदों को तीन भागों में वगीकृत किया गया है :

   क) **प्रतिबधित वस्तुएं** - इसमें जानवरों की चर्बी, जंगली जानवर, अनिर्मित हाथी दांत, आदि शामिल हैं।

   ख) **नियंत्रित मदें** - इन मदों का आयात केवल स्वतंत्र हस्तांत्रित विदेशी आयात लाइसेंस के आधार पर ही किया जा सकता है।

   ग) **सारणीबद्ध मदें** - ऐसी वस्तुओं का आयात सरकार द्वारा अधिकृत संस्था पर एजेंसी के माध्यम से ही किया जा सकता है।

3) नकारात्मक सूची के अलावा अन्य सभी वस्तुओं का स्वतंत्र रूप से आयात किया जा सकता है। इन वस्तुओं के आयात के साथ कुछ शर्तें जोड़ दी गई हैं।

4) निर्यातकों के लिए सीमाशुल्क छूट योजना आरम्भ की गई है। इस योजना में दो बातें शामिल है :
   i) सीमाशुल्क रहित लाइसेंस, तथा
   ii) सीमाशुल्क पात्रता पास-बुक

5) EPZs (Export Promotion Zones) में स्थित निर्यातोन्मुख इकाइयाँ EHTP इकाइयाँ बिना सीमाशुल्क का भुगतान किए सभी प्रकार की वस्तुओं जिसमें पूँजीगत वस्तुएँ भी शामिल हैं का आयात कर सकती हैं।

6) व्यापार गृह की मान्यता के लिए निम्नलिखित मानदण्ड निर्धारित किए गए हैं:

   i) **निर्यात गृह** : जिसे विगत तीन वर्षों में औसतन 20 करोड़ रुपए से अधिक की निर्यात आय प्राप्त हो रही है।

   ii) **व्यापार गृह** : जिसे विगत तीन वर्षों में औसतन 100 करोड़ रुपए की निर्यात प्राप्त हो रही है।

   iii) **सुपर व्यापार गृह** : जिसे विगत तीन वर्षों में औसतन 500 करोड़ रुपए की निर्यात आय प्राप्त हो रही है।

   iv) **सुपर स्टार व्यापार ग्रह** : जिसे विगत तीन वर्षों में औसतन 1500 करोड़ रुपए की निर्यात आय प्राप्त हो रही है।

7) नीति में गुणवत्ता के बारे में जागरुकता पर भी विशेष बल दिया गया है। सरकार यह चाहती है कि निर्माता एवं निर्यातकर्ताओं को अपनी वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय मानवीकृत गुणवत्ता को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन मिल सके।

8) कोई भी व्यक्ति किसी समर्थ प्राधिकरण द्वारा प्रदान किए गए कोड नम्बर के बिना निर्यात या आयात नहीं कर सकता।

9) घरेलू तटकर क्षेत्र में निजी धारित मालग्रहों की स्थापना की जा सकती है। कोई भी व्यक्ति स्वतंत्र रूप से आयात योग्य वस्तु या विशेष आयात लाइसेंस के अन्तर्गत वस्तु का आयात कर सकता है।

10) Director General of Foreign Trade के सभी कार्यालयों का कम्प्यूट्रीकरण कर दिया गया है जिससे इनकी कार्य प्रणाली सरल बन पाएगी।

14.9 एक्सिम बैंक की भूमिका (Role of Exim Bank)

एक्सिम बैंक की स्थापना भारतीय औद्योगिक विकास बैंक के अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कार्य को सम्भालने और वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात आयात को स्थापित करने के लिए की गई। एक्सिम बैंक व्यापारिक बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थाओं को उनके निर्यात-आयात हेतु वित्त प्रदान करने के लिए पुनर्वित्त प्रदान करता है। बैंक की स्थापना जनवरी 1982 में की गई तथा इसने 1 मार्च 1982 से अपना काम-काज सम्भाला।

14.9.1 एक्सिम बैंक का औचत्य (Genesis of Exim Bank)

सातवें दर्शक में तेज गति से औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप भारत के औद्योगिक ढांचे में अनेक रचनात्मक परिवर्तन हुए और निर्यातों के विस्तार के लिए अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण सम्भव हो पाया। इन अनुकूल परिस्थितियों का फायदा उठाने के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि विदेशी व्यापार से सम्बन्धित सभी लेन-देन के लिए पर्याप्त वित्तीय व्यवस्था की जानी चाहिए।

उपरोक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए एक्सिम की कार्य-प्रणाली में निम्न गुणों को शामिल किया गया है:

i) विदेशी ग्राहकों को प्रदत्त वित्तीय शर्तों के मामलों में भारतीय निर्यातकों की प्रतिस्पर्धा में सुधार लाना;

ii) अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में अन्य दृष्टियों से सुधार लाने को प्रयत्नशील निर्यातकों को वित्तीय सहायता प्रदान करना;

iii) गैर-परम्परागत निर्यातों के अवसरों की जानकारी उपलब्ध करवाना;

iv) घरेलू बाज़ारों में प्रतिस्पर्धा में सुधार के वास्ते वित्तीय व्यवस्था करना;

v) भारतीय निर्यातकों की निर्यात-सम्बन्धी समस्याओं का निवारण करना।

14.9.2 एक्सिम बैंक के ऋण-सम्बन्धी कार्यक्रम (Exim Bank's Leading Programme)

एक्सिम बैंक के ऋण-सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रमुख उद्देश्य है भारतीय निर्यातकों की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताओं की व्यवस्था करना। इन कार्यक्रमों को ग्राहकों के आधार पर निम्नलिखित चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

क) **भारतीय निर्यातकों के लिए ऋण-व्यवस्था**

i) **विक्रता ऋण (Supplier Credit) :** निर्यातकों को आवधिक ऋण उपलब्ध करवाए जाते हैं जिससे कि वे अपने ग्राहकों को स्थगित भुगतान की सेवाएँ प्रदान कर सके।

ii) **परामर्श एवं तकनीकी सेवाएँ :** निर्यात वित्त से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के बारे में आवश्यक जानकारी और परामर्श प्रदान किया जाता है।

iii) **लदान-पूर्व ऋण :** जिस निर्यात योग वस्तु के निर्माण में छह मास से अधिक लगते हैं ऐसी वस्तु के उत्पादन के लिए लदान-पूर्व ऋण उपलब्ध करवाए जाते हैं।

iv) **निर्यात-उन्मुख इकाइयों को प्रोजेक्ट वित्त :** EPZs में EOUs की स्थापना के लिए सावधिक ऋण प्रदान किए जाते हैं।

v) **आयात वित्त :** ऐसी समस्त वस्तुओं के आयात के लिए वित्तीय व्यवस्था की जाती है जिनका कि प्रयोग निर्यातों के लिए उत्पादन में किया जाता है।

vi) **विदेशी निवेश वित्त:** विदेशों में स्थापित, संयुक्त उपक्रमों में भारतीयों की भागीदारी के वास्ते वित्तीय ऋण प्रदान किए जाते हैं।

ख) **भारतीय वाणिज्य बैंक को ऋण**

i) **निर्यात बिलों का पुनर्भुगतान** : 180 दिन की अवधि वाले बिलों के पुनर्भुगतान के सेवाएँ प्रदान की जाती हैं तथा इन पर 12% से 18% के बीच ब्याज वसूल किया जाता है।

ii) **लघु-उद्योग** : निर्यात बिल पुनर्भुगतान

iii) **निर्यात ऋणों के लिए पुनर्वित्त** : भारतीय निर्यातकों को प्रदत्त के ऋण के बदले 100% पुनर्वित उपलब्ध करवाया जाता है।

iv) **सावधिक ऋणों का पुनर्वित** : निर्यात उन्मुख इकाइयों को दिए गए सार्वाधक ऋण के लिए पुनर्वित्त उपलब्ध करवाए जाते हैं।

ग) **विदेशी सरकारों, आयातकों एवं वित्तीय संस्थाओं को ऋण**

i) विदेशियों को क्रेता-ऋण की व्यवस्था की जाती है जबकि वे भारतीय माल की खरीद करते हैं।

ii) सावधिक ऋण की व्यवस्था उन विदेशी सरकारों और वित्तीय संस्थानों के लिए की जाती है जोकि भारतीय माल को खरीदते हैं।

iii) विदेशी बैंकों को पुनर्ऋण की व्यवस्था की जाती है।

घ) **देयताओं की गारण्टी प्रदान करना**

वाणिज्य बैंकों के सहयोग से एक्सिम बैंक विभिन्न कार्यकलापों के वास्ते गारण्टी प्रदान करने की व्यवस्था करता है।

बोध प्रदश्न घ

1) 1997-2002 निर्यात आयात नीति की प्रमुख बातें क्या हैं?

.....

.....

.....

2) भारत के विदेशी व्यापार के प्रोत्साहन के वास्ते एक्सिम बैंक की क्या भूमिका है?

.....

.....

.....

3) रिक्त स्थानों को भरें

i) निर्यात आयात नीति का उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था को उन्मुख गतिशील अर्थव्यवस्था बनाना है।

ii) .....वस्तुएँ केवल सरकार से अधिकृत ऐजेंसी द्वारा आयात की जा सकती है।

iii) ..... लाइसेंस निर्माता निर्यातक को आदानों के आयात के लिए दिए जाते हैं।

iv) Duty Entitlement Pass Book पहले से किए गए ..... के बदले जारी की जाती है।

v) एक्सिम बैंक ऐसे निर्यातों का वित्तीयन करता है जिससे भारत के विदेशी विनिमय..... है।

14.10 सारांश

किसी अन्य विकासशील देश की तरह भारत भी भुगतान-शेष में घाटों की समस्या से जूझता रहा है। इस समस्या के निवारण के लिए भारत ने व्यापक नीति का गठन किया और पर्याप्त सफलता भी हासिल की है। इस नीति के अन्तर्गत विदेशी विनिमय दर निर्धारण की प्रणाली बदली गई है। एक्सिम बैंक की स्थापना की गई है तथा दीर्घकालिक दृष्टिकोण अपनाया गया है।

14.11 शब्दावली

व्यापार-शेष : एक राष्ट्र द्वारा किए वस्तुओं के निर्यात और आयात का वार्षिक लेखा-जोखा।

भुगतान-शेष : एक राष्ट्र के विश्व के अन्य सभी देशों के साथ मौद्रिक लेन-देन का वार्षिक लेखा-जोखा।

विदेशी विनिमय : दूसरे देशों की मुद्रा।

विनिमय दर : दूसरे देशों की मुद्रा प्राप्त करने के बदले दी जाने वाली घरेलू मुद्रा की इकाइयाँ।

विनिमय नियंत्रण : ऐसी प्रणाली जिसमें समस्त विदेशी संव्यवहार प्राधिकरण की अनुमति से ही किए जा सकते हैं।

नकारात्मक सूची : ऐसी मदें जिनके आयात (या निर्यात) नहीं किए जा सकते अन्यथा प्राधिकृत संस्था द्वारा ही किए जा सकते हैं।

14.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

i) विश्वव्यापीकरण, ii) माध्यमिक, iii) मध्यवर्ती, iv) निर्यात, v) निरन्तरता

14.13 स्व-परख प्रश्न

1) चालू खाते एवं पूँजीगत खाते में विभेद कीजिए।

2) 'भुगतान-शेष' अवधारणा को परिभाषित कीजिए तथा इसके महत्व की व्याख्या कीजिए।

3) भुगतान-शेष के घाटों के कारण बतलाइए इस समस्या के समाधान के लिए क्या कदम उठाए गए हैं?

4) विनिमय दर की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। विनिमय दर का निर्धारण किस प्रकार होता है? भारत के सन्दर्भ में व्याख्या कीजिए?

5) 1997-2002 की निर्यात-आयात नीति की प्रमुख बातें बताएं।

6) भारत के विदेशी व्यापार में एक्सिम बैंक की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए है।

इकाई 15 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्ध (International Trade Relations)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 द्विपक्षीय व्यापार सम्बन्ध
15.3 बहुपक्षी व्यापारिक प्रणाली
  15.3.1 मुक्त व्यापार के लाभ
  15.3.2 मुक्त व्यापार के दोष
  15.3.3 संरक्षण के पक्ष में तर्क
  15.3.4 संरक्षण के उपकरण
15.4 व्यापार एवं टैरिफ का सामान्य समझौता (GATT)
  15.4.1 GATT के उद्देश्य
  15.4.2 GATT की भूमिका
15.5 विश्व व्यापार संगठन (WTO)
  15.5.1 WTO के कार्य
  15.5.2 WTO समझौते
  15.5.3 मूल्यांकन
15.6 सारांश
15.7 शब्दावली
15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
15.9 स्व-परख प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- द्विपक्षीय व्यापार सम्बन्धों की अवधारणा की व्याख्या कर सकें
- द्विपक्षीय सम्बन्ध एवं बहुपक्षीय सम्बन्धों में भेद कर सकें
- द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय सम्बन्धों के सापेक्ष गुणों का परिचय दे सकें
- WTO की रचना की व्याख्या कर सकें
- GATT एवं WTO में भेद कर सकें।

15.1 प्रस्तावना

21वीं शताब्दी में प्रवेश करते हुए हम इस विचार से भली-भाँति परिचित हैं कि निर्यात द्वारा विकास की पद्धति को विश्व-भर में सर्वमस्यता प्राप्त हो चुकी है। विश्व-भर में सभी देश, क्या बड़ा और क्या छोटा, इस तैयारी में लगे है कि वे अपने उत्पादों को विश्व बाज़ारों में बेचने के योग्य बन जाएँ। यह प्राथमिक उत्पादों एवं निर्मित उत्पादों सभी तरह के बाज़ारों के लिए सत्य है। विश्वव्यापी करण की आवश्यकताओं के अनुकूल ही विभिन्न सेवाओं को आयोजन एवं व्यवस्था की जा रही है।

अब जब यह धारणा घर कर गई है कि तेज गति से निर्यातों द्वारा ही किसी शब्द का आर्थिक उत्थान सम्भव है अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारों में प्रतिस्पर्धा बढ़ती जा रही है। यह प्रतिस्पर्धा गला-काट प्रतियोगिता का रूप धारण करती है। प्रत्येक उत्पादक अपने प्रतिस्पर्धी को बाज़ार से हटाने की होड़ में व्यस्त रहता है। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए वह किसी विधि को भी अपनाने से नहीं हिचकिचाता है।

प्रतिस्पर्धा के इस घोर संघर्ष में यह आवश्यक समझा गया है कि कुछ ऐसे नियम एवं विनियम बनाए जाने चाहिए जोकि विभिन्न देशों के व्यवहारों को विनियमित करें। प्रत्येक देश इस प्रकार के नियमों का प्रावधान करता है जोकि घरेलू व्यापारियों के व्यवहार को नियमित करते हैं। किन्तु, ऐसे नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त नहीं होती। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न देश आपसी बातचीत से ऐसे प्रावधान करें जिनसे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों को नियमित किया जा सकता है।

जब दो राष्ट्र आपसी संव्यवहारों को नियमित करने के लिए किन्हीं नियमों का प्रावधान करते हैं तो इन्हें बहुपक्षीय समझौतों का नाम दिया जाता है।

बहुपक्षीय समझौते अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौतों का आधार प्रस्तुत करता है, इसी प्रकार के ही समझौते का परिणाम है। विश्व व्यापार संगठन (WTO) जिसकी हाल ही में स्थापना की गई है।

15.2 द्विपक्षीय व्यापार सम्बन्ध (Bilateral Trade Relation)

आपसी व्यापार की पद्धति क्या है इस बारे में दो देश परस्पर समझौता कर सकते हैं। इस समझौते में यह व्यक्त किया जा सकता है कि दोनों में से प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को किस तरह की वस्तुएँ और कितनी-कितनी मात्रा में बेचेगा। इस बारे में पहले से निर्णय लिए जा सकते है कि सकते हैं कि जो माल खरीदा-बेचा जाएगा उसके भुगतान किस मुद्रा में और कब किए जाएंगे। इसी तरह के व्यापक समझौतों में उन सभी समस्याओं पर ध्यान दिया जा सकता है जोकि आपसी संव्यवहारों से उत्पन्न होते हैं।

सामान्यत: बहुपक्षीय समझौतों में निम्न तीन बातों को शामिल किया जाता है। 1) कॉउंटर व्यापार, 2) भुगतान का समझौता, एवं 3) स्वींग ऋण

1) **कॉऊंटर व्यापार (Counter Trade)** वस्तु विनिमय प्रणाली का ही एक रूप है। दोनों राष्ट्रों में इस बारे में सहमति हो सकती है कि एक निश्चित अवधि में वे कितनी मात्रा में दूसरे देश से वस्तुओं का आयात/निर्यात करेंगे। जिन वस्तुओं में व्यापार किया जाएगा उनकी कीमतों के बारे में पहले से ही समझौता कर लिया जाता है। इस प्रणाली में सामान्यत प्रयत्न यह होता है कि एक देश द्वारा उतने ही मूल्य की वस्तु का आयात किया जाता है जितने मूल्य की वस्तु का यह देश सहयोगी देश को निर्यात करेगा। अर्थात् व्यापार-शेष सन्तुलन में बना रहता आयात की गयी वस्तुओं का भुगतान निर्यातों के माध्यम से होता है।

2) **भुगतान का समझौता (Payments Agreement)** में प्राय: उस मुद्रा का उल्लेख किया जाता है जिसमें सभी संव्यवहारों का लेन-देन होगा। यह मुद्रा सहयोगी राष्ट्रों में से किसी एक राष्ट्र की मुद्रा हो सकती है अथवा यह कोई एक ऐसी मुद्रा हो सकती है जोकि सामान्यत: अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में स्वीकार्य करती है। द्विपक्षीय समझौतों में इस बारे में भी करार किया जा सकता है कि यदि किसी देश के निर्यात उसके द्वारा किए गए आयात के बराबर नहीं होते तो ऐसे व्यापार घाटों का वित्तीय न किस तरह किया जाएगा।

3) **स्विंग ऋणों (Swing Credit)** की व्यवस्था उस परिस्थिति में उत्पन्न होती है जबकि दोनों देशों का व्यापार संतुलित नहीं होता। जिस देश का व्यापार घाटे में होता है उतनी ही राशि का ऋण अतिरेक वाला देश घाटे वाले देश को दे देता है तथा प्रयत्न किए जाते हैं कि आने वाले वर्ष में ऋण समेत सभी भुगतान सन्तुलन में आ जाएंगे।

राष्ट्रों में आपसी व्यापार बढ़ाने के प्रयोजन से द्विपक्षीय व्यापार की पद्धति का प्राय: प्रयोग किया गया है। किन्तु इस पद्धति की अनेक सीमाएँ हैं जिनमें से कुछ एक का उल्लेख नीचे किया गया है।

पहला, राष्ट्रीय संसाधनों के उचित विदोहन की दृष्टि से द्विपक्षीय समझौतों की सिफारिश नहीं की जा सकती। सैद्धांतिक रूप में दो राष्ट्रों में व्यापार का आधार तुलनात्मक श्रेष्ठता होती है एक राष्ट्र दूसरे

राष्ट्र को उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिसके उत्पादन में इसे तुलनात्मक श्रेष्ठता प्राप्त होती है। इसी प्रकार, यह राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से उन वस्तुओं का आयात करता है जिनमें कि दूसरे राष्ट्र को तुलनात्मक श्रेष्ठता प्राप्त होती है। किन्तु, द्विपक्षीय समझौतों के सन्दर्भ में जब हम तुलनात्मक श्रेष्ठता की बात करते हैं तो यह श्रेष्ठता मात्र दो देशों तक ही सीमित रह जाती है। यह भी हो सकता है दोनों ही देश बाकी दूसरे देशों की तुलना में बहुत ही पिछड़े हुए हैं। तुलनात्मक श्रेष्ठता के लाभ तभी प्राप्त होंगे जबकि विभिन्न अनेक देशों में से सर्वसम्पन्न देश की पहचान की जाए।

दूसरा, द्विपक्षीय व्यवस्था में परस्पर व्यापार की सीमित सम्भावनाएँ ही बन पाती हैं और उस परिस्थिति में जबकि दोनों ही देश अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में पिछड़े हुए हों तो यहाँ सुधार की सम्भावनाएँ धूमिल हो जाती हैं एक तो यह कि सुधार के अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते और दूसरा उत्पादन तकनीकों में सुधार लाने के प्रलोभन नहीं बन पाते।

बोध प्रश्न क

1) द्विपक्षीय व्यापार सम्बन्धों से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

2) निम्न अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए

i) कॉऊंटर व्यापार

ii) भुगतान समझौते

iii) स्विंग ऋण

.....

.....

.....

15.3 बहुपक्षीय व्यापारिक प्रणाली (Multilateral Trading Systems)

बहुपक्षीय व्यापारिक प्रणाली से अभिप्राय उस व्यवस्था से जिसमें अनेक देश परस्पर लेन-देन करते हैं। सामान्य रूप में बहुपक्षीय व्यापारिक प्रणाली विभिन्न देशों में मुक्त बाज़ार की व्यवस्था है जो राजनीतिक सीमाओं से बंधी नहीं रहती और वस्तुएं एक देश से अनेक दूसरे देशों में निर्बाध आती जाती है। वस्तुएं एक देश से समस्त विश्व में प्रवाहित होती है। देश में निर्मित वस्तुओं को विश्व के बाकी सभी देशों में निर्मित वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा करनी होती है। वस्तुओं के प्रवाह पर किसी तरह के रोक नहीं लगाए जाते हैं।

स्पष्ट रूप से बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली इस मान्यता पर आधारित है कि सभी सहयोगी देश यह मानते हैं कि उपलब्ध संसोधनों का विश्व-स्तर पर कुशलतम उपयोग होना चाहिए।

15.3.1 मुक्त व्यापार के लाभ (Advantage of Free Trade)

अनेक देशों में मुक्त व्यापार विभिन्न रूप से सभी देशों को लाभांवित करता है। विशेष रूप से हम निम्न की ओर ध्यान दिलवाना चाहेंगे

i) सबसे पहले मुक्त व्यापार के कुछ स्थायी लाभ प्राप्त होते हैं। ये लाभ अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्ट करण की तुलनात्मक श्रेष्ठता कारण उत्पन्न होते हैं।

ii) इसी तरह अत्यात्मक परिवेश में भी मुक्त व्यापार का योगदान रहता है। उपरोक्त के अलावा भी मुक्त व्यापार के रास्ते अतिरेक उत्पादों के लिए बाज़ार की व्यवस्था की जा सकती है। इनके परिणामस्वरूप रोजगार विहीन संसाधनों के लिए रोज़गार के अवसरों का निर्माण किया जा सकता है और साथ ही विदेशी वस्तुओं की भी खरीद की जा सकती है। यह दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण हो सकता है। पहला, यदि ऐसी विदेशी वस्तुओं के घरेलू स्थानापन्न उपलब्ध नहीं है तो ये घरेलू उत्पादन की बाधाओं को समाप्त कर सकते हैं। दूसरा, घरेलू संसाधनों की तुलना में आयातित साधन अधिक उत्पादक सिद्ध हो सकते हैं।

15.3.2 मुक्त व्यापार के अवगुण (Disadvantages of Free Trade)

मुक्त व्यापार ऐसी विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के हितों का पोषक नहीं है जहाँ कि तेज़गति से संरचनात्मक परिवर्तन हो रहे हैं और वे देश अल्पकालिक कुशलता में उतनी रुचि नहीं दिखाते जितनी कि दीर्घकालिक आर्थिक विकास की क्षमता में व्यक्त की जाती है। मुक्त व्यापार सिद्धांत में दीर्घकालिक विकास से सम्बन्धित अनेक बातों की अनदेखी की गई है।

i) सिद्धांत में निर्बाध व्यापार के भुगतान सन्तुलन एवं व्यापार शर्तों पर पड़ने वाले प्रभावों को भुलाया गया है। यदि कीमतों के परिवर्तन और आय मांग की लोच की भिन्नता के कारण विभिन्न वस्तुओं की मांग अलग-अलग दर से बढ़ती है तो परिणामत: निर्बाध व्यापार से कुछ देश तो लाभांवित होंगे जबकि अन्य देश इसका बोध वहन करेंगे।

ii) मुक्त व्यापार से उत्पन्न विशिष्टीकरण से एक यह आशंका जुड़ी रहती है कि देश का घरेलू उत्पादन का ढाँचा कुछेक विशिष्ट वस्तुओं के उत्पादन तक ही संकुचित होकर रह जाता है जिसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था की दूसरे देशों पर निर्भरता बढ़ जाती है।

iii) अनेक वस्तुओं के निर्यातों से ऐसा भी सम्भव होता है कि अर्थव्यवस्था के बाकी सभी क्षेत्र किसी तरह का लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। व्यापारिक ढांचे के गौण प्रभावों की इस अवधारणा में अवहेलना की गई है।

उपरोक्त कठिनाइयों को देखते हुए सभी देश चाहे वे विकसित हो अथवा विकासशील मुक्त व्यापार के रास्ते में रुकावटे लगाते रहे है। इन रुकावटों को संरक्षण के नाम से जाना जाता है।

15.3.3 संरक्षण के पक्ष में तर्क (Argument for Protection)

संरक्षण के पक्ष में निम्न तर्क दिए जा सकते हैं:

पहला उन सभी तर्कों को एक वर्ग में समेटा जा सकता है जिनका आधार यह है कि संरक्षण की अवस्था में वास्तविक आय तथा उत्पादन में उतनी वृद्धि सम्भव हो पाती है जितनी कि अन्यथा नहीं हो सकती।

i) शैशव अवस्था से गुज़र रहे उद्योगों को प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध उस समय तक संरक्षण की आवश्यकता होती है जब तक कि वे न्यूनतम औसत लागत पर आदर्श उत्पादन मात्रा के योग्य नहीं हो जाते।

ii) उन परिस्थितियों में जबकि उत्पादन की सामाजिक लागत निजी लागत से कम होती है संरक्षण वाहन मितव्ययिताओं की उपलब्धि का साधन बन सकता है।

iii) जब श्रम बाज़ार में विकार पाए जाते हैं जिनके परिणामस्वरूप श्रम के उपयोग के सामाजिक लागत इनकी निजी लागत से कम होती है। संरक्षण लाभप्रद होता है।

iv) संरक्षण उन परिस्थितियों में भी उपयोगी होते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विकार विद्यमान होते हैं जिनके परिणामस्वरूप वस्तुओं की घरेलू अन्तरण की दर विदेशी अन्तरण की दर से भिन्न होती है।

दूसरा, संरक्षण के पक्ष में गैर-आर्थिक तर्क भी दिए जाते हैं गैर-आर्थिक तर्कों का मूल आधार उत्पादन या आय के स्तर को बढ़ाना तो नहीं होता। इनके प्रयोग से अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण, आत्म-निर्भरता आदि लक्ष्यों की प्राप्ति सहज हो जाती है।

15.3.4 संरक्षण के उपकरण (Instruments of Protection)

विभिन्न देशों द्वारा अपने उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के वास्ते भिन्न रूप के उपकरणों का उपयोग किया जाता है। इन विभिन्न उपकरणों को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं : 1) टेरिफ, एवं 2) गैर-टेरिफ अड़चने।

1) **टैरिफ (Tariffs)**– व्यापारिक नीति का प्रमुख उपकरण टेरिफ माने जाते हैं। टैरिफ से अभिप्राय किसी देश द्वारा अपने निर्यातों या दूसरे देशों से किए जाने वाले आयातों पर लगाए जाने वाले करों अथवा सीमाशुल्कों से है। सामान्यत: निर्यातों की अपेक्षा आयातों पर ही सीमाशुल्क लगाए जाते हैं। इस कारण सीमा-शुल्कों की व्याख्या आयात के ही सन्दर्भ में की जाती है। सीमाशुल्कों द्वारा आयातित (या निर्यातित) वस्तुओं की कीमतों को प्रभावित करने के प्रयत्न किए जाते हैं जिससे कि आयात (या निर्यात) की मात्रा को नियमित किया जा सके। इनका उद्देश्य सामान्यत: यह होता है कि वस्तुओं का उतनी मात्रा में आयात न किया जाए जितना कि मुक्त व्यापार की परिस्थिति में होता है। सीमा शुल्क किसी भी उद्देश्य से लगाए जाएँ उनके कारण व्यापारिक विकारों को बढ़ावा मिलता है। सीमाशुल्कों के कारण आयातित वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं और चूँकि आयातित वस्तुएँ मंहगी हो जाती हैं अत: क) घरेलू उपभोक्ता विदेशी वस्तुओं की कम मात्रा में मांग करते हैं, और ख) घरेलू उत्पादकों को यह अवसर मिल पाते हैं कि वे घरेलू उपभोक्ताओं के लिए वस्तुओं का उत्पादन कर पाएँ। परिणामस्वरूप, सीमा-शुल्कों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तुलनात्मक लाभों की व्यवस्था बिगड़ जाती है। इनके कारण कुशल उत्पादन (शेष विश्व में) हतोत्साहित होता है जबकि अकुशल उत्पादन (घरेलू अर्थव्यवस्था में) को प्रोत्साहन मिलते हैं। इसी तरह, सीमा-शुल्कों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा कम हो जाती है जिसके कारण विभिन्न देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ कम हो जाते हैं।

सीमा-शुल्कों के प्रभाव में विभिन्न देशों के बीच आर्थिक दूरी बढ़ जाती है। फलत: विभिन्न देशों के बीच प्राकृतिक भौतिक दूरी से उत्पन्न अड़चनों से कहीं अधिक बड़े आकार की अड़चने बन खड़ी होती हैं। इस तरह सीमाशुल्कों के वहीं प्रभाव पड़ते है जोकि विभिन्न देशों के बीच व्यापार की जाने वाली वस्तुओं के लेन-देन पर आने वाली परिवहन लागत से उत्पन्न होते हैं।

2) **गैर-टैरिफ अड़चनें (Non-Tariff Barriers)**– जबकि सीमा शुल्क अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर दृश्य अड़चन के रूप में दिखाई देते हैं गैर-टेरिफ अदृश्य अड़चन का रूप धारण करते हैं। इधर हाल के वर्षों में विभिन्न देश सीमाशुल्कों की अपेक्षा गैर-टेरिफ अड़चनों का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे हैं। गैर-टेरिफ अड़चनों में हम इन विधियों को शामिल कर सकते हैं : प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध (जिन्हें कोटा के नाम से भी जाना जाता है। मोद्रिक प्रतिबन्ध एवं तकनीकी तथा प्रशासनिक नियमन।

मात्रात्मक प्रतिबन्ध या कोटा का प्रयोग सामान्यत: आयात (या निर्यात) की मात्रा को नियत स्तर तक कम करने के लिए किया जाता है। सीमाशुल्कों की तुलना में कोटे के प्रभाव अधिक तीखे होते हैं। निर्यात कोटे की तुलना में आयात कोटे का सामान्यत: अधिक प्रयोग किया जाता है। कोटों का विभिन्न स्वरूप देखने को मिलता है। कुछ देशों ने तो संवैधानिक प्रतिबन्धों का प्रयोग किया (प्राय: आयातों को रोकने के लिए) जबकि अनेक देशों ने स्वैच्छिक प्रतिबन्धों का भी इस्तेमाल किया है प्राय: निर्यातों की मात्रा को नियमित करने के लिए। वैसे तो संवैधानिक प्रतिबन्धों एवं स्वैच्छिक प्रतिबन्धों में कोई भिन्नता नहीं है बस इतना ही कि स्वैच्छिक प्रतिबन्ध उतने तीखे नहीं दीखते जितने कि संवैधानिक प्रतिबन्ध। दोनों तरह के प्रतिबन्धों के प्रभाव एक समान ही होते हैं : इनके परिणामस्वरूप विश्व के संसाधनों का उचित आबंटन और आदर्श उपयोग नहीं हो पाता।

गैर-टेरिफ अड़चनों का अन्य रूप है मौद्रिक प्रतिबन्ध। इस व्यवस्था में किसी देश द्वारा अन्य देशों से आयात पर किसी तरह के सीमाशुल्क नहीं लगाए जाते और न ही परिमाणात्मक प्रतिबन्ध कराए जाते हैं बल्कि सरकार विदेशी विनिमय को अपने नियंत्रण में रखती है किसी भी तरह के आयात के वास्ते विदेशी विनिमय की आवश्यकता होती है और यदि विदेशी विनिमय की समस्त आपूर्ति सरकारी नियंत्रण में हो तो स्वाभाविक है कि इस अधिकार का प्रयोग कर सरकार आयातों की मात्रा को अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार

नियमित कर सकती है। इस तरह के विदेशी विनिमय नियंत्रणों का प्रयोग समान्यत: सभी अल्पविकसित देशों द्वारा किया जाता है।

गैर टेरिफ अड़चनों का तीसरा स्वरूप है प्रशासनिक एवं तकनीकी नियमन। इस वर्ग में हम अनेक बातें शामिल कर सकते हैं। जैसे सीमा-अधिकारियों द्वारा ऐसी वस्तुओं के आयात को प्रतिबन्धित किया जा सकता है जोकि सुरक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमनों के अनुरूप न हो। इसी तरह लेबल, पैकिंग, प्रशासनिक क्रियाएँ एवं उपक्रियाओं का पालन करते हुए अनेक तरह की वस्तुओं के आयात को प्रतिबन्धित किया जा सकता है।

अन्तत: सरकार द्वारा खरीद सम्बन्धी नीतियों या सरकारी व्यापारिक विधियों का प्रयोग आयात की मात्रा को नियंत्रित करने के लिए किया जा सकता है। इनका प्रयोग प्रत्यक्षत: शायद इस उद्देश्य से न भी किया जाए किन्तु इनके प्रभाव व्यापार की मात्रा को नियंत्रित करने तक ही सीमित रह जाते हैं।

संक्षेप में गैर-टेरिफ अड़चनों के अनेक रूप हो सकते हैं। इन सबका उद्देश्य व्यापार की मात्रा और स्वरूप को नियंत्रित और नियमित करना होता है।

बोध प्रश्न ख

1) निर्बाध व्यापार के गुण एवं अवगुण बताएँ

.....

.....

.....

2) संरक्षण के पक्ष में क्या प्रमुख तर्क दिए जा सकते हैं?

.....

.....

.....

3) संरक्षण के प्रमुख उपकरण क्या हैं?

.....

.....

.....

4) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए:

i) मुक्त व्यापार के स्थायी लाभ अन्तर्राष्ट्रीय ..... से उत्पन्न होते हैं।

ii) मुक्त व्यापार ..... वस्तुओं के लिए बाजार निर्मित करते हैं।

iii) ..... वस्तुत: आयातित या निर्यातित वस्तुओं पर लगाए जाने वाले कर या शुल्क है।

iv) टेरफि आयातित वस्तुओं के ..... के उत्पादन एवं उपयोग को प्रोत्साहित करते हैं।

v) मौद्रिक प्रतिबन्ध ..... अड़चनों का एक स्वरूप है।

15.4 व्यापार एवं टैरिफ का सामान्य समझौता (General Agreement on Trade and Tariff - GATT)

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान विभिन्न देशों द्वारा अनेक तरह के प्रतिबन्धों का प्रयोग किया गया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भारी क्षति पहुँची। प्रतिबन्धों और ऐसी अन्य घातक नीतियों से बचने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि ऐसी व्यवस्था का प्रयोजन किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अनुकूल हो।

उपरोक्त उद्देश्य के वास्ते सन् 1947 में हवाना नामक स्थान पर व्यापार एवं टैरिफ के सामान्य समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। अप्रैल 1995 में GATT के सदस्यों की संख्या 121 थी। विश्व व्यापार का 90 प्रतिशत व्यापार इनके द्वारा किया जाता था।

15.4.1 GATT के उद्देश्य (Objectives of GATT)

GATT के उद्देश्य का समझौते की प्रस्तावना में उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है। समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में व्यापार एवं आर्थिक सम्बन्ध इस प्रकार के होने चाहिए कि इनसे सामान्य जीवन स्तर में सुधार आए, पूर्ण रांज़गार की प्राप्ति हो, वास्तविक आय तथा प्रभावपूर्ण मांग का विस्तार हो, विश्वीय संसाधनों का पूर्ण उपयोग सम्भव हो, वस्तुओं के उत्पादन एवं विनिमय के परिमाण में वृद्धि हो तथा सभी अर्थव्यवस्थाओं का निरंतर विकास हो।

GATT में निम्नलिखित प्रावधान किए गए थे :

i) अधिकतम पक्षपाती देश (Most Favoured Nation) के सिद्धांत को स्वीकार किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि एक देश किसी अन्य सदस्य देश को जो रियायत देता है, कुछ अपवादों के अलावा, ये दूसरे सदस्य देशों को भी स्वाभाविक रूप से देने होंगे।

ii) परिमाणात्मक नियंत्रणों जैसे कोटा, विनिमय नियंत्रण आदि के रूप में घरेलू उद्योगों के संरक्षण के लिए केवल टैरिफों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

iii) समझौता करने वाले देशों को अपने मतभेद GATT के माध्यम से दूर करने चाहिए। उनको एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतिकरात्मक कार्यवाही नहीं करनी चाहिए।

iv) सभी सदस्य देशों को स्वस्थ परम्पराओं के आधार पर विश्व व्यापार का विकास करना चाहिए।

15.4.2 GATT की भूमिका (Role of GATT)

यद्यपि दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की स्थापना के जो प्रयत्न किए गए वे असफल रहे और अस्थायी रूप से GATT की स्थापना की गई लेकिन GATT ने अपने जीवन काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाले अनेक उलझनों को सुलझाने के महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। GATT के अभाव में शायद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आज जो आकार व स्वरूप है उसे प्राप्त करना सम्भव न हो पाता।

15.5 विश्व व्यापार संगठन (WTO) (World Trade Organisation)

बेटन वुडस् समझौते में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन की भी व्यवस्था की गई थी। लेकिन किन्हीं कारणों से इस संगठन की स्थापना नहीं की जा सकी जबकि विश्व बैंक और IMF की स्थापना हो पाई थी। इस प्रष्ठभूमि में अमरीका, इंग्लैंड, आदि देशों के आग्रह पर GATT के नए समझौते पर हस्ताक्षर किए गए और इसकी स्थापना की गई। GATT के अन्तर्गत केवल वस्तुओं के आयात निर्यात को ही शामिल किया गया। विश्व अर्थव्यवस्थाओं की बदलती परिस्थितियों को देखते हुए यह समझा गया कि वस्तुओं के व्यापार के अलावा सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित करने के लिए किसी संस्थागत व्यवस्था का गठन किया जाना चाहिए। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु WTO की व्यवस्था की गई है।

WTO ने 1 जनवरी 1995 से काम करना आरम्भ कर दिया है।

15.5.1 WTO के कार्य (Function of WTO)

WTO को निम्न कार्यों की ज़िम्मेदारी सौंपी गई है।

i) विभिन्न समितियों एवं कोउंसिलों की सहायता से यह संगठन उन सभी समझौतों के प्रशासन की व्यवस्था करता है जोकि सदस्य देशों ने आपस में किए हैं।

ii) व्यापार समझौतों में स्वीकार किए गए टेरिफ एवं गैर-टेरिफ बन्धनों में कटौतियों को लागू करने की व्यवस्था करता है।

iii) प्रत्येक सदस्य देश व्यापार-सम्बन्धित नए नियमों की निरंतर समीक्षा करता है।

iv) प्रत्येक देश से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने विदेशी व्यापार से सम्बन्धित पूर्ण जानकारी और आकड़ें WTO को उपलब्ध करवाएंगे और WTO इस तरह की नियमित व्यवस्था करेगा।

v) WTO सदस्य देशों के आपसी व्यापार सम्बन्धी आकड़ों का निपटारा करता है।

vi) सदस्य देशों के आपसी झगड़े जोकि वे आपसी बातचीत से नहीं सुलझा पाते उनके बारे में WTO अदालत का काम भी करता है।

vii) WTO में जिन नियमों का प्रावधान किया गया है उनके अनुसार विभिन्न आर्थिक मामलों को सुलझाने के लिए WTO में स्वतंत्र विचारक विशेषज्ञों की व्यवस्था की गई है। जिससे कि विभिन्न सदस्यों में किसी भेद-भाव की गुंजाइंश न रहे।

viii) WTO विश्व व्यापार के लिए प्रबन्ध परामर्शदाता का काम भी करता है।

ix) WTO विकासशील देशों की व्यापार सम्बन्धी उन मामलों को लागू करने में मदद करता है जिनके बारे में इन्होंने समझौतों पर हस्ताक्षर किए हैं।

x) उपरोक्त सबके अलावा WTO सदा प्रयत्नशील रहेगा कि विश्व व्यापार के मार्ग में आने वाली सभी अड़चनों को आपसी बातचीत के रास्ते समाप्त कर दिया जाए।

WTO उन सभी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कृतसंकल्प है जिनका उल्लेख GATT में किया गया था।

क) सामान्य जीवन स्तर में सुधार, आय-स्तर में वृद्धि, पूर्ण रोज़गार, उत्पादन एवं व्यापार में विस्तार, विश्व-संसाधनों का आदर्श उपयोग और साथ ही इन सबका सेवाक्षेत्र में विस्तार।

ख) विश्व संसाधनों का आदर्श उपयोग इस प्रकार किया जाए कि धारणीय विकास की नींव डाली जा सके और राष्ट्रीय आर्थिक विकास की परिस्थितियों के अनुरूप पर्यावरण की सुरक्षा के प्रबन्ध किए जा सकें।

ग) इस बात की व्यवस्था करना कि बढ़ते विश्व व्यापार में विकासशील देशों की भागीदारी निरन्तर बढ़ती जाए।

विवाद निपटाने के लिए WTO में भी उसी प्रणाली को अपनाया जाएगा जोकि GATT में अपनायी गई थी।

15.5.2 WTO समझौते (WTO Agreements)

WTO के अन्तर्गत अनेक बहुदेशीय समझौते किए गए हैं जिन्हें प्रमुखत: निम्न भागों में बांटा जा सकता है :

क) **वस्तुओं के व्यापार से सम्बध समझौते (WTO Agreements Covering Trade & Goods)**

1) GATT 1994– सन् 1947 में किए गए GATT समझौते को GATT 1994 के रूप में नया जीवन प्रदान किया गया है। GATT के सभी प्रमुख प्रावधानों को इस नए समझौते में शामिल कर लिया गया है।

2) व्यापार-सम्बन्धित निवेश उपाय **Terms Trade Related Investment Measures)**– इस समझौते के अन्तर्गत विदेशी निवेश अथवा विदेशी अंश-पूँजी के स्वामित्व पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। GATT के प्रतिकूल TRIMS से सम्बन्धित नियमों को एक बद्ध समय-सारणी के अनुरूप समाप्त करना होगा।

3) सूती वस्त्र एवं कपड़े पर किए गए अनुबन्ध के अन्तर्गत बहुदेशा समझौता (Multi Fire Agreement) दस वर्षों में समाप्त कर दिया जाएगा। MFA के अन्तर्गत विकसित देश विकासशील देशों के निर्यातों पर परिमाणात्मक नियंत्रण लगाते रहे हैं। इन नियंत्रणों के समाप्त होने से विकास शील देश लाभांवित होंगे।

ख) **सेवाओं में व्यापार (Trade in Services)**

सेवाओं में व्यापार के बारे में पहली बार कोई बहुपक्षीय अनुबन्ध सम्भव हो पाया है। इसे General Agreement on Trade in Services–GATS के नाम से जाना जाता है। इस समझौते में बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को अपनाया गया है जिसके अनुसार सेवाक्षेत्र में विदेशी कम्पनियों एवं घरेलू कम्पनियों में कोई भेद नहीं किया जाएगा।

ग) **अन्य विषय (Other Issues)**

सिंगापुर में दिसम्बर 1996 में सम्पन्न WTO की बैठक में Information Technology Agreement पर हस्ताक्षर किए गए। इसके अन्तर्गत सदस्य देश कम्प्यूटर-सम्बन्धित सभी उत्पादों के व्यापार पर लगे टेरिफों को समाप्त करने के लिए एकबद्ध हैं इसके अलावा, WTO के अन्तर्गत (i) श्रम-मानक, (ii) पर्यावरण सम्बन्धी नीतियों आदि विषयों पर सरकारी तत्वाधान में विचार-विमर्श हो रहा है। इन सभी विषयों को उरूगुए राउण्ड(Urugway round) में उठाया गया था लेकिन अभी तक आम सहमति नहीं हो पायी है।

15.5.3 मूल्यांकन (Evaluation)

WTO और GATT की यदि तुलना की जाए तो हम पाते हैं कि निम्न दृष्टियों से GATT की तुलना में WTO भिन्न और उसका सुधरा हुआ रूप है:

i) WTO की विश्वव्यापी सदस्यता प्राप्त है।

ii) बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली में WTO प्रावधान किया गया है।

iii) आपसी मतभेदों को दूर करने में GATT बहुत लम्बा समय लेता था। WTO के अन्तर्गत जो प्रावधान किए गए है उनके अनुसार यह काम सरल और तेज हो जाएंगे।

iv) GATT में विकसित देशों का दबदबा था जबकि WTO की कार्य प्रणाली में एक-राष्ट्र-एक-वोट क सिद्धांत अपनाया गया है। इसके परिणामस्वरूप सभी राष्ट्रों को समान अधिकार प्राप्त है।

WTO से यह अपेक्षा रखना उचित ही है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बिना किसी बनावटी रोक-टोक के प्रवाहित हो सकेगा। साथ ही, यह अपेक्षा भी बन पाती है कि व्यापार से उत्पन्न जो विवाद होंगे यह संगठन उनके निपटाने में उत्साह दिखाएगा। परिणामस्वरूप, व्यापार की मात्रा एवं मूल्य में तेज़ी से बढ़ोतरी होगी। उपलब्ध अनुमानों के अनुसार इन सभी कारणों से विश्व व्यापार की मात्रा में प्रत्येक वर्ष 200 बिलियन की वृद्धि हो जानी चाहिए। इस वृद्धि का लगभग एक-तिहाई भाग विकासशील देशों के हिस्से आने की अपेक्षा की जा रही है। विकासशील देशों के समूह में भी भारत जैसे वे देश अधिक लाभांवित होंगे जिन्होंने हाल ही में आर्थिक सुधार तथा विदेशी पूँजी के प्रति उदारीकरण की नीति अपनायी है।

बोध प्रश्न ग

1) GATT क्या है?

.....

.....

.....

2) WTO के कार्यों के संक्षेप में बताएँ

.....

.....

.....

3) WTO किस प्रकार GATT से भिन्न हैं?

.....

.....

.....

4) निम्न कथन सही हैं या गलत हैं।

i) GATT के अनुसार घरेलू उद्योगों को परिमाणात्मक प्रतिबन्धों द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिए।

ii) GATT विकसित देशों के पक्ष में था।

iii) सदस्यों में परस्पर झगड़ों को निपटाने के लिए WTO में अनेक प्रावधान किए गए हैं।

iv) GATT में जिस निर्णय-प्रक्रिया का प्रावधान किया गया था WTO में इसे समाप्त कर दिया गया है।

v) GATS पहले बहुपक्षीय अनुबन्ध है जिसका उद्देश्य सेवाओं के व्यापार को निरन्तर उदारीकृत करना है।

vi) बहुपक्षीय व्यापारिक प्रणाली में WTO द्वारा व्यापारिक क्रियाओं का प्रावधान किया गया है।

15.6 सारांश

इस बात में आम सहमति है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में विदेशी व्यापार का अमूल्य योगदान होता है। विभिन्न देशों में वस्तुओं के प्रवाह में अद्वितीय वृद्धि के कारण यह आवश्यक समझा जा रहा है कि निर्बाध व्यापार के मार्ग में आने वाली अड़चनों को दूर किया जाए। इस वास्ते द्विपक्षीय और बहु-पक्षीय अनुबन्धों पर हस्ताक्षर किए गए हैं। इन अनुबन्धों का प्रमुख उद्देश्य प्रत्येक देश के हितों की रक्षा करना रहा है। इसी सन्दर्भ में पहले GATT और अब WTO की व्यवस्था की गई है जोकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था के प्रतीक हैं।

15.7 शब्दावली

द्विपक्षीय व्यापार सम्बन्ध : दोनों देशों में परस्पर व्यापार

बहुपक्षीय व्यापार सम्बन्ध : अनेक देशों में आपसी व्यापार

कॉऊंटर व्यापार : दोनों देशों में वस्तुओं का लेन-देन

निर्बाध व्यापार : व्यापार की वह प्रणाली जिसमें व्यापार पर किसी तरह की अड़चने नहीं डाली जाती

संरक्षण : विदेशों से वस्तुओं के प्रवाह पर लगाई जाने वाली अड़चने

टेरिफ : दूसरे देशों से किए जाने वाले आयात पर लगाए गए सीमा-शुल्क

गैर-टेरिफ अड़चने : विदेशों से वस्तुओं के प्रवाह पर लगाए गए प्रतिबन्ध

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर (Answers to check your progress)

ख) i) विशिष्टीकरण, ii) अतिरेक, iii) टेरिफ, iv) स्थानापन्न, v) गैर-टेरिफ

ग) i) गलत, ii) सही, iii) सही, iv) गलत, v) सही, vi) सही

15.9 स्व-परख प्रश्न

1) द्विपक्षीय व्यापार सम्बन्धों की अवधारणा की व्याख्या कीजिए, द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार सम्बन्धों में भेद कीजिए।
2) मुक्त व्यापार के गुण व अवगुण बताएँ।
3) टेरिफ एवं गैर-टेरिफ अड़चनों की व्याख्या कीजिए।
4) GATT के क्या उद्देश्य हैं? GATT की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
5) WTO के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
6) WTO किन अर्थों में GATT से भिन्न और सुधरा हुआ है?

नोट : ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए है।

इकाई 16 नई आर्थिक नीति (New Economic Policy)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 नई आर्थिक नीति की आवश्यकता
16.3 नई आर्थिक नीति का स्वरूप और क्षेत्र
  16.3.1 उदारीकरण
  16.3.2 सार्वजनिक क्षेत्र का सुधार
  16.3.3 निजीकरण
  16.3.4 विश्वव्यापीकरण
16.4 नई आर्थिक नीति के कार्यान्वयन की प्रगति और उससे संबंधित समस्याएं
16.5 नई आर्थिक नीति का मूल्यांकन
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
16.9 स्वपरख प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- नई आर्थिक नीति (NEP) की आवश्यकता को स्पष्ट कर सकें
- नई आर्थिक नीति के स्वरूप और क्षेत्र का वर्णन कर सकें
- नई आर्थिक नीति के कार्यान्वयन में प्रगति और उससे संबंधित समस्याओं के संबंध में बता सकें
- नई आर्थिक नीति का मूल्यांकन कर सकें।

16.1 प्रस्तावना

सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करने की पहले की नीतियों ने सार्वजनिक क्षेत्र को अकुशल बना दिया था तथा इस क्षेत्र में बहुत अधिक हानि हो रही थी। लाइसेंस और नियंत्रण प्रणाली ने निजी क्षेत्र द्वारा निवेश पर रोक लगा दिया तथा इसके कारण विदेशीय निवेशक भी हतोत्साहित हो रहे थे। अत: विकास के पहले तीन दशकों में अपनाई गई आर्थिक नीतियों के संबंध में फिर से विचार करने की आवश्यकता थी। इसी के फलस्वरूप सरकार ने नई आर्थिक नीति की शुरूआत की। इस इकाई में आप नई आर्थिक नीति के स्वरूप और उसके क्षेत्र के संबंध में पढ़ेंगे। नई आर्थिक नीति के कार्यान्वयन की प्रगति और समस्याओं के संबंध में अध्ययन किया जाएगा तथा इस नीति का विश्लेषण किया जाएगा।

16.2 नई आर्थिक नीति की आवश्यकता (Need for New Economic Policy)

स्वर्गीय प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में शुरू की गई आर्थिक नीति में निम्नलिखित का प्रावधान था: i) भारी और मूल उद्योगों की स्थापना में सार्वजनिक क्षेत्र की मुख्य भुमिका, ii) जल विद्युत शक्ति प्रायोजनाओं, बांधों, सड़कों ओर संचार के निर्माण में सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से सरकार की भूमिका का विस्तार, तथा iii) स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों, तकनीकी और इंजीनियरी संस्थानों के रूप में सामाजिक आधारिक संरचनाओं के विकास में तथा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों, अस्पतालों एवं डाक्टरों, नर्सों आदि को प्रशिक्षित करने के लिए चिकित्सा संस्थाओं की स्थापना में [illegible] भूमिका।

यद्यपि अर्थव्यवस्था का शेष भाग निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया था, फिर भी इस भाग में विनियमन और नियंत्रण की प्रणाली भी लागू की गई थी। इसके फलस्वरूप लाइसेंस परमिट राज की शुरूआत हुई। नौकरशाही एवं राजनीतिज्ञ लाइसेंस प्रणाली का दुरुपयोग करके धन कमाने लगे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्य के नेतृत्व में आर्थिक विकास को बढ़ाना देने के फलस्वरूप भारी और मूल उद्योगों के रूप में औद्योगिक आधार कर निर्माण हुआ। इसकी सहायता से सड़कों, रेलवे, संचार और जल-विद्युत कार्यों, और थर्मल पावर प्लांटों का निर्माण हुआ तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं का प्रसार हुआ। साथ ही साथ कुछ समस्याएं भी सामने आईं। ये समस्याएं निम्नलिखित थीं :

1) अत्यधिक नियंत्रणों और लाइसेंस-नीति के कारण निजी क्षेत्र में निवेश के संबंध में बाधाएं उत्पन्न हुई।

2) सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश तो बहुत बड़ी मात्रा में हो रहा था परन्तु उनसे आय बहुत ही कम होती थी। अकुशलता एवं नौकरशाही के नियमों के कारण सार्वजनिक क्षेत्र की हालत खराब हो रही थी।

3) जो क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित थे उन सभी में इस क्षेत्र का एकाधिकार था। इन क्षेत्रों में निजी क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र के साथ प्रतियोगिता करने का अधिकार नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ सार्वजनिक क्षेत्र ने अपनी लागतों को कम करने की ओर ध्यान नहीं दिया।

4) एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) अधिनियम 1970 के कारण बड़े-बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठान बड़ी प्रयोजनाओं में बड़ी मात्रा में निजी निवेश के रूप में धन नहीं लगा सके।

5) लाइसेंस आदि से संबंधित जटिल नियमों-विनियमों के होने से विदेशीय निवेशकर्ता भी हतोत्साहित हो गए।

उपर्युक्त कारणों से आर्थिक नीति में परिवर्तन की आवश्यकता हुई, जिससे एक ओर तो सार्वजनिक क्षेत्र का सुधार हो सके और दूसरी ओर प्रतिबंधित क्षेत्रों को निजी क्षेत्र (भारतीय और विदेशी दोनों ही) के प्रवेश के लिए खोला जा सके। संवृद्धि और कुशलता में सुधार लाने के लिएं विकास के प्रथम तीन दशकों में अपनाई गई आर्थिक नीति के संबंध में पुन: विचार करने के आवश्यकता थी।

बोध प्रश्न क

1. विकास के प्रथम तीन दशकों में अपनाई गई आर्थिक नीति के तीन प्रमुख तत्वों को सूचीबद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2. 1950-51 से 1984-85 की अवधि में अपनाई गई आर्थिक नीतियों से उत्पन्न हुई प्रमुख समस्याओं के संबंध में संक्षेप में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

16.3 नई आर्थिक नीति का स्वरूप और क्षेत्र (Nature and Scope of New Economic Policy)

नई आर्थिक नीति (NEP) के फलस्वरूप निजी क्षेत्रक का प्रवेश उन क्षेत्रों में भी हो गया है जो अब तक केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित थे। इसका यह भी अर्थ होता है कि लाइसेंस और नियंत्रण प्रणाली को समाप्त करके निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित किया जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में हानि उठाने वाली इकाइयों के संबंध में इस बात की आवश्यकता भी कि इन इकाइयों के कार्यों का सुधार किया जाए या उन्हें बन्द कर दिया जाए या उनका स्वामित्व निजी क्षेत्र के हाथ में दे दिया जाए। प्रौद्योगिकी के सुधार के लिए आवश्यक था कि उनमें विदेशी निवेश को लाया जाए। NEP के चलते निम्नलिखित चार प्रकार के परिवर्तनों की आवश्यकता हुई।

i) उदारीकरण

ii) सार्वजनिक क्षेत्र का सुधार

iii) निजीकरण

iv) विश्वव्यापीकरण

इस प्रकार नई आर्थिक नीतियों के क्षेत्र का निर्धारण, परिवर्तन की उपर्युक्त चार प्रक्रियाओं के द्वारा होता है। इस परिवर्तन का लक्ष्य है बाजार तंत्र को उपयोग में लाकर सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र में संवृद्धि में रुकावटों को हटाना तथा कार्यकुशलता को बढ़ाना।

स्वर्गीय प्रधान मंत्री राजीव गांधी ने 1985 में NEP का सूत्रपात किया। प्रधान मंत्री के रूप में प्रथम बार राष्ट्र को प्रसारण में उन्होंने कहा कि "सार्वजनिक क्षेत्र का प्रवेश ऐसे अनेक क्षेत्रों में हो गया है जहां उसे नहीं होना चाहिए। अर्थव्यवस्था के ऐसे अनेक क्षेत्र निजी क्षेत्र के लिए खोल दिए जाएंगे जिनमें उन पर अभी तक प्रतिबंध है।" इसके फलस्वरूप नियंत्रणों को हटाने एवं अनेक क्षेत्रों को निजी क्षेत्र के लिए खोलने के संबंध में अनेक उपायों की घोषणा की गई। सरकार द्वारा किए गए उपायों में से कुछ निम्नलिखित हैं:

i) सीमेंट पर से नियंत्रण हटा लिया गया तथा सीमेंट के उत्पादन को बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र को अनेक लाइसेंस दिए गए।

ii) चीनी उद्योग को सहायता देने के लिए चीनी के मुक्त विक्रय (free sale) का अंश बढ़ा दिया गया।

iii) 94 ड्रगों पर ये लाइसेंस हटा दिया गया और 27 उद्योगों को MRTP अधिनियम के क्षेत्र से बाहर कर दिया गया।

iv) बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों की उच्चतम परिसंपत्ति सीमा को बढ़ाकर 20 करोड़ रुपये से 100 रुपये कर दिया गया।

v) इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग को MRTP अधिनियम से बाहर कर दिया गया तथा विदेशी फर्मों के प्रवेश का स्वागत किया गया।

लेकिन श्री राजीव गांधी ने निजीकरण और विश्वव्यापीकरण के अर्थ में आर्थिक सुधार की प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ाया। 1991 में श्री नरसिंह राव के प्रधानमंत्री बनने के बाद पहले की आर्थिक नीति से हटकर कार्य होना शुरू हुआ। अब उन प्रमुख मुद्दों पर विचार किया जाएगा जो NEP के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। ये हैं उदारीकरण, सार्वजनिक क्षेत्र का सुधार, निजीकरण और विश्वव्यापीकरण।

16.3.1 उदारीकरण (Liberalisation)

उदारीकरण का मुख्य उद्देश्य उद्यमों की स्थापना संबंधी बाधाओं को हटाया था। विकास के प्रथम तीन दशकों में देश में लाइसेंस-परमिट राज का बोलबाला रहा था जिसका अर्थ था कि नौकरशाही की अनुमति के बिना किसी उद्यम की स्थापना नहीं की जा सकती थी।

इसी प्रकार कोई बड़ा व्यावसायिक प्रतिष्ठान यदि कोई नया उद्यम स्थापित करना चाहता था तो उसे इस संबंध में आवेदन MRTP आयोग को भेजना होता था। MRTP अधिनियम के अंतर्गत यदि किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान की परिसंपत्ति निर्धारित 100 करोड़ रु. से अधिक होती तो उसका आवेदन अस्वीकृत हो जाता था। इसके फलस्वरूप बड़े व्यावसायिक प्रतिष्ठान भारी उद्योगों की आधारिक संरचनाओं (infra-structure) की प्रायोजनाओं में बड़ी मात्रा में निवेश नहीं कर पाते थे। अत: इस संबंध में पुन: विचार करने की आवश्यकता थी। इसीलिए सरकार ने सोचा कि 100 करोड़ रु. की इस उच्च सीमा को समाप्त कर देना उचित होगा जिससे भारी उद्योग, आधारिक संरचना और पेट्रोकेमिकल जैसे मूल क्षेत्र में निजी क्षेत्र बड़ी प्रायोजनाएं स्थापित कर सकें। उदारीकरण के इस नये वातावरण में उच्चतम सीमा को रखने का कोई अर्थ नहीं था।

उद्योग नीति 1991 ने 18 उद्योगों की एक छोटी सी सूची को छोड़ कर सभी प्रायोजनाओं के लिए औद्योगिक लाइसेंस को समाप्त कर दिया। तीन प्रमुख मदों को भी आरक्षित मदों की सूची से हटा दिया गया। ये तीन मदें थी - मोटर कार, श्वेत वस्तुएं (जिनके अंतर्गत आते हैं रेफ्रिजरेटर, वाशिंग मशीन, एयरकंडिशनर, माइक्रोवेव ओवेन, आदि), तथा रॉ हाइड, स्किन एवं पेटेन्ट लेदर। इस देश के मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या बढ़कर 10 से 12 करोड़ तक हो जाने के फलस्वरूप भारत में मोटर कार एवं अन्य श्वेत वस्तुओं की मांग बढ़ती जा रही है। श्वेत वस्तुओं को अब विलास की वस्तुएं नहीं माना जाता बल्कि गृह कार्यों के बोझ को कम करने के लिए इन्हें आवश्यक समझा जाता है। मध्यम वर्ग मोटर गाड़ी को प्रतिष्ठा का प्रतीक (status symbol) मानने लगा है। इस मांग को पूरा करने के लिए सरकार ने इन वस्तुओं में लाइसेंस को समाप्त करने का निर्णय लिया। इसी प्रकार रॉ हाइड, स्किन एवं पेटेन्ट लेदर को भी लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया, क्योंकि इनका उपयोग जूतों को बनाने में किया जाता है जिनका निर्यात किया जाता है। नई इकाइयों को स्थापित करने एवं वर्तमान इकाइयों का विस्तार करने की दृष्टि से सरकार ने इस क्षेत्र से लाइसेंस को समाप्त करने का निर्णय लिया।

16.3.2 सार्वजनिक क्षेत्र का सुधार (Reforms of the Public Sector)

सार्वजनिक क्षेत्र के सुधार में अनेक प्रकार के उपाय किए गए हैं। इनमें से कुछ प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं:

i) सार्वजनिक क्षेत्र के क्षेत्र को सामरिक और हाई टेक के उद्योगों एवं आवश्यक आधारिक संरचनाओं तक सीमित रखा जाएगा। अब तक जो क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित रखे गए थे उनमें से कुछ को निजी क्षेत्र के लिए मुक्त कर दिया जाएगा।

ii) सार्वजनिक क्षेत्र के जो उद्यम दीर्घकाल से रोगग्रस्त हैं, उनके संबंध में बोर्ड फार इन्डस्ट्रियल एंड फाइनेन्सियल रिकंस्ट्रक्शन (BIFR) की सलाह ली जाएगी। यह बोर्ड यदि उन्हें आजीवनक्षम (non-viable) घोषित कर देता है तो उनका समापन कर दिया जाएगा। लेकिन यदि बोर्ड की राय है कि उनको पुन: जीवित करने की संभावना है तब उनके पुनर्जीवन/पुनर्वास की योजना को कार्यान्वित किया जाएगा। इस प्रक्रिया में जिन श्रमिकों को काम से हटाया जाएगा उन्हें सामाजिक सुरक्षा तंत्र (Social Security Mechanism) के अधीन सहायता दी जाएगी।

iii) श्रमिकों की कार्यकुशलता को बढ़ाने एवं कार्य के साथ उनके हित को जोड़ने के लिए उद्यम के शेयरों का एक भाग श्रमिकों को दिया जाएगा।

iv) सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों के लिए संसाधनों को जुटाने की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबंध को अनुमति दी जाएगी कि वे म्युचुअल फंडों और अन्य वित्तीय संस्थाओं को अपने स्वामित्व का एक भाग देकर उनसे धन ले सकते हैं।

v) सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबंध को अधिक पेशेवर बनाया जाएगा तथा निर्णय लेने के संबंध में उन्हें अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाएगी।

vi) सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयां सरकार के साथ मेमोरेंडम ऑफ अंडरस्टैंडिंग (MoU) पर हस्ताक्षर करेंगी जिससे कि एक ओर तो वह स्वायत्त हो सकें और दूसरी ओर उत्तरदायी हो जाएं।

16.3.3 निजीकरण (Privatisation)

निजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र के स्वामित्व का हस्तांतरण निजी क्षेत्र को हो जाता है। जब स्वामित्व के 100 प्रतिशत का हस्तांतरण किया जाता है तब उसे विराष्ट्रीयकरण (denationalization) कहा जाता है। जब 100 प्रतिशत से कम या 50 प्रतिशत से अधिक स्वामित्व का हस्तांतरण किया जाता है तब ये आंशिक निजीकरण की स्थिति होती है जिसमें शेयरों पर निजी क्षेत्र का बहुमत स्वामित्व होता है।

जब 50 प्रतिशत से कम लेकिन 24 प्रतिशत से अधिक स्वामित्व का हस्तांतरण किया जाता है तब यह आंशिक निजीकरण की स्थिति होती है, लेकिन सरकार बहुमत स्वामी (majority owner) होती है तथा नियमों के अनुसार उस उद्यम का स्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम का होता है।

जब बजट घाटे को पूरा करने के लिए सरकार अपने शेयरों के 5 से 10 प्रतिशत का विनिवेश (disinvest) कर देती है तब उसे घाटा निजीकरण (deficit privatisation) कहा जाता है। इसे प्रतीकात्मक निजीकरण (taken privatisation) भी कहा जाता है क्योंकि इस स्थिति में निजी क्षेत्र को बहुत अधिक शेयरों का हस्तांतरण नहीं किया जाता।

निजीकरण के जिन विभिन्न रूपों की चर्चा ऊपर की गई है उनका संबंध पूर्णत: या आंशिक रूप में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के स्वामित्व के हस्तांतरण के साथ होता है। इसे निजीकरण का संकीर्ण दृष्टिकोण माना जाता है। लेकिन व्यापक अर्थ में निजीकरण का अर्थ होता है कि अब तक जिन क्षेत्रों को सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित रखा गया है उनमें से अधिकाधिक का निजी क्षेत्र के अधिकार में चले जाना। ऐसी नीति यदि एक दशक या उससे अधिक समय तक अपनाई जाती है तब इसके फलस्वरूप अंतत: अर्थव्यवस्था के कुल निवेश में निजी क्षेत्र का भाग बढ़ जाएगा। इस व्यापक अर्थ में अर्थव्यवस्था के निजीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप दीर्घकाल में निजी क्षेत्र का अंश बढ़ता जाएगा तथा सार्वजनिक क्षेत्र का अंश घटता जाएगा क्योंकि, इसके कार्यक्षेत्र में कमी होती जाएगी।

16.3.4 विश्वव्यापीकरण (Globalisation)

विश्वव्यापीकरण शब्द का अर्थ होता है शेष विश्व के लिए अर्थव्यवस्था को खोलने की प्रक्रिया जिससे वस्तुओं एवं सेवाओं, प्रौद्योगिकी और निवेश का मुक्त रूप से प्रवाह हो सके। विश्वव्यापीकरण का मुख्य उद्देश्य है शेष विश्व के साथ भारत की अर्थव्यवस्था का एकीकरण करना। इसके चार घटक होते हैं।

i) व्यापार रोधों (trade barriers) को घटाना जिससे वस्तुओं और सेवाओं का देश की सीमाओं से मुक्त रूप से प्रवाह हो सके;

ii) ऐसे पर्यावरण का निर्माण करना जिसमें पूंजी का मुक्त रूप से प्रवाह हो सके;

iii) ऐसे पर्यावरण का निर्माण करना जिसमें प्रौद्योगिकी का मुक्त रूप से प्रवाह हो सके; और

iv) ऐसे पर्यावरण का निर्माण जिसमें विभिन्न देशों के बीच श्रम का मुक्त रूप से प्रवाह हो सके।

विश्वव्यापीकरण के समर्थक, विशेषत: विकसित देशों के लोग, विश्वव्यापीकरण की परिभाषा केवल तीन घटकों तक ही सीमित रखते हैं। ये घटक हैं मुक्त व्यापार प्रवाह, मुक्त पूंजी प्रवाह तथा मुक्त प्रौद्योगिकी प्रवाह। लेकिन विकासोन्मुख देशों के अर्थशास्त्री चौथे घटक अर्थात् श्रम के मुक्त प्रवाह को भी इसमें शामिल करना चाहते हैं। लेकिन विकसित देशों का कहना है कि श्रम के मुक्त प्रवाह होने से विकासोन्मुख देशों से बहुत बड़ी मात्रा में श्रमिकों का प्रवाह उनके यहां होने लगेगा, जिसकी व्यवस्था वे नहीं कर पाएंगे। यदि श्रम के मुक्त प्रवाह की अनुमति दी जाती है तो विकसित देशों की मजदूरी की दर कम हो जाएगी क्योंकि विकासोन्मुख देशों से आए हुए उन्हीं के समान कुशल श्रमिक कम मजदूरी पर ही काम करने को तैयार हो जाएंगे। इसके फलस्वरूप विकसित देशों के श्रमिकों का जीवन स्तर गिर जाएगा। इसी डर से

विकसित देश श्रम के मुक्त प्रवाह का विरोध करते हैं। वे इस संबंध में चयनात्मक विधि अपनाना चाहते हैं। लेकिन इस संबंध में विकासोन्मुख देशों की दलील है कि उनके यहां के अत्यंत कुशल श्रमिकों को बहुत अधिक मजदूरी देकर विकसित देश **प्रतिभा के पलायन (brain drain)** को प्रोत्साहित कर रहे हैं और इस प्रकार वे इन देशों के अत्यंत कुशल और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ले जा रहे हैं।

बोध प्रश्न ख

1) उदारीकरण (liberalisation) की नीति के मुख्य तत्व क्या हैं? संक्षेप में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2. निजीकरण (privatisation) क्या है? विभिन्न प्रकार के निजीकरण को सूचिबद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3. किसी एक सार्वजनिक क्षेत्र की इकाई के निजीकरण और समस्त अर्थव्यवस्था के निजीकरण में अंतर दिखाइए।

.....

.....

.....

.....

4. खाली स्थानों को भरिए।

   i) सार्वजनिक क्षेत्र के क्षेत्रों को ....., हाई टैक और आवश्यक आधारिक संरचना (infrastructure) तक सीमित रख जाएगा।

   ii) सार्वजनिक क्षेत्र के जो उद्यम बहुत समय से ..... हैं उनके संबंध में BIFR से सलाह ली जाएगी।

   iii) निजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी सार्वजनिक क्षेत्र की इकाई के ..... का हस्तांतरण निजी क्षेत्र को हो जाता है।

   iv) विश्वव्यापीकरण का मुख्य उद्देश्य शेष विश्व के साथ भारत की अर्थव्यवस्था का ..... करना है।

   v) विकसित देशों के अनुसार विश्वव्यापीकरण की परिभाषा तीन घटकों तक सीमित है। ये घटक हैं ..... , ... और ..... ।

16.4 नई आर्थिक नीति के कार्यान्वयन की प्रगति और उससे संबंधित समस्याएं (Progress and Problems in the Implementation of New Economic Policy)

नई आर्थिक नीति (NEP) को कार्यान्वित करने के संबंध में भारत सरकार ने अनेक कदम उठाए हैं। नीचे इनके संबंध में विस्तार से चर्चा की जा रही है।

1) **अर्थव्यवस्था का उदारीकरण (Liberalisation of the Economy):** 15 उद्योगों को छोड़ कर शेष सभी उद्योगों में लाइसेंस प्रणाली को समाप्त करके भारत सरकार ने नियामक ढांचे को उदार बना दिया है। जो निजी निवेशकर्ता किसी नई इकाई को स्थापित करना चाहते हैं; या वर्तमान क्षमता को बढ़ाने की योजना को कार्यान्वित करना चाहते हैं या वर्तमान उद्योग में ही किसी नई वस्तु का उत्पादन करना चाहते हैं, उन्हें इन सबके संबंध में सरकार से अनुमति प्राप्त करने के लिए अब विभिन्न सरकारी कार्यालयों के अधिकारियों के पास जाना नहीं पड़ेगा। भारत के उद्योगों के महारथियों ने इसका स्वागत किया है।

2) **सार्वजनिक क्षेत्र का सुधार (Reforms of the Public Sector):** यह कार्य व्यवस्थित रूप से किया गया है और इस संबंध में अनेक कदम उठाए गए हैं।

क) सार्वजनिक क्षेत्रों में लगे हुए आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों की संख्या धीरे-धीरे घटाई जा रही है। 1990-91 में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में 22.19 लाख कर्मचारी काम कर रहे थे। इस संख्या को घटाकर 20.41 लाख कर दिया गया है, जिसका अर्थ है कि 1.78 लाख कर्मचारी घटाए गए। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि कर्मचारियों की संख्या में 8 प्रतिशत की कमी हुई।

ख) NEP से प्रभावित कर्मचारियों की सहायता के लिए सरकार ने राष्ट्रीय रिन्यूअल फंड (NRF) की स्थापना की जिसके द्वारा स्वैच्छिक निवृत्ति (voluntary retirement) लेने वाले कर्मचारियों की प्रतिपूर्ति की जा सके। यह भी निर्णय लिया गया कि इन श्रमिकों को प्रशिक्षित किया जाए जिससे कि वे कोई अन्य रोजगार प्राप्त कर सके। NRF के कार्यों की समीक्षा करने से पता चला कि दो वर्षों की अवधि में (1993-94 और 1994-95) स्वैच्छिक निवृत्ति पर 803 करोड़ रु. मुआवजा दिया गया लेकिन श्रमिकों के प्रशिक्षण और पुन: प्रशिक्षण की पूर्णत: उपेक्षा कर दी गई।

ग) मार्च 1995 तक बहुत समय बीमार चल रही 53 सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों (PSUs) के मामले को BIFR को सौंपा गया। BIFR ने 6 इकाइयों को पुन: जीवित करने की योजना की सिफारिश की। सरकार इस संबंध में समुचित कार्यवाही कर रही है। BIFR ने यह भी सिफारिश की कि निम्नलिखित इकाइयों को पुन: जीवित करना संभव नहीं है, अत: इन्हें बन्द करना उचित होगा। ये हैं - नेशनल बाइसिकिल्स कार्पोरेशन ऑफ इंडिया लि०, एलगिन मिल कं० लि० तथा टैनरी एंड फूटवियर कार्पोरेशन लि०। अन्य इकाइयों के संबंध में जांच-पड़ताल चल रही है।

घ) नये आर्थिक सुधारों के वर्तमान वातावरण के होने तथा इस भय के कारण कि अकुशल बने रहने की स्थिति में उन्हें बन्द किया जा सकता है, सार्वजनिक क्षेत्र को जबर्दस्त झटका लगा है और वे अपनी इकाइयों के कार्यों में सुधार लाने का प्रयास कर रहे हैं। इस बात का सबूत यह है कि 1995-96 में सार्वजनिक क्षेत्र में लगाई गई पूंजी के प्रतिशत रूप में सकल लाभ 16.1% तथा निवल लाभ 5.6% हो गया। इसे संतोषजनक प्रगति कहा जा सकता है।

च) सरकार ने 15 से 20 प्रतिशत PSUs का विनिवेश करने का निर्णय लिया है। 1991-92 से 1996-97 की अवधि में इस स्त्रोत से लगभग 12,455 करोड़ रुपया जुटाया गया। इस समस्त रकम का उपयोग केन्द्रीय सरकार के घाटे को पूरा करने के लिए किया गया। जिन PSUs का निजीकरण किया गया है वे अत्यंत स्वस्थ इकाइयां हैं। इस समय PSUs के शेयरों को खरीदने वाले बहुत ही कम ग्राहक मिल रहे हैं। इसी कारण 1996-97 वर्ष में विनिवेश फंड में बहुत कमी आई। उस वर्ष में यह केवल 500 करोड़ रु. ही था।

सरकारी नीति की मुख्य आलोचना यह है कि सरकार केवल घाटा-निजीकरण का सहारा ले रही है। वास्तव में होना तो यह चाहिए कि PSUs के विनिवेशों से प्राप्त धन का उपयोग सरकार PSUs की कमजोर इकाइयों को स्वस्थ बनाने में या PSUs में नई प्रौद्योगिकी लगाकर उनका आधुनिकीकरण करने में करें।

3) **निजीकरण का कार्यक्रम (Programme of Privatisation):** इसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला है। सरकार ने जब भी PSUs का निजीकरण करने की इच्छा जाहिर की है तब श्रमिक संघों की ओर से उसका कड़ा विरोध हुआ है। सरकार ने बैंकों एवं जीवन बीमा निगम का निजीकरण करने का प्रयास किया, लेकिन वह ऐसा नहीं कर सकी। सरकार के उच्च अधिकारी PSUs को अपना उपनिवेश मानते हैं अत: वे इनके निजीकरण के खिलाफ कार्य कर रहे हैं। देश में वर्तमान राजनैतिक अस्थिरता के कारण सरकार निजीकरण की नीति को कार्यान्वित नहीं कर पा रही है अत: वह सार्वजनिक में सुधार लाना ही उचित समझ रही है।

4) **अर्थव्यवस्था का विश्वव्यापीकरण (Globalisation of Economy):** अर्थव्यवस्था का विश्वव्यापीकरण करने के लिए सरकार ने अनेक उपाय किए हैं। ये निम्नलिखित हैं :

i) **आयात शुल्कों में कमी (Reduction of Import Duties):** सरकार ने आयात शुल्क को बहुत ही कम कर दिया है। उदाहरणार्थ, आयात शुल्क की अधिकतम दर को 1991-92 के 150% से 1995-96 तक 50% तक कर दिया गया। उसी प्रकार पूंजीगत पदार्थों के आयात पर सीमाशुल्क को 1991 के 80% से 1995 में 25% कर दिया गया। कच्चे माल और विनिर्मित पदार्थों के आयात पर टैरिफ को बहुत ही कम कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त सरकार ने निर्यात और आयात पर लगाए गए मात्रात्मक प्रतिबंधों को भी हटा दिया है। रुपये के अधिमूल्यन को दूर करने के लिए सरकार ने विनिमय दर का समायोजन करने का भी प्रयास किया है। इससे निर्यात को बढ़ाने में सहायता मिली है। 8 फरवरी 1997 को वाणिज्य मंत्रालय ने 162 पदों के आयात पर से प्रतिबंध हटा लिया। इनमें से 69 मदों को विशेष आयात लाइसेंस (SIL) से मुक्त आयात में ले जाया गया। ये सभी उपाय व्यापार के मुक्त प्रवाह को सहायता देने के लिए किए गए।

सारणी 16.1 : सुधार अवधि के बाद में आयातों और निर्यातों वृद्धि

	करोड़ रु० में			यू० एस० मिलियन डालर में		
	निर्यात	आयात	व्यापार शेष	निर्यात	आयात	व्यापार शेष
1991-92	44,042	47,851	–3,809	17,866	19,411	–1,545
1992-93	53,688	63,375	–9,687	18,537	21,882	–3,345
1993-94	69,751	73,101	–3,350	22,238	23,306	–1,068
1994-95	82,674	89,971	–7,297	26,331	28,654	–2,323
1995-96	106,353	122,678	–16,325	31,797	36,678	–4,881
1996-97(P)	117,525	136,844	–19,319	33,106	38,548	–5,442

(P) अंनतिम के लिए है।

स्त्रोत: रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया बुलेटिन, जुलाई 1997

नई आर्थिक नीति (NEP) के फलस्वरूप निर्यातों में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई है (सारणी 16.1 देखिए)। डायरेक्टर जनरल ऑफ कमर्शियत इंटेलिजेन्स एंड स्टैटिक्सि (DGCIS) द्वारा दिए गए आंकड़ों के अनुसार 1991-92 में भारत से 17,866 मिलियन यू० एस० डालर के माल का निर्यात होता था। 1996-97 तक यह बढ़कर 33,106 मिलियन यू० एस० डालर हो गया। इन पांच वर्षों में यह 85% वृद्धि थी। इसके साथ ही साथ इसी अवधि में भारत के आयातों में 83% की वृद्धि हुई। यानि 1991-92 के 19,411 मिलियन यू० एस० डालर से बढ़कर 1996-97 तक भारत का आयात 38,548 मिलियन यू० एस० डालर हो गया। 1991-92 में भारत का व्यापार शेष घाटा 1,545 मिलियन यू० एस० डालर था जो बढ़कर 1996-97 तक 5,442 मिलियन यू० एस० डालर हो गया। उपर्युक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि निर्यातों के बढ़ने से जो लाभ हुए थे, तेजी से बढ़ते हुए आयातों ने समाप्त कर दिया। इसके फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था पर विदेशी मुद्रा का भार बढ़ गया।

अत: आवश्यक है कि अनुकूल व्यापार शेष की स्थिति को प्राप्त करने के लिए आयात को उदार बनाने के संबंध में सावधानी की नीति अपनाई जाए।

सारणी 16.2 : यू० एस० डालर की तुलना में रुपये की विनिमय दर

	प्रति यू० एस० डालर पर रुपया
1990-91	17.96
1991-92	24.47
1992-93	28.96
1993-94	31.37
1994-95	31.39
1995-96	33.45
1996-97	35.60

ii) **रुपये के बाहरी मूल्य में गिरावट (Fal in external value of rupee):** नई आर्थिक नीति (NEP) के उद्देश्यों में से एक था यू० एस० डालर की तुलना में रुपये के विनिमय दर में स्थायित्व लाना लेकिन जैसा कि सारणी से स्पष्ट है रुपये का आंतरिक मूल्य घटता जा रहा है। 1990-91 में एक डालर 17.96 रु० के बराबर था लेकिन 1996-97 तक यह घटकर 35.60 रु० हो गया। रुपये का मूल्य घटने से अंतर्राष्ट्रीय ऋण का बोझ बढ़ जाता है। इसका दूसरा परिणाम यह होता है कि भारत के प्रति विदेशीय निवशकों का विश्वास घट जाता है। इन दोनों ही कारकों का भारत की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

iii) **नई आर्थिक नीति और भारत का विदेशी मुद्रा रिजर्व (NEP and India's foreign exchange reserves):** विश्वव्यापीकरण के समर्थकों की दलील है कि नई आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा रिजर्व 1990-91 के 2.236 बिलियन यू० एस० डालर से बढ़कर 1994-95 तक 20.81 बिलियन यू० एस० डालर हो गया, लेकिन चालू खाते पर भुगतान संतुलन में तेजी से घाटा हो जाने के कारण यह 1995-96 तक 17.0 बिलियन यू० एस० डालर हो गया। इन रिजर्वों में फिर वृद्धि होने लगी। 1996-97 में यह 22.37 बिलियन यू० एस० डालर हो गया तथा 4 जुलाई 1997 तक यह 25.41 बिलियन यू० एस० डालर हो गया। परंतु इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि किसी भी वर्ष में चालू खाते पर भुगतान संतुलन धनात्मक नहीं था। सदा ही यह ऋणात्मक बना रहा। आलोचकों का कहना है कि विदेशी मुद्रा रिजर्व के संचय का अर्थ यह नहीं होता कि भारत की अर्थव्यवस्था मजबूत हो गई है क्योंकि इसका बहुत बड़ा भाग अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से लिए गए ऋणों का परिणाम होता है। विदेशी मुद्रा रिजर्व को तेजी से बढ़ाने का एक दूसरा कारक पोर्टफोलियो निवेश द्वारा कोष का प्रवाह भी होता है।

iv) **भारत में विदेशी निवेश का प्रवाह (Foreign Investment Flows into India):** NEP का एक बहुत बड़ा योगदान यह है कि इसने विदेशी निवेश के प्रवाह को सरल बना दिया है। विदेशी निवेश का अंत: प्रवाह दो प्रकार का होता है - i) विदेशी प्रत्यक्ष निवेश और ii) पोर्टफोलियो निवेश।

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश दो प्रकार से सहायता करता है। i) वस्तओं और सेवाओं के उत्पादन को बढ़ाने में सहायता तथा ii) जल-विद्युत प्रायोजनाओं, दूरसंचार, एक्सप्रेस हाई वे के निर्माण, विनिर्माण इकाइयों आदि के रूप में आधारिक संरचना के निर्माण में सहायता। इसके विपरीत पोर्टफोलियो निवेश (portfolio investment) ईक्विटी, स्टाकों, बांडों और डिबेंचरों के रूप में वित्तीय निवेश होता है। भारत में यह निवेश विदेशी राष्ट्रीय या विदेशी कंपनियां करती हैं। पोर्टफोलिया निवेशक धन लगाई जा रही कंपनी से अपेक्षित आय की दरों और ऐसे निवेश की जोखिमों के बीच तुलना करता है। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश तो अर्थव्यवस्था की उत्पादक परिसंपत्तियों के निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से सहायक होता है। परन्तु पोर्टफोलियो

निवेश का स्वरूप वित्तीय होता है तथा इसका संबंध केवल आय की दर से होता है। अर्थव्यवस्था की हालत खराब होने की स्थिति में पोर्ट निवेश का समापन किया जा सकता है।

सारणी 16.3 : वर्गों के अनुसार विदेशी निवेश प्रवाह

यू० एस० मिलियन डालर

	प्रत्यक्ष निवेश	पोर्टफोलियो निवेश	कुल
1991-92	150	8	158
1992-93	341	92	433
1993-94	586	3,649	4,235
1994-95	1,314	3,581	4,895
1995-96	2,133	2,214	4,347
Total (1991-96)	4,524	9,544	14,068
	(32.2)	(67.8)	(100.0)

स्त्रोत: भारत सरकार, इकॉनामिक सर्वे (1996-97)

सारणी 16.3 दिखाती है कि 1991-92 और 1995-96 के बीच की पांच वर्षों की अवधि में भारत में कुल 14,068 मिलियन यू० एस० डालर का निवेश हुआ। इसमें से विदेशी प्रत्यक्ष निवेश केवल 4,524 मिलियन डालर (कुल का 32.2%) था तथा पोर्ट फोलियो निवेश 9,544 मिलियन यू० एस० डालर (कुल का 67.8%) था। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश कुल निवेश का केवल एक-तिहाई ही था। आलोचकों की धारणा है कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के अंश में वृद्धि होनी चाहिए क्योंकि पोर्टफोलियो निवेश सट्टे के प्रकार का होता है तथा उत्प्रवाही द्रव्य (hot money) होता है, जिसके फलस्वरूप राजनैतिक अस्थिरता के समय देश से पूंजी का पलायन हो सकता है।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति एवं निवेश के वास्तविक अंत: प्रवाह (inflows) संबंधी आंकड़ों से पता चलता है कि 1991-96 की अवधि में 29.61 बिलियन यू० एस० डालर के निवेश की अनुमति दी गई थी परन्तु वास्तविक निवेश केवल 5.69 बिलियन यू० एस० डालर का ही हुआ, जोकि स्वीकृत रकम का केवल 19% ही था। (सारणी 16.4)

सारणी 16.4: प्रत्यक्ष विदेशी निवेश : वास्तविक अंत: प्रवाह vs अनुमोदन

	अनुमोदन	वास्तविक
1991	325	155
1992	1,781	233
1993	3,559	574
1994	4,332	959
1995	11,245	2,100
1996*	8,367	1,670
कुल(1991-96)	29,609	5,691
सितंबर, 1996 तक		

स्त्रोत: भारत सरकार, इकनॉमिक सर्वे 1996-97

16.5 नई आर्थिक नीति का मूल्यांकन (Assessment of New Economic Policy)

नई आर्थिक नीति (NEP) की सूत्रपात बहुत उत्साह के साथ की गई थी। इसके अनेक लाभ हुए हैं परन्तु अनेक क्षेत्रों में सफलता नहीं हो पाई है। नीचे इस नीति का मूल्यांकन किया जा रहा है।

प्रथम, अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर धीरे-धीरे गिरती जा रही थी तथा 1991-92 तक गिरकर यह GDP के 0.8% हो गई थी। परन्तु NEP के फलस्वरूप संवृद्धि दर में धीरे-धीरे सुधार हुआ और तीन वर्षों (1994-95 से 1996-67 तक) में संवृद्धि दर बढ़कर GDP का 7 प्रतिशत हो गई। संवृद्धि दर की वृद्धि के संबंध में यह रिकार्ड था।

द्वितीय, सार्वजनिक क्षेत्र के इकाइयों (PSUs) को अब NEP के कारण निजीकरण की चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। अपने आस्तित्व को बचाने के लिए वे अपने कार्यों में सुधार लाने का प्रयास कर रहे हैं। 1995-96 वर्ष में केन्द्रीय सरकार के PSUs ने निवेशित पूंजी पर 16.1% की दर से सकल आय अर्जित किया जो एक रिकार्ड दर थी।

तृतीय, थोक कीमतों की मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति को रोकने में NEP सफल रही है। 1991-92 में थोक कीमतों का सूचकांक बढ़कर 13.7 प्रतिशत (1981-82 कीमतों पर) हो गया था। लेकिन वह गिरकर 1995-96 और 1996-97 में क्रमश: 4.4% और 7.6% हो गया।

चौथा, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक से पता चलता है कि इस क्षेत्र में समग्र संवृद्धि दर 1991-92 के 0.6% से बढ़कर 1995-96 में 11.8% हो गई, हालांकि 1996-97 में यह दर गिरकर 6.6% हो गई।

पांचवा, निर्यात की वृद्धि दर 1992-93 में 3.8% (यू० एस० डालर में मापित) थी। 1995-96 तक यह दर बढ़कर 20.8% हो गई। लेकिन वर्ष 1996-97 वर्ष में यह दर फिर घट कर 4.1% हो गई। उसी प्रकार आयात में वृद्धि दर 1992-93 के 12.7% से बढ़कर 1995-96 में 28.6% हो गई थी लेकिन बाद में इसमें कमी हुई और 1996-97 में यह 5.1% हो गई।

अंतत:, विदेशी मुद्रा रिजर्व 1990-91 तक गिरकर 2.24 बिलियन यू० एस० डालर हो गया था। 4 जुलाई, 1997 तक यह बढ़कर 25.4 बिलियन डालर हो गया। इससे अंतर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी है।

NEP के अंतर्गत उदारीकरण, निजीकरण, विश्वव्यापीकरण तथा सार्वजनिक क्षेत्रों के सुधार के कार्यक्रम आते हैं। यह नीति अल्पकालिक उद्देश्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित करती रही है जैसे वे भुगतान-संतुलन की बिगड़ती हुई स्थिति पर नियंत्रण, विदेशी मुद्रा रिजर्व का निर्माण, राजकोषीय घाटे को कम करना तथा मुद्रास्फीति पर नियंत्रण। लेकिन यह नीति गरीबी को कम करने, पूर्ण रोजगार की स्थिति को लाने, स्वावलंबन, असमानता को दूर करने, अवसर की स्थापना का प्रावधान करने तथा सामाजिक न्याय स्थापित करने के दीर्घकालिक लक्ष्यों की ओर ध्यान नहीं दे पाई है। मुद्रास्फीति पर नियंत्रण और निजीकरण जैसे कुछ अल्पकालिक लक्ष्यों के संबंध में भी इस नीति को केवल आंशिक सफलता ही मिल पाई है।

NEP को जिन प्रमुख क्षेत्रों की ओर पुन: ध्यान देना चाहिए वे निम्नलिखित हैं:-

i) इसका कार्यक्षेत्र सीमित रहा है। मुख्यत: इसने अपना ध्यान बड़े कंपनी क्षेत्रों पर ही केन्द्रित किया है। इसके फलस्वरूप छोटे पैमाने के क्षेत्र और कृषि की उपेक्षा हुई है, जोकि रोजगार के मुख्य स्त्रोत हैं। अत: आवश्यक है कि समग्र आर्थिक संवृद्धि को बढ़ाने तथा दीर्घकालिक दृष्टि से इसे और सकल करने के लिए छोटे पैमाने के क्षेत्र और कृषि क्षेत्र को मजबूत बनाया जाए।

ii) निजीकरण के क्षेत्र में मजदूर संघों की ओर से विरोध के कारण NEP कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर पाई है। अत: उसने प्रतीकात्मक निजीकरण का मार्ग अपनाया है। यह कार्य अत्यंत स्वस्थ सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के विनिवेश की प्रक्रिया द्वारा किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त

विनिवेश से जो आय होती है उसका उपयोग अब तक केन्द्रीय सरकार के घाटे को पूरा करने के लिए किया जाता है। ऐसा करना उचित नहीं है।

iii) थोक कीमत सूचकांक में वृद्धि दर को तो NEP नियंत्रित कर पाई है परन्तु वह उद्योगों मे कार्य करने वाले श्रमिकों या कृषि मजदूरों के उपभोक्ता कीमत सूचकांक में होती हुई वृद्धि को नहीं रोक पाई है। 1991-92 से 1996-97 के बीच की अवधि में उपभोक्ता कीमत सूचकांक में औसत वृद्धि 10 प्रतिशत प्रतिवर्ष हुई। इसमें आम जनता का कल्याण निहित है।

iv) NEP दीर्घकालिक आधार पर राजकोषीय घाटे में कमी नहीं कर पाई है। गैर-योजना गत व्ययों पर नियंत्रण रखने में यह असफल रही है, लेकिन राजकोषीय घाटे में कमी को दिखाने के लिए इसने योजनागत व्ययों (plan expenditure) में कटौती कर दी है। पांचवे वेतन आयोग की रिपोर्ट को कार्यन्वित करने के बादं गैर-योजनागत व्ययों (non-plan expenditure) का बहुत अधिक हो जाने की संभावना है परन्तु स्वेच्छा से आय प्रकट करने की योजना (voluntary disclosure of income scheme) द्वारा सरकार की आय बढ़ने की संभावना कम ही है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि NEP ने सम्पन्न वर्ग के लोगों पर की की अधिकतम दर को घटाकर 30% करके उन्हें काफी रियायत दी है लेकिन कर छिपाने वालों को वह अपनी आय प्रकट करने के लिए प्रेरित नहीं कर पाई है।

v) आधारिक संरचनाओं के निर्माण के लिए NEP विदेशीय निजी क्षेत्रक पर अधिक निर्भर रही है, लेकिन इस संबंध में यह असफल रही। उदाहरणार्थ पिछले पांच वर्षों में विदेशी फर्में इस देश की बिजली की पूर्ति में एक भी किलोवाट की वृद्धि नहीं कर पाई है। आठवीं योजना में बिजली के उत्पादन क्षमता में 30,538 MW वृद्धि करने का लक्ष्य था लेकिन वास्तव में 16,243 MW की ही वृद्धि हो पाई जो कि निर्धारित लक्ष्य से 46% कम था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि NEP के आधार को अधिक व्यापक बनाने के लिए इसे पुन: दिशा देने की आवश्यक्ता है जिससे इसमें कृषि और छोटे पैमाने के उद्योगों को भी शामिल किया जा सके। देश के निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र को बराबरी का दर्जा दिया दिया जाना चाहिए, जिससे ये बिजली, दूरसंचार, सड़क आदि के क्षेत्रों में आधारिक संरचना के निर्माण में योगदान कर सकें। इसी के महत्व को ध्यान में रखते हुए पूर्व प्रधान मंत्री श्री गुजराल ने कंफडरेशन ऑफ इंडियन इंडस्ट्री (CII) के सम्मेलन को 16 अगस्त 1997 को संबोधित करते हुए कहा था कि "11 वीं सदी के पूंजीवाद के वे दिन समाप्त हो गए जब कोई भी विदेशी इस देश में आकर आय पर हावी हो सकता था। विदेशियों का हम स्वागत तो करते हैं परन्तु उन्हें इस बात की अनुमति नहीं दी जाएगी कि वे इस देश की कंपनियों को नष्ट कर दें या उन्हें अपने अधिकार में ले लें। उन्हें केवल उन्हीं क्षेत्रों में निवेश करने की अनुमति दी जाएगी, जिनमें हमें उनके सहयोग की आवश्यकता है। भारत के उद्योगों को सभी प्रकार का संरक्षण प्राप्त होगा तथा अनुचित प्रतियोगिता से उनकी रक्षा की जाएगी।

बोध प्रश्न ग

1) नई आर्थिक नीति (NEP) की पांच प्रमुख उपलब्धियां बताइए।

.....

.....

.....

.....

2. NEP की कमजोरी के पांच क्षेत्रों को सूचीबद्ध कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत हैं।

i) निजीकरण के कार्यक्रम के कोई ठोस परिणाम नही हुए हैं।

ii) आयातों में तेजी से हुई वृद्धि ने निर्यात में हुई वृद्धि के प्रभाव को समाप्त कर दिया है।

iii) 1994-95 वर्ष में प्रति यू. एस. डालर रुपये का आंतरिक मूल्य 31.37 रुपया था।

iv) औद्योगिक उत्पादन के सूचकाक से पता चलता है कि NEP के फलस्वरूप 1991-92 के 0.6% से 1995-96 में 11.8% की समग्र वृद्धि हुई।

v) NEP अपना ध्यान दीर्घकालीन लक्ष्यों पर केन्द्रित करती रही है।

16.6 सारांश

विकास के प्रथम तीन दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की नीतियों तथा लाइसेंस और नियंत्रण की प्रणाली के फलस्वरूप निजी क्षेत्रक द्वारा निवेश पर प्रतिबंध लगा रहा। इसके फलस्वरूप अकुशल सार्वजनिक क्षेत्र का जन्म हुआ, जिसमें प्रति वर्ष हानि होती गई। अत्यधिक नौकरशाही तथा लाइसेंस और नियंत्रण की प्रणाली के फलस्वरूप विदेशीय निवेश का भी उत्साह भंग हो गया।

नई आर्थिक नीति (NEP), में चार प्रकार के परिवर्तनों पर जोर दिया गया: (i) उदारीकरण, (ii) सार्वजनिक क्षेत्र में सुधार, (iii) निजीकरण, तथा (iv) विश्वव्यापीकरण।

उदारीकरण ने निजी क्षेत्र को अपनी क्षमता बढ़ाने में, नये क्षेत्रों में प्रवेश करने में तथा नई वस्तुओं के उत्पादन में सहायता की है। सार्वजनिक क्षेत्र में छंटनी तथा स्वैच्छिक निवृत्ति की नीति द्वारा इस क्षेत्र में सुधार लाकर इसमें श्रमिकों के अति भार को कम किया जा सका है। बहुत समय से बीमार चल रही सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों (PSUs) को बन्द कर दिया गया। कुछ स्थितियों में उन्हें पुन: जीवित करने के उपाय किए गए। इन सबके फलस्वरूप PSUs के कार्य-निष्पादन में सुधार हुआ तथा वर्ष 1995-96 में कुल निवेशित पूंजी पर 16% की दर से आय में सकल वृद्धि हुई जो वृद्धि का रिकार्ड थी। बजट घाटे को पूरा करने के लिए सरकार ने सबसे अधिक स्वस्थ PSUs का विनिवेश भी किया।

मजदूर संघों एवं वामपक्षी राजनैतिक दलों की ओर से कडे विरोध के कारण निजीकरण के कार्यक्रम के ठोस परिणाम नहीं हो पाए हैं। नौकरशाही भी अप्रत्यक्ष रूप से निजीकरण का विरोध करती रही है। एक-एक करके PSUs का निजीकरण तो नहीं हो रहा है, लेकिन व्यापक रूप में अर्थव्यवस्था के निजीकरण की चल रही प्रक्रिया के फलस्वरूप निजी क्षेत्रक को निवेश करने के संबंध में प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है।

NEP अपना ध्यान अल्पकालिक लक्ष्यों को प्राप्त करने पर केन्द्रित करती रही है, जैसे कि भुगतान संतुलन की स्थिति में सुधार लाना, विदेशी मुद्रा रिजर्व बनाना, मुद्रास्फीति का नियंत्रण एवं राजकोषीय घाटे को कम करना। बेरोजगारी और गरीबी को घटाने तथा सामाजिक और आर्थिक न्याय की व्यवस्था करने संबंधी दीर्घकालिक लक्ष्यों की उपेक्षा कर दी गई है।

भारतीय उद्योगों के लिए संरक्षणात्मक उपायों की व्यवस्था करके चयनात्मक विश्वव्यापीकरण करने की आवश्यकता है जिससे संयुक्त क्षेत्रक में प्रवेश के बाद विदेशी फर्में भारतीय फर्मों को निगल न पाएं।

16.7 शब्दावली

घाटा निजीकरण (Deficit Privatisation): बजट घाटे को पूरा करने के लिए सरकार जब 5% से 10% तक अपने शेयरों का विनिवेश करती है तब उसे घाटा निजीकरण कहा जाता है।

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Foreign Direct Investment): निवेश का वह रूप जो वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन को बढ़ाने में सहायक होता है और इस प्रकार वह अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को भी बढ़ाता है।

विश्वव्यापीकरण (Globalisation): इससे आशय अर्थव्यवस्था को शेष विश्व के लिए खोलने से होता है जिससे वस्तुओं, सेवाओं, प्रौद्योगिकी और निवेश का मुक्त रूप से प्रवाह हो सके।

उदारीकरण (Liberalisation): इससे आशय है निजी क्षेत्र की स्वतंत्रता पर लगाए गए अनावश्यक प्रतिबंधों को हटाने की प्रक्रिया। इस प्रक्रिया के अंतर्गत आता है। अनावश्यक लाइसेंस, नियंत्रणों एवं विनियमों को हटाना जो नौकरशाही और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करते हैं।

एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) आयोग : वह आयोग जिसकी स्थापना का उद्देश्य है नए विनवेशों के लिए आवेदनपत्रों की जांच करना तथा उन व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के आवेदन पत्रों को नामंजूर करना है जिनकी परिस्थिति MRTP अधिनियम (1970) द्वारा एवं समय-समय पर इस अधिनियम में किए गए संशोधनों द्वारा निर्धारित सीमा से अधिक हैं।

राष्ट्रीय रिन्यूअल फंड (National Renewal Fund): इससे आशय उस कोष से है जिसका निर्माण सरकार ने स्वैच्छिक निवृत्ति लेने वाले कर्मचारियों या निजीकरण के फलस्वरूप बेरोजगार हो जाने कर्मचारियों की प्रतिपूर्ति के लिए किया है।

पोर्ट फोलियो निवेश (Portfolio Investment): विदेशी राष्ट्रिकों या विदेशी कंपनियों द्वारा ईक्विटी. स्टाकों, बांडों और डिबेंचरों के रूप में भारत में किया गया वित्तीय निवेश।

निजीकरण (Privatisation): वह प्रक्रिया जिसके द्वारा किसी सार्वजनिक क्षेत्रक की इकाई के स्वामित्व का हस्तांतरण निजी क्षेत्र हो जाता है।

प्रतीकात्मक निजीकरण (Token Privatisation): जब साधनों को जुटाने के लिए सरकार अपने शेयरों की अत्यंत कम भाग (5% से 10% तक) को बेचती है तब इस प्रक्रिया को प्रतीकात्मक निजीकरण कहा जाता है।

श्वेत वस्तुएं (White Goods): घरों में उपयोग में आने वाली कीमती उपकरण, जैसे रेफ्रिजरेटर, वाशिंग मशीन, एयर कंडिशनर, माइक्रो वेव ओवेन, मोटर गाड़ी आदि।

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

ख 4 i) सामरिक ii) बीमार iii) स्वामित्व iv) एकीकरण

v) मुक्त व्यापर प्रवाह, मुक्त पूंजी प्रवाह, मुक्त प्रौद्योगिकी प्रवाह

ग 3 i) सही ii) सही iii) गलत iv) सही v) गलत

16.9 स्व-परख प्रश्न

1) प्रथम तीन दशकों में अपनाई गई नीतियों के फलस्वरूप भारत के आर्थिक विकास के लिए जो कारण बाधक सिद्ध हुए उनका विवेचन कीजिए।

2) नई आर्थिक नीति (NEP) के प्रमुख तत्व क्या है? NEP के प्रत्येक प्रमुख तत्व के संबंध में किए गए उपायों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।

3) निजीकरण की संकुचित और व्यापक संकल्पनाओं का विवेचन कीजिए। भारत में निजीकरण के जिन विभिन्न रूपों के संबंध में प्रयास किया गया है उनका विवेचन कीजिए। उनके क्या कोई ठोस परिणाम हुए हैं।

4) विश्वव्यापी के विभिन्न घटकों के संबंध में चर्चा कीजिए।

5) निजीकरण, उदारीकरण और विश्वव्यापीकरण के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था ने क्या उपलब्धियां की हैं। पिछले छः वर्षों (1991-97) के अनुभवों से हम क्या सबक सीख सकते हैं?

6) विकास के अल्पकालिक और दीर्घकालिक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए नई आर्थिक नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

नोट :ये प्रश्न आपको इस इकाई को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायक होंगे। इनके उत्तर लिखने का प्रयत्न कीजिए। किन्तु अपने उत्तर विश्वविद्यालय को न भेजें। ये केवल आपके अभ्यास के लिए है।